महर्षि-पाणिनि-विरचितम्

शिक्षा - शास्त्रम्

शिक्षातत्त्वालोकभाष्योपेतम्

उदयनाचार्यः
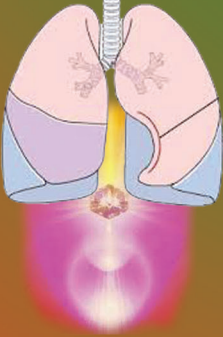
श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित

आकाशदेशः शब्दः (म॰भा॰ अइउण्)

महर्षि-पाणिनि-विरचितम् शिक्षा - शास्त्रम् शिक्षातत्त्वालोकभाष्योपेतम्

महर्षि–पाणिनि–विरचितम्

शिक्षा–शास्त्रम्

शिक्षातत्त्वालोकभाष्योपेतम्

संस्कृत–हिन्दी–भाष्यकारः

उदयनाचार्यः

संस्थापक एवं अध्यक्ष :
निगम–नीडम् (वेदगुरुकुलम्)
पिडिचेड, गज्वेल, मेदक (तेलंगाणा)
पिन : ५०२ २७८,
दूरभाष : ०९४४०७–२१९५८

प्रकाशक

रामलाल कपूर ट्रस्ट

रेवली, पो०- ई० सी० मुरथल
जिला—सोनीपत (हरियाणा) पिन—१३१०३९

प्रकाशक : **रामलाल कपूर ट्रस्ट**
रेवली, डाक०-ई०सी० मुरथल
जिला—सोनीपत (हरियाणा) १३१ ०३९
दूरभाष : ०१३०-३२९०२७६, २१००२८५

संस्करण : द्वितीय, २०७२ विक्रमी संवत्, २०१६ ई०

मूल्य : २५०.०० रुपये

प्राप्ति-स्थान :
१. **रामलाल कपूर ट्रस्ट**
रेवली, डाक०-ई० सी० मुरथल,
जिला—सोनीपत (हरियाणा) १३१ ०३९
२. **निगम-नीडम् (वेदगुरुकुलम्),**
पिडिचेड, गज्वेल,
मेदक (तेलंगाणा) पिन—५०२ २७८
दूरभाष : ०९४४०७-२१९५८

शब्द-संयोजक : **स्वस्ति कम्प्यूटर्स,** करनाल (हरियाणा)
दूरभाष : ०९२५५९-१२३१४

मुद्रक : **राधा प्रेस,** कैलाश नगर, दिल्ली-३१

कृतज्ञता-ज्ञापन

सब से प्रथम परमपिता परमात्मा को सश्रद्ध प्रणाम करता हूँ, जिनकी असीम कृपा प्रतिक्षण प्राप्त हो रही है। जिन्होंने मुझे यह जन्म प्रदान कर पालन-पोषण के साथ १२वीं कक्षा तक पढ़ाया और नैतिक, धार्मिक शिक्षा दी एवं मुझे अपने विचार के अनुकूल चलने के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता दी है, उन पूज्य माता-पिता को भी प्रणाम करता हूँ। जिनके अमरग्रन्थ के स्वाध्याय से तथा जीवनी से वेद और वैदिक धर्म की रक्षा करने का दृढ़ संकल्प उत्पन्न हुआ, उन महर्षि देव दयानन्द को भी नम्रता के साथ नमन करता हूँ। जिन्होंने मुझे वेद एवं वैदिक वाङ्मय को पढ़ने की प्रेरणा दी है, उन आचार्य श्री वेदव्रत मीमांसक जी को भी सविनय वन्दना करता हूँ। जिनकी अनुकम्पा से व्याकरणरूपी निर्गम भीषण वन में प्रवेश मिला उन आचार्य श्री स्वदेश जी (मथुरा) एवं आचार्य श्री वेदपाल सुनीथ जी (तिलोरा, अजमेर) को विनम्र प्रणतियाँ समर्पित करता हूँ। जिनके आदर्शमय जीवन तथा प्रेमपूर्ण आशीर्वचनों से आज मैं अग्रसर हो रहा हूँ, अत्यन्त रुग्ण अवस्था में भी अपनी सम्पूर्ण ज्ञानधारा को मुझ में प्रवाहित किया, जिनसे केवल सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का ज्ञान ही प्राप्त नहीं हुआ, अपितु शास्त्रों की जटिलताओं को सुलझाने की कुञ्जियाँ भी प्राप्त हुई हैं, उन पूज्य गुरुवर आचार्य श्री विजयपाल विद्यावारिधि जी को हृदयपूर्वक प्रणाम करना एवं कृतज्ञता को ज्ञापित करना मैं अपना परम कर्तव्य समझता हूँ।

पूज्य श्री स्वामी विवेकानन्द सरस्वती जी एवं समादरणीय श्री आचार्य प्रद्युम्न जी आदि को कृतज्ञता पूर्वक सादर अभिवन्दनायें समर्पित करता हूँ, जिन्होंने इस ग्रन्थ के पाण्डुलिपि प्रतियों को पढ़कर अपनी सम्मति तथा शुभ-कामनायें प्रेषित की हैं। पूज्य गुरुवर ने इस ग्रन्थ को 'रामलाल कपूर ट्रस्ट' की ओर से प्रकाशित करने का निर्णय लेकर इसके मुद्रण का सम्पूर्ण कार्यभार अपने ऊपर लिया, एतदर्थ श्रद्धेय गुरुवर को और ट्रस्ट के सभी अधिकारियों एवं सहयोगियों को भूरिशः धन्यवाद, साधुवाद ज्ञापित करता हूँ।

विनीत

उदयनाचार्य

शुभाशंसनम्

आचार्य यास्क ने वैदिक वाङ्मय के प्रवृत्ति-क्रम का निर्देश करते हुए कहा है—आरम्भ में पदार्थों के धर्मों का साक्षात्कार करनेवाले ऋषि हुए। उन्होंने अवर काल में उत्पन्न होनेवाले ऋषियों को उपदेश द्वारा मन्त्रों का सम्प्रदान किया। उसके पश्चात् उपदेश मात्र से न समझने के कारण कालान्तर में ऋषियों ने विभागपूर्वक वेद-वेदाङ्गों का प्रणयन किया (निरुक्त १.४)। वेदाङ्गों में सबसे पहला और महत्त्वपूर्ण वेदाङ्ग है—शिक्षा। इसका उल्लेख मुण्डकोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद् तथा गोपथब्राह्मण आदि ग्रन्थों में हुआ है। प्राचीन काल में वेदाङ्ग शिक्षा के स्वरूप का अनुमान वर्त्तमान में उपलब्ध आपिशली शिक्षा और काशिका-न्यास-पदमञ्जरी आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होनेवाले शिक्षा-विषयक सूत्रों से होता है। आरम्भ में सम्भवतः प्रातिशाख्यों में ही 'शिक्षा' का अन्तर्भाव रहता था। अर्वाचीन काल में जब पाणिनीय व्याकरण ही '**सर्ववेदपारिषद**' (महाभाष्य २.१.५८) माना जाने लगा, स्यात् उसी काल में कहा गया था—'**व्याकरणं नामेयमुत्तरा विद्या, सोऽसौ छन्दःशास्त्रेष्वभिविनीत उपलब्ध्याधिगन्तुमुत्सहते**' (महाभाष्य १.२.३२)। छन्दःशास्त्र का अर्थ है—प्रातिशाख्य अर्थात् वर्णोच्चारण आदि का उपदेशक शास्त्र।

वर्त्तमान काल में दो प्रकार के शिक्षा ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—प्रथम, सूत्रात्मक—जैसे आपिशली शिक्षा, पाणिनीय शिक्षा; दूसरे, श्लोकात्मक—जैसे याज्ञवल्क्य शिक्षा, पाणिनीय '**अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि**' शिक्षा। विद्वानों के सूक्ष्म विवेचन से स्पष्ट होता है कि जिन शिक्षा-ग्रन्थों की रचना मुख्यतः सूत्रात्मक है, एके-अन्ये आदि शब्दों द्वारा परमत उद्धृत किये जाते हैं तथा 'भवन्ति चात्र' कहकर श्लोकों का संग्रह भी होता है, वे प्राचीन हैं। जो शिक्षा ग्रन्थ प्रधानतः श्लोकात्मक हैं, स्वरादि विशिष्ट विषय का भी प्रतिपादन करते हैं, वे अर्वाचीन हैं। इस कसौटी पर परखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा प्राचीन है और श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा अर्वाचीन है। परन्तु यह भी तथ्य है कि पिछली कई शताब्दियों से वेदाङ्ग शिक्षा के रूप में श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा ही प्रचलित रही है, वैदिक ब्राह्मणों में इसकी परम्परा लुप्त हो चुकी थी। इस के उद्धार का श्रेय स्वामी

दयानन्द सरस्वती को है। उन्होंने एकमात्र जीर्ण प्रति के आधार पर मूल सूत्रों को अपने व्याख्यान सहित वेदाङ्ग के प्रथम भाग के रूप में प्रकाशित किया। अब प्रश्न यह है कि दोनों—श्लोकात्मक एवं सूत्रात्मक शिक्षा ग्रन्थों में से पाणिनीय कृति कौन सी है ? महामहोपाध्याय पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने गहन अनुशीलन के पश्चात् निष्कर्ष निकाला था कि सूत्रात्मक शिक्षा ही पाणिनीय कृति है, श्लोकात्मक शिक्षा नहीं। प्रस्तुत ग्रन्थ के परिशिष्ट-५ में श्रद्धेय श्री मीमांसक जी का निष्कर्ष अविकल रूप से प्रकाशित किया जा रहा है।

प्रात:स्मरणीय श्री मीमांसक जी अपने विस्तृत सूक्ष्म अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि शास्त्रीय वाङ्मय के प्राय: दो पाठ प्रचलित होते हैं—लघु पाठ एवं वृद्ध पाठ। अमूल्य चरण विद्याभूषण ने ईस्वी सन् १९३९ में एक शिक्षा ग्रन्थ प्रकाशित किया था जिसका नाम उन्होंने 'आपिशल शिक्षा' दिया था। वह ग्रन्थ अत्यन्त भ्रष्ट था। ई० सन् १९५३ में 'आपिशल शिक्षा' के सूत्रों की तुलना स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित पाणिनीय शिक्षा के सूत्रों के साथ करने पर यह तथ्य श्रद्धेय मीमांसक जी के मस्तिष्क में उभरा कि दयानन्द सरस्वती प्रकाशित शिक्षा सूत्रों का ही वृद्ध पाठ तथाकथित 'आपिशल शिक्षा' है। उसके पश्चात् श्रद्धेय मीमांसकजी ने डॉ० रघुवीर सम्पादित 'आपिशली शिक्षा', स्वामी दयानन्द सम्पादित पाणिनीय शिक्षा का लघु पाठ और प्राचीन ग्रन्थों में उद्धृत पाणिनीय शिक्षा के सूत्रों के तुलनात्मक विवेचन द्वारा निश्चित किये गये वृद्ध पाठ का सम्पादन करके 'शिक्षा-सूत्राणि' नाम से प्रकाशित किया। पाणिनीय शिक्षा के वृद्ध पाठ की कोई व्याख्या अभी तक उपलब्ध नहीं है। आर्ष पाठविधि से अध्ययन-अध्यापन करनेवाले छात्रों-अध्यापकों को किसी उत्तम व्याख्या की महती आवश्यकता प्रतीत हो रही थी। अत: हमारे पूर्व अन्तेवासी ब्र० उदयनाचार्य ने इस गुरुतर भार को उठाने का निश्चय किया। मैंने इस व्याख्या को आद्योपान्त पढ़ा है। इस व्याख्या की जो विशेषताएँ मुझे दिखाई दी हैं; वे संक्षेपत: निम्न लिखी जाती हैं—

१. आरम्भ में विद्वत्तापूर्ण विस्तृत 'शिक्षा-भाष्य-भूमिका' है जिस में शिक्षा शास्त्र का महत्त्व-परिचय आदि, पारिभाषिक शब्द, शुद्धोच्चारण तथा शब्दोत्पत्ति-रहस्य आदि विषयों का विशद विवेचन है। शब्दोच्चारण विषयक प्राचीन और आधुनिक दोनों मतों का विश्लेषणपूर्वक

हस्तामलक प्रतिपादन किया गया है। ऐसा गम्भीर विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है।

२. स्थानादि प्रकरणों के सूत्र संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में व्याख्यात हैं। परन्तु 'विशेष' हिन्दी में ही लिखा गया है जिस में तत्तद्विषय से सम्बद्ध विशिष्ट गम्भीर जानकारी दी गई है।

३. प्रस्तुत शिक्षा-भाष्य के विषय में निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है—'**नाप्रमाणं लिख्यते किञ्चित्**'। सभी पदार्थों का सप्रमाण निरूपण किया गया है।

४. पादटिप्पणियों द्वारा प्रतिभात्मक प्रामाणिक स्पष्टीकरण किया गया है।

५. सरलता से विषय के यथार्थ बोध के लिए रेखाचित्रों का उपयोग सर्वथा उपयुक्त है।

६. अन्त में उपयोगी परिशिष्टों के रूप में—(१) यम विवेचन आदि, (२) श्रद्धेय युधिष्ठिर मीमांसक कृत 'वेदाङ्ग परिचय', 'शिक्षा परिचय', 'मूल पाणिनीय शिक्षा', 'यम स्वरूप' 'ँ ꣳ स्वरूप', 'यकार-षकार विवेचन' और (३) पारिभाषिक शब्द-सूची आदि का संग्रह ग्रन्थ की उपादेयता में चार चाँद लगाता है।

यद्यपि लेखक की यह प्रथम कृति है, तथापि विषय के गाम्भीर्य, सामयिकत्व, निरूपण की स्पष्टता और पदार्थों की सूक्ष्मेक्षिका से भावी विकास के आयामों का आभास सहज हो रहा है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि भविष्य में लेखक की लेखनी से शास्त्रों के गम्भीर तत्त्व और भी सरल सहज बोधगम्य रूप में निर्झरित होते रहेंगे। मेरे हार्दिक आशीर्भाव सदा लेखक को सत्प्रेरणा देते रहें, यही प्रभु से प्रार्थना है।
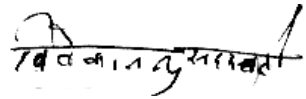
शुभाशंसक
विजयपाल विद्यावारिधि

पाणिनि महाविद्यालय
रेवली, सोनीपत (हरियाणा)
९ जून, सन् २००५ ई०

सम्मति (१)

उदीयमान विद्वान् श्री उदयनाचार्य जी द्वारा लिखित 'शिक्षा शास्त्र' का 'शिक्षातत्त्वालोक भाष्य' की पाण्डुलिपि देखने को मिली। पढ़कर प्रसन्नता हुई। अतिलघुकलेवरयुक्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ शिक्षा का विशद विवेचन विद्वान् लेखक के दीर्घ अध्यवसाय एवं अध्ययन का परिचय प्रदान करता है। **वास्तव में शिक्षा को आचार्यों ने वेदाङ्ग क्यों स्वीकार किया है? और वह भी प्रथम। इसका ज्ञान एवं समाधान इस शिक्षातत्त्वालोक भाष्य के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है।** शिक्षा सम्बन्धी प्राय: सभी वर्ण्य विषयों का प्रमाण-पुरस्सर विवेचन इसकी अपनी विशेषता है। **मेरी दृष्टि में यह भाष्य विद्वानों एवं विद्यार्थियों के लिए समान रूप से उपयोगी सिद्ध होगा। किन्हीं विशेष स्थलों के विशद पर्यालोचन से तो यह भी प्रकट होता है कि छात्रों की अपेक्षा अध्यापकों एवं शोधार्थी विद्वानों के लिए यह अधिक उपयोगी है।** यद्यपि लेखक द्वारा दोनों को ही दृष्टि में रखते हुए प्रयास किया गया है। शिक्षातत्त्वालोक के इस आलोक में सभी सम्बन्धित विषय आलोकित हैं। और साथ ही आलोकित है शिक्षा शास्त्र का महत्त्व। सभी स्वाध्यायशील विद्वान् इसका स्वागत करेंगे। ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है। युवक विद्वान् श्री उदयनाचार्य जी को इस भूरि परिश्रम साध्य कृति के लेखन के लिए बहुश: साधुवाद एवं धन्यवाद। परिशिष्ट में प्रश्नावली के संयोजन से यह छात्रों के लिए अधिक बोधगम्य एवं उपयोगी हो गया है। शेष दयामय प्रभु की अपार दया।

भवदीय

विवेकानन्द सरस्वती

स्वामी विवेकानन्द सरस्वती
कुलपति
गुरुकुल प्रभात आश्रम
भोला झाल, मेरठ-२५० ५०१
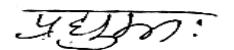
सम्मति (२)

अपने प्रिय अनुज उदयनाचार्य जी की अभिनवकृति महर्षि पाणिनि-विरचितम्, शिक्षाशास्त्रम् को देखकर अत्यन्त आह्लाद का अनुभव हो रहा है। **इसे देखने से ऐसा लगता है मानो शिक्षाविषयक एक आकरग्रन्थ ही बन गया है।** विद्वान् लेखक ने स्थान-स्थान पर अपने कथ्य को स्पष्ट करने के लिए युक्ति व प्रमाणों का खुलकर प्रयोग किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही लेखक ने विभिन्न शिक्षाशास्त्रों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का व्युत्पत्ति व प्रमाणपुर:सर व्याख्यान कर दिया है, जिससे अध्येताओं को उन-उन विशिष्ट शब्दों के सङ्केतार्थ को ग्रहण करने में कोई कठिनाई न हो। जैसे कि उदात्त, अनुदात्त, स्वरित इन अज्धर्मों के प्रसङ्ग में स्वरित व उसके भेद-प्रभेदों को जानने के लिए इससे सम्बन्धित सूचनाएँ एक ही जगह प्राप्त की जा सकती हैं। पारिभाषिक शब्दों के आंग्लभाषा के समानशब्दों को भी उद्धृत कर दिया गया है, जिससे उन प्राचीन शब्दों के अर्थों को आधुनिक भाषा विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में भी समझा जा सके। शब्दोत्पत्तिरहस्यनामक अध्याय में तो एक वैज्ञानिक की भाँति अपनी खोज में संलग्न लेखक सूक्ष्म छान-बीन करता हुआ प्रतीत हो रहा है। बड़े ही प्रयत्न से संगृहीत विविध चित्रों के संयोजन ने प्रकृतविषय को समझने में बहुत बड़ी भूमिका प्रस्तुत की है। अन्त:प्रयत्न व बाह्यप्रयत्नविषयक सूक्ष्म विवेचन के द्वारा अध्येतृगण का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया है कि कौन-सा प्रयत्न वर्णोच्चारण के पहले होता है और कौन-सा पश्चात्। स्थानप्रकरण में ऋकार को लेकर 'विशेष' नाम से जो टिप्पणी दी है वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण बन गयी है। सृक्किणी, जिह्वामूलीय इत्यादि सांशयिक पदों का स्पष्ट रूप से व्याख्यान कर दिया गया है। अन्त में शिक्षाशास्त्र विषयक सबसे अधिक संदिग्ध यमविषयक चर्चा को उठाकर अधिकारी विद्वान् ने प्रकृत विषय में अपने गहन पुरुषार्थ का परिचय दिया है। यमों के वास्तविक स्वरूप को प्रस्तुत करने में लेखक ने अपनी गम्भीर युक्तियाँ व शास्त्रीय प्रमाण देते हुए सच्चे अन्वेषक की भूमिका निभायी है। **आधुनिक शोध प्रबन्ध की शैली में लिखा गया यह ग्रन्थ विद्यार्थी व अध्यापक दोनों के लिए ही उपयोगी सिद्ध होगा—** ऐसी पूर्ण आशा है। लेखकस्य सर्वतो मङ्गलं कामयमानोऽयं जन: शुभाशीर्वचोभिर्वर्धापयन् विरमति।

विदुषां वशंवद:

प्रद्युम्न:

आचार्य, आर्ष गुरुकुल खानपुर, नारनौल (हरि०)

सम्मति (३)

वर्णोच्चारणशिक्षा ध्वनि-विज्ञान (Phonetics) का एक अत्यन्त महत्त्व पूर्ण ग्रन्थ है। प्राचीन काल से इस शास्त्र के वेदाङ्ग के रूप में विकास के संकेत प्राप्त होते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों आदि में इससे सम्बन्धित प्रभूत विवरणों से यह अनुमान अनायास प्राप्त है कि उस समय इस विषयक अनेक ग्रन्थ रहे होंगे। वर्तमान में उन सभी ग्रन्थों के समाहार के रूप में यह महनीय ग्रन्थ हमें प्राप्त है।

इस लघु-कलेवर वाले ग्रन्थ में शिक्षा शास्त्र के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक तथ्य सम्मिलित हैं। **यह तथ्य किसे विस्फारितनयन करने के लिए पर्याप्त नहीं कि इससे अनुप्रेरित होकर निर्मित वर्णमाला विश्व की सबसे वैज्ञानिक वर्णमाला है।** इसके प्रत्येक अक्षर की क्रमिकता तथा वर्गीकरण सुनिश्चित आधार पर अवलम्बित है। इस ग्रन्थ में वर्णों की उच्चारण पद्धति, उनके वर्गीकरण के आधार आदि विषयों पर वैज्ञानिक नियम सुस्थापित किये गए हैं।

इतने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पर अभी तक कोई विस्तृत भाष्य उपलब्ध नहीं था। अतः इसके गूढ रहस्यों को समझने में अत्यन्त कठिनाई होती थी। यह परम प्रसन्नता का विषय है कि श्री उदयनाचार्य जी ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक तत्त्वालोक-भाष्य के अन्तर्गत इसके रहस्यों को उद्भासित करने का प्रयास किया है।

इस भाष्य की अनेक विशेषताएँ हैं। इसमें सूत्रार्थ वर्णन के साथ-साथ इसके पारिभाषिक शब्दों की एक निश्चित पहचान बताई है तथा आधुनिक ध्वनि-विज्ञान से भी तुलना की है। इससे यह जानने में सहायता मिलती है कि प्राचीन शास्त्रीय वचन आधुनिक ध्वनि-विज्ञान की प्रक्रिया से किस प्रकार सुसंगत हैं।

इस भाष्य में अपनी ओर से कोई अप्रामाणिक बात नहीं कही गई है। अपितु प्रत्येक के लिए आकर-ग्रन्थों से या आधुनिक ग्रन्थों से प्रमाण उपस्थित किये गये हैं।

मुझे विश्वास है कि इसके प्रकाशन से छात्रों तथा विद्वानों में भी इस ग्रन्थ के प्रति रुचि बढ़ेगी। इस ग्रन्थ पर परिश्रमपूर्वक भाष्य लिखने के लिए मैं श्री उदयनाचार्य जी को पुनः हार्दिक साधुवाद प्रदान करता हूँ तथा आशा करता हूँ कि संस्कृत समाज में इसका भरपूर सम्मान होगा।

डॉ. सुद्युम्न आचार्य

डॉ० सुद्युम्न आचार्य
स्नातकोत्तर संस्कृत अध्ययन एवं शोध विभाग
मु०म० टाउन पी०जी० कालेज, बलिया (उ०प्र०) २७७ ००१

सम्मति (४)

पाणिनीय शिक्षा वैदिक वाङ्मय में प्रवेश हेतु आदि एवं लघुकाय ग्रन्थ है। इसका प्रयोजन शुद्ध उच्चारण तथा व्याकरण की प्रक्रिया में सहाय है, इस सबका आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व है यथा—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

यह ग्रन्थ आरम्भिक छात्रों के लिए मात्र उच्चारण, स्थान, करण, प्रयत्न आदि बोधविषयक होने से जितना सरल प्रतीत होता है उतना कठिन अध्यापकों तथा शोधछात्रों के लिए अपने दुरूह तथा गम्भीर विषयों के कारण है। शिक्षा शास्त्र की इस गम्भीरता को स्पष्ट तथा विस्तृतरूप से खोलकर प्रस्तुत करने की सुदीर्घ काल से अपेक्षा थी, जिसे पाणिनि महाविद्यालय रेवली के सुयोग्य स्नातक, द्विजतया (विद्याक्षेत्र में जन्म के हेतु से) हमारे अग्रज तथा 'निगम-नीडम्' के संस्थापक 'श्री उदयनाचार्य' ने बृहत् परिश्रम तथा योग्यता से पाणिनीय शिक्षाशास्त्र पर 'शिक्षातत्त्वालोक भाष्य' गुम्फित कर पूर्ण किया है।

अल्प बुद्धि होने के कारण साक्षात् नए छात्रों के लिए यह ग्रन्थ प्रायः अनुपयोगी होते हुए भी **यह ग्रन्थ अध्यापकों तथा शोध छात्रों की प्रायः समस्त अपेक्षाओं को पूर्ण करने में निश्चितरूपेण समर्थ तथा अनेक प्रकार से उपयोगी है।** संक्षेप से 'शिक्षातत्त्वालोक भाष्य' की निम्न विशेषताएँ गिनाई जा सकती हैं :

१. अनेक सामान्य तथा रंगीन चित्रों के सहाय से उच्चारण विषय को स्पष्ट करना।
२. प्रायः सत्तर से अधिक ग्रन्थों के उद्धरण, निर्वचन तथा प्रमाणों से स्वभाष्य की परिपुष्टि।
३. संवार तथा संवृत जैसे समान से अर्थ की प्रतीति कराने वाले शब्दों के भेद सुस्पष्ट करना।
४. उच्चारण स्पष्ट करने हेतु भाषान्तर तथा ऐतिहासिक तथ्यों का प्रयोग।
५. पारिभाषिक शब्दों के निर्वचन, ग्रन्थान्तरों द्वारा पुष्टि तथा भाषान्तर के समानान्तर शब्दों का संग्रह।
६. संक्षेपविवरण, बृहद् विषय सूचनी तथा विशेषद्रष्टव्यस्थल सूचनी संयोजन।
७. अनेक प्रस्तारों द्वारा वर्णों का वर्गीकरण। आदि

वेदव्रतः

आचार्य वेदव्रत
अध्यक्ष, श्रुति विज्ञान आचार्यकुलम्,
छपरा, शाहबाद मारकण्डा, कुरुक्षेत्र-१३६ १३५(हरियाणा)

संक्षेप–विवरण

संक्षेप	विवरण
अथर्व०	अथर्ववेद
अ० प्रा०	अथर्व–प्रातिशाख्य
अमर०	अमरकोष
अ०न०शि०	अमोघानन्दिनी शिक्षा
अ०मां०शि०	अथर्ववेदीया माण्डूकी शिक्षा
अ०शा०	अभिज्ञान शाकुन्तल
अष्टा०	अष्टाध्यायी
अ०सं०	अहिर्बुध्न्य–संहिता
अ०हृ०सू०	अष्टांग हृदय सूत्र
उद्योग०	उद्योगपर्व
ऋ०	ऋग्वेद
ऋ०त०	ऋक्तन्त्र
ऋ०प्रा०	ऋक्प्रातिशाख्य
ऐ०आ०	ऐतरेय–आरण्यक
ऐ०ब्रा०	ऐतरेय–ब्राह्मण
औ०स्मृ०	औशनस–स्मृति
कां०सं०	काण्व–संहिता
का०	काव्यादर्श
काठ०	काठक संहिता
का० वा०	कात्यायन–वार्त्तिक
किष्किन्धा०	किष्किन्धाकाण्ड
कुमा०	कुमारसम्भव
के० उ०	केनोपनिषत्
के०शि०	केशवशिक्षा
कौ०शि०	कौण्डिन्यायनशिक्षा
कौ०ब्रा०	कौशीतकि ब्राह्मण
गो०ब्रा०	गोपथब्राह्मण
गौ०शि०	गौतमशिक्षा
च०अ०	चतुरध्यायिका
च०चि०	चरक चिकित्सास्थान
चा० शि०	चारायणीयशिक्षा
चु०	चुरादिगण
छा० उ०	छान्दोग्य–उपनिषत्
जै० उ० ब्रा०	जैमिनि उपनिषद् ब्राह्मण
जै० ब्रा०	जैमिनि ब्राह्मण
टि०	टिप्पणी
त०भा०	तर्कभाषा
तु०	तुलना
तुदा०	तुदादिगण
तै० उ०	तैत्तिरीय–उपनिषद्
तै० प्रा०	तैत्तिरीय–प्रातिशाख्य
तै० सं०	तैत्तिरीय–संहिता
त्रि० र०	त्रिभाष्यरत्न
द० उ०	दशपादी–उणादिकोष
दि०	दिवादिगण
द्र०	द्रष्टव्य
धातु०	धातुपाठ
ना० शि०	नारदीयशिक्षा
निदान०	निदानस्थान
निरु०	निरुक्त
न्याय०	न्यायदर्शन
पद०	पदमञ्जरी
पं० उ०	पञ्चपादी उणादिकोष

संक्षेप	विवरण
पस्प०	पस्पशाह्निक
पारा० शि०	पाराशरशिक्षा
पा० श०	पारिभाषिक शब्द
पा० शि०	पाणिनीयशिक्षा
पा० शि० श्लोक०	पाणिनीयशिक्षा–श्लोकात्मिका
पू० मी०	पूर्वमीमांसा
पृ०	पृष्ठ
प्र०भा०	प्रशस्तपादभाष्यम्
प्र० श०	प्रत्यक्षशरीरम्
ब्रह्म०	ब्रह्मकाण्ड
बा०म०	बालमनोरमा
बाल०	बालकाण्ड
भर्तृ०	भर्तृहरिशतकम्
भ्वा०	भ्वादिगण
मनु०	मनुस्मृति
म० भा०	महाभारत
म०भा०	महाभाष्य
म०म०	महामहोपाध्याय
मा० धा०	माधवीया धातुवृत्ति
मी०शा०	मीमांसा–शाबरभाष्य
मु० उ०	मुण्डक–उपनिषत्
मै० उ०	मैत्रायणी–उपनिषत्
मै०सं०	मैत्रायणीसंहिता
यजु०	यजुर्वेद
या० शि०	याज्ञवल्क्य–शिक्षा
यु० मी०	युधिष्ठिर–मीमांसक
रामा०	रामायण
रघु०	रघुवंश
रु०	रुधादिगण
ल०मा०शि०	लघुमाध्यन्दिनीशिक्षा
ल०व्या०स्मृ०	लघु–व्यास–स्मृति
लो०शि०	लोमशीशिक्षा
व०र०प्र०शि०	वर्णरत्नप्रदीपशिक्षा
व०शि०/व०शिक्षा	वर्णोच्चारणशिक्षा
वा०	वार्त्तिक
वा०प०	वाक्यपदीय
वा०प्रा०	वाजसनेय–प्रातिशाख्य
वि०प्र०प्र०	विसर्गाङ्गुलि–प्रदर्शन–प्रकरण
वि०सं०	विक्रम–संवत्
वे० सा०	वेदान्तसार
वै०आ०	वैदिकाभरण
वै०भू०सा०	वैयाकरणभूषणसार
वैशे०	वैशेषिकदर्शन
व्या०शि०	व्यासशिक्षा
श०कौ०	शब्दकौस्तुभ
शत०/श०ब्रा०	शतपथ–ब्राह्मण
शां०आ०	शांखायन आरण्यक
शान्ति०	शान्तिपर्व
शि०प्र०	शिक्षाप्रकाश
शि०भू०	शिक्षा–भूमिका
शै० शि०	शैशिरीय–शिक्षा
श्लो०पा०शि०	श्लोकात्मक पाणिनीय–शिक्षा
षो०शि०	षोडशश्लोकीशिक्षा
सं०	संख्या
सं०उ०ब्रा०	संहितोपनिषद्ब्राह्मण
सा०गौ०शि०	सामवेदीया गौतमीशिक्षा
सां०का०	सांख्य–कारिका
सि० कौ०	सिद्धान्त–कौमुदी
सि०च०	सिद्धान्त–चन्द्रिका
सु०	सुश्रुत्

विषयसूचनी

प्रस्तारसूचनी

चित्रसूचनी

अवधेयसूत्रार्थसूचनी

विशेषद्रष्टव्यस्थलसूचनी

अथ पाणिनीयं

शिक्षा-शास्त्रम्

[वृद्धपाठः]

शिक्षा-भूमिका

१. आकाशवायुप्रभवः शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः॥
२. तमक्षरं ब्रह्म परं पवित्रं गुहाशयं सम्यगुशन्ति विप्राः।
स श्रेयसा चाभ्युदयेन चैव सम्यक् प्रयुक्तः पुरुषं युनक्ति॥
३. स्थानमिदं करणमिदं प्रयत्न एष द्विधाऽनिलः।
स्थानं पीडयति वृत्तिकारः प्र[1] क्रम एषोऽथ नाभितलात्॥
४. स्थानकरणप्रयत्नपरेभ्यो वर्णास्त्रिषष्टिः।
५. चतुःषष्टिरित्येके।
६. तत्र वर्णानां केषां किं स्थानं किं करणं प्रयत्नश्च [कः], ते द्विधा विभजते।

१. अथ प्रथमं स्थानप्रकरणम्

१. तत्र स्थानं तावत्।
२. अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः।
३. हविसर्जनीयावुरस्यावेकेषाम्।
४. जिह्वामूलीयो जिह्व्यः।

---

१. सप्तमप्रकरणस्य प्रथमसूत्रे 'क्रमः' शब्द एव न तु प्रकमः। तस्य (उपसर्गस्य) 'पीडयति' क्रियया सम्बन्धः। छन्दोवत्सूत्राणि भवन्तीति नियमात् क्रियायाः परो व्यवहितश्चेह प्रयुक्त इति युधिष्ठिरमीमांसकाः।

५. कवर्गावर्णानुस्वारजिह्वामूलीया जिह्व्या एकेषाम्।
६. सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके।
७. कण्ठ्यानास्यमात्रानित्येके।
८. इचुयशास्तालव्याः।
९. ऋटुरषा मूर्धन्याः।
१०. रेफो दन्तमूलीय एकेषाम्।
११. दन्तमूलस्तु तवर्गः।
१२. लृतुलसा दन्त्याः।
१३. वकारो दन्तोष्ठ्यः।
१४. सृक्किणी स्थानमेकेषाम्।
१५. उपूपध्मानीया ओष्ठ्याः।
१६. अनुस्वारयमा नासिक्याः।
१७. कण्ठनासिक्यमनुस्वारमेके।
१८. यमाश्च नासिक्यजिह्वामूलीया एकेषाम्।
१९. ए ऐ कण्ठतालव्यौ।
२०. ओ औ कण्ठोष्ठ्यौ।
२१. ङञणनमाः स्वस्थाननासिकास्थानाः।
२२. द्विवर्णानि सन्ध्यक्षराणि।
२३. सरेफ ऋवर्णः।
२४. [इति] संयुक्ताः वर्णाः।
२५. एवमेतानि स्थानानि।

२. अथ द्वितीयं करणप्रकरणम्

१. करणमपि।
२. जिह्व्यतालव्यमूर्धन्यदन्त्यानां जिह्वा करणम्।
३. जिह्वामूलेन जिह्व्यानाम्।
४. जिह्वामध्येन तालव्यानाम्।
५. जिह्वोपाग्रेण मूर्धन्यानाम्।

६. जिह्वाग्राधः करणं वा।
७. जिह्वाग्रेण दन्त्यानाम्।
८. शेषाः स्वस्थानकरणाः।
९. इत्येतत् करणम्।

३. अथ तृतीयम् अन्तःप्रयत्नप्रकरणम्

१. प्रयत्नो द्विविधः।
२. आभ्यन्तरो बाह्यश्च।
३. स्वस्थान आभ्यन्तरस्तावत्।
४. स्पृष्टकरणाः स्पर्शाः।
५. ईषत्स्पृष्टकरणा अन्तस्थाः।
६. ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः।
७. विवृतकरणा वा।
८. विवृतकरणाः स्वराः।
९. तेभ्य ए ओ विवृततरौ।
१०. ताभ्यामै औ।
११. ताभ्यामप्याकारः।
१२. संवृतस्त्वकारः।
१३. इत्येषोऽन्तःप्रयत्नः।

४. अथ चतुर्थं बाह्ययत्नप्रकरणम्

१. अथ बाह्याः प्रयत्नाः।
२. वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शषसविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीया यमौ च प्रथमद्वितीयौ विवृतकण्ठाः श्वासानुप्रदाना अघोषाः।
३. वर्ग्ययमानां प्रथमा अल्पप्राणा इतरे सर्वे महाप्राणाः।
४. वर्गाणां तृतीयचतुर्था अन्तस्था हकारानुस्वारौ यमौ च तृतीयचतुर्थौ [१]नासिक्यश्च संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तश्च।

१. 'नासिक्याश्च' इति सार्वत्रिकः पाठः।

५. वर्ग्ययमानां तृतीया अन्तस्थाश्चाल्पप्राणा इतरे सर्वे महाप्राणाः।
६. यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः।
७. आनुनासिक्यमेषामधिको गुणः।
८. कादयो मावसानाः स्पर्शाः।
९. यादयोऽन्तस्थाः।
१०. शादय ऊष्माणः।
११. सस्थानेन द्वितीयाः।
१२. हकारेण चतुर्थाः।
१३. इत्येष बाह्यः प्रयत्नः।

५. अथ पञ्चमं स्थानप्रपीडनप्रकरणम्

१. तत्र स्पर्शयमवर्णकारो वायुरयःपिण्डवत् स्थानमभिपीडयति।
२. अन्तस्थवर्णकारो वायुर्दारुपिण्डवत्।
३. ऊष्मस्वरवर्णकारो वायुरूर्णापिण्डवत्।

६. अथ षष्ठं वृत्तिकारप्रकरणम्

१. एवं व्याख्याने वृत्तिकाराः पठन्ति-अष्टादशप्रभेदमवर्णकुलमिति। तत् कथमुक्तम्।
२. ह्रस्वदीर्घप्लुतत्त्वाच्च त्रैस्वर्योपनयेन च।
आनुनासिक्यभेदाच्च संख्यातोऽष्टादशात्मकः॥ इति॥
३. एवमिवर्णादयः।
४. लृवर्णस्य दीर्घा न सन्ति।
५. तं द्वादशप्रभेदमाचक्षते।
६. यदृच्छाशब्देऽशक्तिजानुकरणे वा यदा दीर्घाः स्युस्तदाष्टादशप्रभेदं ब्रुवते क्लृपक इति।
७. सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति।
८. तान्यपि द्वादशप्रभेदानि।
९. छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं [च] पठन्ति।

१०. तेषामप्यष्टादशप्रभेदानि।
११. अन्तस्था द्विप्रभेदा रेफवर्जिताः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च।
१२. रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति।
१३. वर्ग्यो वर्ग्येण सवर्णः।

७. अथ सप्तमं क्रमप्रकरणम्

१. एष क्रमो वर्णानाम्।
[तथैते कौशिकीयाः श्लोकाः—
सर्वान्तेऽयोगवाहत्वाद् विसर्गादिरिहाष्टकः।
अकार उच्चारणार्थो व्यञ्जनेष्वनुबध्यते॥ १॥
ᳵक ᳵ पयोः कपकारौ च तद्वर्गीयाश्रयत्वतः।
पलिक्क्ँनी चक्ख्ँनतुर्जग्ग्ँमर्जग्घ्ँनुरित्यत्र यद्वपुः॥ २॥
नासिक्येनोक्तं कादीनां त इमे यमाः।
तेषामुकारः सस्थानवर्गीयलक्षकः॥ ३॥]
२. तत्रैषां स्थानकरणप्रयत्नानां कथं प्रसिद्धिरित्युच्यते।
३. इह यत्र स्थाने वर्णा उपलभ्यन्ते तत् स्थानम्।
४. येन निर्वृत्यन्ते तत् करणम्।
५. प्रयतनं प्रयत्नः।
६. उत्साहः प्रयत्नः
७. स्पृष्टतादि वर्णगुणः।

८. अथाष्टमं नाभितलप्रकरणम्

१. तत्र नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितः प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रामन्नुरआदीनां स्थानानामन्यतमस्मिन् स्थाने प्रयत्नेन विधार्यते। विधार्यमाणः सोऽपि तत्स्थानानि विहन्ति। तस्मात् स्थानाभिघाताद् ध्वनिरुत्पद्यत आकाशे, सा वर्णश्रुतिः। स वर्णस्यात्मलाभः।
२. तत्र वर्णानामुत्पद्यमाने यदा स्थानकरणप्रयत्नपर्यन्तं परस्परं स्पृशति सा स्पृष्टता।

३. यदेषत् स्पृशति सा ईषत्स्पृष्टता।
४. यदा दूरेण स्पृशति सा विवृतता।
५. यदा सामीप्येन स्पृशति सा संवृतता।
६. एषोऽन्तःप्रयत्नः।
७. अथ बाह्यः प्रयत्नः।
८. स एवेदानीं प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रम्य मूर्ध्नि प्रतिहते निवृत्तो भवति, तदा कण्ठे संहन्यमाने गलबिलस्य संवृतत्वात् संवारो नाम वर्णधर्मो जायते, विवृतत्वाद् विवारः।
९. तौ संवारविवारौ।
१०. तत्र यदा कण्ठबिलं संवृतं तदा नादो जायते।
११. विवृते तु कण्ठबिले श्वासोऽनुजायते।
१२. तौ श्वासनादावनुप्रदानावित्याचक्षते।
१३. अन्ये श्वासनादानुप्रदानं व्यञ्जने नादवत्।
१४. तत्र यदा स्थानाभिघातजध्वनौ नादोऽनुप्रदीयते तदा नादध्वनिसंसर्गाद् घोषो जायते।
१५. यदा श्वासोऽनुप्रदीयते तदा श्वासध्वनिसंसर्गाद् अघोषो जायते।
१६. सा घोषवदघोषता।
१७. महति वायौ महाप्राणः।
१८. अल्पे वायावल्पप्राणः।
१९. साल्पप्राणमहाप्राणता।
२०. [यत्र] महाप्राणत्वम् ऊष्माणस्ते।
२१. तत्र यदा सर्वाङ्गानुसारी प्रयत्नस्तीव्रो भवति, तदा गात्राणां निग्रहः, कण्ठबिलस्य चाल्पत्वं स्वरस्य च वायोस्तीव्रगतित्वाद् रौक्ष्यं भवति। तमुदात्तमाचक्षते।
२२. यदा मन्दः प्रयत्नो भवति तदा गात्राणां प्रसन्नत्वम्, कण्ठबिलस्य च महत्त्वम्, स्वरस्य च वायोर्मन्दगतित्वात् स्निग्धता भवति। तमनुदात्त-माचक्षते।
२३. उदात्तानुदात्तसन्निकर्षात् स्वरित इति।
२४. स एवं प्रयत्नोऽभिनिर्वृत्तः कृत्स्नः प्रयत्नो भवति।

२५. स एवमापिशलेः पञ्चदशभेदाख्या वर्णधर्मा भवन्ति।
२६. तद्यथा—स्पृष्टता ईषत्स्पृष्टता विवृतता संवृतता च।
संवारविवारौ श्वासनादौ घोषवदघोषता।
अल्पप्राणमहाप्राणता उदात्तानुदात्तस्वरिताः ॥ इति ॥
२७. इदानीं शिक्षाग्रन्थः श्लोकैरुपसंह्रियते—
२८. अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च॥
२९. स्पृष्टत्वमीषत्स्पृष्टत्वं संवृतत्वं तथैव च।
विवृतत्वं च वर्णानामन्तःकरणमुच्यते॥
३०. कालो विवारसंवारौ श्वासनादावघोषता।
घोषोऽल्पप्राणता चैव महाप्राणः स्वरास्त्रयः॥
३१. बाह्यं करणमाहुस्तान् वर्णानां वर्णवेदिनः॥

॥ इति पाणिनीयं शिक्षाशास्त्रम्॥

वाणी की महिमा

क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्
(भर्तृ० १.१५)
चन्दन, पुष्प, सुवर्ण, मोती आदि सभी भूषण नष्ट होते हैं, परन्तु विशुद्ध वाणीरूप भूषण तो सतत, नित्य रहनेवाला देदीप्यमान आभूषण है।

चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् (ऋ० १०.१२५.३)
वाग्देवी ज्ञानयुक्ता है और पूज्यों में सर्वश्रेष्ठ है।

अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते (वाक्यपदीय १.११४)
सम्पूर्ण ज्ञान शब्द से ही होता है अर्थात् विना शब्द के कोई ज्ञान नहीं होता।

शिक्षा-भाष्य-भूमिका

कल्पादि[१] में पवित्रतम चार ऋषियों के अन्त:करण में वेद प्रकाशित हुये।[२] जब से वेद प्रकट हुये, उसी समय से वेदार्थ की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई थी। प्रारम्भ में साक्षात् मन्त्रों से ही अर्थ समझ लिया करते थे और वही प्रक्रिया कुछ काल तक चलती रही। कालान्तर में मेधाशक्ति में शैथिल्य हो जाने पर वेदार्थ के सौविध्य के लिये सर्वप्रथम 'पदपाठ' का प्रयत्न किया गया। पदपाठ मात्र से मन्त्र गतार्थ हो जाते थे। तत्पश्चात् वेदावबोध के लिये शाखाओं का सर्जन हुआ अर्थात् मन्त्रों का अर्थ शाखान्तरों से भी समझा जाता था।[३] जैसे कि—**"भ्रातृव्यस्य वधाय०"** (यजु:० १.१८) का अर्थ **"द्विषतो वधाय०"**(कां० सं० १.६.२,३) की तुलना में समझ में आ जाता है। तदनन्तर वेदावगति के लिये ब्राह्मणग्रन्थों का प्रणयन हुआ। अन्तत: षडङ्गों[४] (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) की रचना हुई।[५] ये सभी प्रयत्न वेद की रक्षा के लिये ही किये गये हैं। क्योंकि विना अर्थ ज्ञान के न वेद की रक्षा हो सकती है और न वेद को वेद ही कह सकते हैं।[६] अत एव वेद की रक्षा के लिये अतन्द्रित होकर[७] षडङ्ग सहित वेदाध्ययन करने का विधान किया गया है।[८] इस विधान से यह भी सुस्पष्ट ज्ञात होता

१. बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रम् (ऋ० १०.७१.१)।
२. ऋषिषु प्रविष्टाम् (ऋ० १०.७१.३)। अपि च द्र०-श० ब्रा० ११.५.८; मनु० १.२३, मी० शा० ३.३.२ आदि।
३. अध्यवस्यन्ति मन्त्रार्थानेवं मन्त्रान्तरैरपि।
शाखास्वन्यासु पठितैर्विस्पष्टार्थैर्मनीषिण: ॥ (वेंकटमाधव:, ऋग्भाष्यानुक्रमणी)
४. षडङ्गों की विद्या संहिता-काल से ही थी। क्योंकि विना शिक्षा और व्याकरण के ज्ञान के क्रमश: वेद का अध्ययन-अध्यापन एवं पदपाठ सम्भव नहीं है। अत: यहाँ षडङ्गों का तात्पर्य पाणिन्यादि के द्वारा विरचित शिक्षादि ग्रन्थों का ग्रहण है।
५. द्र०-निरु० १.२०।
६. वेदत्वं शब्दतदर्थोभयवृत्ति (उद्योत:, म० भा० पस्प०, आगम: खल्वपि)।
७. वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रित: (मनु० ४.१४७)।
८. ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्म: षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति, रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम् (म०भा०पस्प०)।

है कि अर्थज्ञान के विना वेद की रक्षा नहीं हो सकती है। यदि होती तो न षडङ्गों की रचना ही होती और न ही उनके अध्ययन का विधान ही करते। साथ में अर्थराहित्य पाठमात्र की निन्दा[१] भी नहीं की जाती। अस्तु।

१ वेदाङ्ग (षडङ्ग) और उनकी उपयोगिता—

'अङ्ग्यते ज्ञायते वेदार्थ एभिरित्यङ्गानि, वेदानामङ्गानि वेदाङ्गानि' अर्थात् जिनकी सहायता से वेदों का अर्थ जाना जाता है, उन्हें वेदाङ्ग कहते हैं। वे छह हैं, अत: उन्हें 'षडङ्ग' भी कहते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—
१. शिक्षा, २. व्याकरण, ३. निरुक्त, ४. कल्प, ५. छन्द, ६. ज्योतिष।

१.१ शिक्षा—वर्णों वा शब्दों के एवं उदात्तादि स्वरों के शुद्धाशुद्ध उच्चारण का परिज्ञान इस शास्त्र से होता है। यह परिज्ञान वेदार्थ और लौकिक व्यवहार के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

१.२ व्याकरण—यह शब्द के स्वरूप को बतलानेवाला शास्त्र है। जिससे लौकिक एवं वैदिक शब्दों का अर्थ हस्तामलकवत् स्पष्ट प्रत्यक्ष हो जाता है। जैसे कि ऋग्वेद में कहा गया है—
'उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासा:' (ऋ० १०.७१.४)

अर्थात् वैयाकरण को शब्द का सम्पूर्ण स्वरूप प्रत्यक्ष हो जाता है, उसके लिये कुछ भी अप्रत्यक्ष (अज्ञात) नहीं रहता।

१. उत त्व: पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्व: शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। (ऋ० १०.७१.४)
स्थाणुरयं भारहार: किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। (निरु० १.१८)
न वेदपाठमात्रेण सन्तुष्टो वै द्विजोत्तम:।
पाठमात्रावसानस्तु पङ्के गौरिव सीदति॥ (औ० स्मृ० ३.८१)
वेदस्याध्ययनं सर्वं धर्मशास्त्रस्य चापि यत्।
अजानतोऽर्थं तत्सर्वं तुषाणं खण्डनं यथा॥
यथा पशुर्भारवाही न तस्य भजते फलम्।
द्विजस्तदर्थानभिज्ञो न वेदफलमश्नुते॥
योऽधीत्य विधिवद् विप्रो वेदार्थं न विचारयेत्।
स सान्वयश्शूद्रसम: पात्रतां न प्रपद्यते॥
पाठमात्रपरान्नित्यं द्विजातींश्चार्थवर्जितान्।
पशूनिव स तान् प्राज्ञो वाङ्मात्रेणापि नार्चयेद्॥ (ल० व्या० स्मृ०)

१.३ निरुक्त—यह प्रधानतया शब्द के अर्थ का प्रतिपादक शास्त्र है। यह व्याकरण का ही पूरक शास्त्र है।[१]

व्याकरण और निरुक्त में भेद यह है कि व्याकरण प्रधानतया शब्द के स्वरूप का ही प्रतिपादन करता है, इसमें अर्थ पर कोई विशेष बल नहीं दिया जाता है। जबकि निरुक्त विशेष रूप से शब्दार्थ पर ही बल देता है, न कि शब्द के स्वरूप पर।[२] जैसे कि 'हस्त' शब्द को सिद्ध करना है तो वैयाकरण 'हस्' धातु से 'तन्' प्रत्यय कर सिद्ध कर लेता है—**'हसतीति हस्तः'** (द्र०- पं०उ० ३.८६; द०उ० ६.७; भानूजीदीक्षित-अमर० २.६.८६)। पर यहाँ अर्थतः 'हस्' धातु का 'हस्त' (हाथ) के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है। जब कि नैरुक्त इसे 'हन्' धातु से सिद्ध करता है—**'हन्तीति हस्तः'**। क्योंकि मारने योग्य को शीघ्रता से झटिति मारनेवाला केवल हाथ ही है—**'हस्तो हन्तेः प्राशुर्हनने'** (निरु० १.७)।[३] अब 'हन्' धातु से 'हस्त' कैसे बनेगा? यह वैयाकरण के लिए छोड़ दिया जाता है। अर्थात् बहुल से 'न्' को 'स्' का आदेश करना या 'न्' का लोप कर 'स्' का आगम करना यह वैयाकरण का कार्य है। इस प्रकार ये दोनों शास्त्र एक दूसरे के परस्पर पूरक हैं। इन दोनों से ही शब्द-शास्त्र पूर्ण होता है।

इन दोनों शास्त्रों में यह भी भेद है कि व्याकरण लौकिक एवं वैदिक शब्दों के लिए समान रूप से उपयोगी है, तो निरुक्त विशेष कर वैदिक-शब्दों के लिए उपयोगी है।

१.४ कल्प—यह यज्ञ, याग आदि वैदिक कर्मों के स्वरूप का बोधक शास्त्र है और मन्त्रविनियोग का प्रतिपादक है। मन्त्रविनियोग अर्थानुसारी होता है—**'अर्थाभिधानसंयोगान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात्०'** (पू०मी० ९.१.३६)। अतः विनियोग-ज्ञान मन्त्रार्थ में सहायक होता है।

१.५ छन्द—यह विविध छन्दों में निबद्ध गद्यात्मक वा पद्यात्मक मन्त्रों के स्वरूप को बतलाने वाला शास्त्र है। **'गायत्र्या यजति'** इत्यादि विधिवाक्यों के अर्थ निर्णय में यह शास्त्र उपयोगी है। इस प्रकार यह कर्मानुष्ठान द्वारा

---

१. निरुक्तं तु व्याकरणस्यैव कार्त्स्न्यम् (पद०पृ० २)।
२. अर्थो नित्यः परीक्षेत....न संस्कारमाद्रियेत (निरु० २.१)।
अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः (निरु० १.१५)।
३. रूपसामान्यादर्थसामान्यं नेदीयः (गो० ब्रा० १.१.२६) के न्याय से नैरुक्तों का हन्-धातु से हस्त को सिद्ध करना ही अधिक उचित है।

वेदोपकारक है ही, साथ में साक्षात् भी वेदार्थ में उपकारक है (द्र०-यु०मी० विरचित वैदिक-छन्दोमीमांसा)।

१.६ ज्योतिष—यह वैदिक स्वाध्याय और कर्मानुष्ठान के योग्य काल आदि का प्रतिपादक शास्त्र है। साथ में वेदमन्त्रों में वर्णित खगोलीय विज्ञान को समझने में भी अत्यन्त सहायक है।

२. षडङ्ग और शिक्षाशास्त्र की प्राचीनता—

२.१. षडङ्गों की प्राचीनता—षडङ्ग और वेदाङ्ग शब्दों एवं उनके नामों का प्रयोग कई प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। जैसे कि—

नाषडङ्गविदत्रासीत्० (रामा०बाल० १४.२१)।
वेदात् षडङ्गानुद्धृत्य० (म०भा०शान्ति० २८४.१९२)।
षडङ्गविदस्तत् तथाधीमहे (गो० ब्रा० १.१.२७)।
वेदं च वेदाङ्गानि च (निरु० १.२०)।
षडङ्गो वेदोऽध्येयः० (म०भा०पस्प०)
वेदाङ्गानि षट् (प्रस्थानभेद)।
स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृदयम्० (छा०उ० ८.३.३)।
तस्मादियं व्याकृता वाक् (तै०सं० ६.४.७.५)।
नूनं व्याकरणं कृत्स्नम्० (रामा० किष्किन्धा० ३.२९)।
सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते (म०भा०उद्योग० ४३.६१)।

२.२ शिक्षाशास्त्र की प्राचीनता—ऊपर उद्धृत वचनों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वेदाङ्ग (षडङ्ग) पर्याप्त प्राचीन हैं। तदन्तर्गत शिक्षाशास्त्र के नाम का उल्लेख तथा इसके पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी प्राचीन वैदिक वाङ्मय में मिलता है। यथा—

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति (मु०उ० १.१.५)।
शिक्षां व्याख्यास्यामः वर्णः स्वरः। मात्रा... (तै०उ० २.१)।
किं स्थानानुप्रदानकरणं शिक्षकाः[१] किमुच्चारयन्ति (गो०ब्रा०१.१.२४)।

पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग—

---

१. 'शिक्षकाः' इस शब्द से स्पष्ट ज्ञात होता है कि गो० ब्रा० के रचना काल तक अनेकत्र शिक्षाशास्त्र के पठन-पाठन की परम्परा प्रतिष्ठित हो चुकी थी।

तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्त-अकार उकारो मकार इति।
—ऐ०ब्रा० २५.३२।

किं स्थानमित्युभावोष्ठौ स्थानं नादानुप्रदानकरणौ च द्वयस्थानं सन्ध्यक्षरमवर्णलेशः कण्ठ्यो यथोक्तशेषः पूर्वो विवृतकरणस्थितश्च द्वितीयस्पृष्टकरणस्थितश्च न संयोगो... (गो०ब्रा० १.१.२७)।

को विकारी कतिमात्रः कति वर्णः कत्यक्षरः (गो०ब्रा० १.१.२४)।

यथा स्वरेण सर्वाणि व्यञ्जनानि व्याप्तानि (सं०उ०ब्रा०खण्ड-२)।

अ उ इत्यर्धचतस्रो मात्रा मकारे व्यञ्जनमित्याहुः (गो०ब्रा० १.१.२५)।

ओंकारो यजुर्वेदे दीर्घप्लुतोदात्त एकाक्षरः ओंकारः सामवेदे
(गो०ब्रा० १.१.२५)

पृथिव्या रूपं स्पर्शा अन्तरिक्षस्योष्माणो दिवः स्वरा अग्ने रूपं स्पर्शा वायोरूष्माण आदित्यस्य स्वरा ऋग्वेदस्य रूपं स्पर्शा यजुर्वेदस्योष्माणः सामवेदस्य स्वराश्चक्षुषो रूपं स्पर्शाः श्रोत्रस्योष्माणो मनसः स्वराः प्राणस्य रूपं स्पर्शा अपानस्योष्माणो व्यानस्य स्वराः (ऐ०आ० ३.२.५; द्र०शां० आ० ८.८)।

इन रेखांकित पारिभाषिक शब्दों से भी सुस्पष्ट ज्ञात होता है कि ऐतरेय आदि ब्राह्मण ग्रन्थों से पूर्व ही शिक्षाशास्त्र का प्रादुर्भाव हो चुका था।

३. शिक्षाशास्त्र का महत्त्व और आवश्यकता—

वाक्तत्त्व (भाषा) एक ऐसा अलौकिक साधन है, जिससे मनुष्य को मानवता प्राप्त होती है, ज्ञानवर्धन होता है, मोक्ष की प्राप्ति होती है[१], देवत्व, ऋषित्व एवं वैदुष्य उपलब्ध होते हैं[२], एक श्रेष्ठ समाज व राष्ट्र का निर्माण हो सकता है या संगठित हो सकता है[३]। वाणी की महिमा का इससे अधिक वर्णन क्या करें, मानों इसमें सम्पूर्ण संसार समाया हुआ है।[४] इस दिव्य ज्योति के विना निखिल जगत् घोर अन्धकारमय दीखता है।[५]

उक्त महिमा-मण्डित वाणीतत्त्व (भाषा) तब तक सुशोभित है, जब तक वह अपने शुद्धस्वरूप में सुरक्षित है, अर्थात् वह यथायथ शुद्ध उच्चरित होता है। यथावदुच्चारण न होने से अर्थ का अनर्थ होकर उक्त महिमा धराशायी हो जाती है। शब्दपारावारपारीण महर्षि पतञ्जलि ने निर्देश भी किया है कि—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥
(म०भा० पस्प०; तु०-ना० शि० १.१.५)

उदात्तादि स्वर एवं वर्णों (स्वर और व्यञ्जनों) का यथावत् उच्चारण न होने से कितना अनर्थ होता है, एतदर्थ एक और वचन उद्धृत करते हैं—

प्रहीणः स्वरवर्णाभ्यां यो वै मन्त्रः प्रयुज्यते।
यज्ञेषु यजमानस्य रुशत्यायुः प्रजां पशून्॥ —ना० शि० १.१.६

यह शुद्धोच्चारण केवल मन्त्रों एवं यज्ञों के लिए ही अनिवार्य नहीं है, अपितु लौकिक भाषा के लिए भी अत्यन्तावश्यक है। कहा भी गया है—

यद्यपि पुत्र! बहुनाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलं शकलं सकृत् शकृत्॥

अतः वर्णों के यथावत् शुद्ध-शुद्ध उच्चारण करने के लिए एवं लौकिका-लौकिक अभीष्ट की सिद्धि के लिए शिक्षाशास्त्र का प्रादुर्भाव हुआ है।

४. शिक्षाशास्त्र का परिचय—

यह शास्त्र वैदिक वाङ्मय के काल में प्रादुर्भूत होकर अद्य यावत् पर्याप्त विस्तीर्ण बन गया है। सम्प्रति साठ से अधिक शिक्षाग्रन्थों का वर्णन मिलता है। जिनमें से चौवन (५४) शिक्षायें उपलब्ध होती हैं और शेष सत्तरह (१७) अप्रकाशित हैं।[१] यहाँ इन सभी ग्रन्थों के नाम मात्र का परिचय

---

१. शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति (मै०उ० ६.२२; म०भा०शान्ति० २७०.२)।
२. यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् (ऋ० १०.१२५.५)।
३. अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम् (ऋ० १०.१२५.३)।
४. वाचा हीदं सर्वं कृतम् (शत० ८.१.२.९); शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी (वा० प० १.१०९)।
५. इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥ (का० १.४)
वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥ (वा०प० १.११५)

१. इन ग्रन्थों के परिचय के लिए परिशिष्ट-१ को देखें।

दिया जा रहा है—

१. शैशिरीयशिक्षा, २. शौनकशिक्षा, ३. स्वराङ्कुशशिक्षा, ४. याज्ञवल्क्य-शिक्षा, ५. वासिष्ठीशिक्षा, ६. कात्यायनीशिक्षा, ७. पाराशरीशिक्षा, ८. माण्डव्य-शिक्षा, ९. अमोघानन्दिनीशिक्षा, १०. लघु-अमोघानन्दिनीशिक्षा, ११. माध्यन्दिनीशिक्षा, १२. लघु-माध्यन्दिनीशिक्षा, १३. वर्णरत्नप्रदीपिकाशिक्षा, १४. केशवीशिक्षा (सूत्रात्मिका) [परिभाषांकसूत्रशिक्षा/नवांकसूत्रशिक्षा], १५. केशवीशिक्षा (श्लोकात्मिका) [कारिकावली], १६. हस्तस्वरप्रक्रिया, १७. अवसाननिर्णयशिक्षा, १८. स्वरभक्तिलक्षणपरिशिष्टशिक्षा, १९. स्वर-भक्तिशिक्षा, २०. स्वराष्टकशिक्षा, २१. गलदृक्शिक्षा, २२. क्रमसन्धानशिक्षा, २३. मनःस्वारशिक्षा, २४. यजुर्विधानशिक्षा, २५. क्रमकारिकाशिक्षा, २६. प्रातिशाख्यप्रदीपशिक्षा, २७. वेदपरिभाषासूत्रशिक्षा, २८. वेदपरिभाषाकारिका-शिक्षा, २९. कौषिकीशिक्षा, ३०. सम्प्रदायप्रबोधिनी शिक्षा, ३१. कौण्डिन्य-शिक्षा, ३२. भारद्वाज/संहिता शिक्षा, ३३. व्यासशिक्षा, ३४. कौहलेयशिक्षा [कौहडेयशिक्षा], ३५. चारायणीयशिक्षा, ३६. सर्वसम्मतशिक्षा, ३७. पारिशिक्षा, ३८. आपिशलिशिक्षा (श्लोकात्मिका), ३९. नवशिक्षा, ४०. नारदीयशिक्षा, ४१. गौतमीयशिक्षा [संयोगश्रृंखलाशिक्षा], ४२. लोमशीय-शिक्षा, ४३. माण्डूकीशिक्षा, ४४. वर्णपटलम्, ४५. दन्त्योष्ठविधि, ४६. पाणिनीयशिक्षा (श्लोकात्मिका, आर्चपाठ), ४७. पाणिनीयशिक्षा (श्लोका-त्मिका, याजुषपाठ), ४८. षोडशश्लोकीशिक्षा, ४९. कातन्त्रशिक्षासूत्र, ५०. जैनेन्द्रशिक्षासूत्र, ५१. चान्द्रशिक्षा, ५२. आपिशलिशिक्षा (सूत्रात्मिका), ५३. पाणिनीयशिक्षा (सूत्रात्मिका, लघुपाठ), ५४. पाणिनीयशिक्षा (सूत्रात्मिका, वृद्धपाठ)।

अब अप्रकाशित शिक्षाग्रन्थों के नाम बतलाते हैं—

५५. शमानशिक्षा, ५६. स्वरव्यञ्जनशिक्षा, ५७. गालवशिक्षा, ५८. विलंघ्यंशिक्षा, ५९. पदकारिकारत्नमाला, ६०. त्रैस्वर्यशिक्षा, ६१. शम्भुशिक्षा, ६२. आरण्यशिक्षा, ६३. सिद्धान्तशिक्षा, ६४. बौधायनशिक्षा, ६५. वाल्मीकि-शिक्षा, ६६. हारीतशिक्षा, ६७. वासिष्ठशिक्षा, ६८. कालनिर्णयशिक्षा, ६९. पाणिनिशिक्षा (तैत्तिरीय), ७०. आत्रेयशिक्षा, ७१. लक्ष्मीकान्तशिक्षा।

इनमें १ से ३ तक और ५५ से ५७ तक की शिक्षाएँ ऋग्वेदीय हैं। ४ से ३० तक और ५८ से ६० तक की शिक्षाएँ शुक्लयजुर्वेदीय हैं। ३१ से ३९ तक तथा ६१ से ७१ तक की शिक्षाएँ कृष्णयजुर्वेदीय हैं। ४० से ४२ तक

की शिक्षाएँ सामवेदीय हैं एवं ४३ से ४५ तक की शिक्षाएँ अथर्ववेदीय हैं। श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षाद्वय (४६, ४७) ऋग्वेदीय वा यजुर्वेदीय माने जाते हैं। शेष ४८ से ५४ तक की शिक्षाएँ किसी वेद वा शाखा से सम्बन्धित नहीं हैं।

इन सभी में केवल पाणिनीयशिक्षा को ही वेदाङ्ग के रूप में मान्यता प्राप्त है। उनमें भी सूत्रात्मक पाणिनीयशिक्षा ही पाणिनिविरचित है तथा वही वेदाङ्ग है। श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षाद्वय न पाणिनीय हैं और न ही वेदाङ्ग हैं। क्योंकि ये पाणिनि के मतानुसार अन्यविरचित हैं। इस बात की पुष्टि निम्न श्लोकों से होती है—

अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा॥ १॥
येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः॥५७॥ (अपि च द्र०- ५८, ५९)

सूत्रात्मक शिक्षा भी द्विविधा है—१. लघुपाठ, २. वृद्धपाठ।

१. लघुपाठ—यह पाणिनि मुनि विरचित है। जो कि मध्यकाल में श्लोकात्मक शिक्षा के प्रचलन से लुप्त हो गई थी। परन्तु महर्षि दयानन्द के अत्यन्त परिश्रम पूर्वक अन्वेषण से पुनः इसका उद्धार हुआ। उन्हें इसका एक जीर्ण एवं खण्डित हस्तलेख वि० सं० १९३६ (सन् १८७९) में प्रयाग के किसी ब्राह्मण के घर पर मिला। इसे महर्षि ने आर्यभाषा में व्याख्या लिखकर 'वर्णोच्चारणशिक्षा' के नाम से छपवाया।

२. वृद्धपाठ—म०म०पं० श्री युधिष्ठिर जी मीमांसक के प्रयत्न से इसका मूलपाठ सन् १९५३ में प्रथम वार प्रकाशित हुआ। प्रकृत ग्रन्थ इसी सूत्र-पाठ पर लिखा जा रहा है।

५. शिक्षाप्रवेश

५.१ वर्णसमाम्नाय—

स्वर			व्यञ्जन									
ह्रस्व	दीर्घ	प्लुत	स्पर्श					अन्तस्थ	ऊष्म	अयोगवाह		
			कवर्ग	चवर्ग	टवर्ग	तवर्ग	पवर्ग				यम	
अ	आ	अ३[1]										
इ	ई	इ३										
उ	ऊ	उ३						य	श	:	कुँ	
ऋ	ॠ	ऋ३	क	च	ट	त	प	र	ष	ᳵक	खुँ	
लृ		लृ३	ख	छ	ठ	थ	फ	ल	स	ᳶप	गुँ	
	ए	ए३	ग	ज	ड	द	ब	व	ह	.	घुँ	
	ऐ	ऐ३	घ	झ	ढ	ध	भ					
	ओ	ओ३	ङ	ञ	ण	न	म					
	औ	औ३										
५	८	९	५	५	५	५	५	४	४	४	४	
२२			२५					४	४	८		६३

५.२ शिक्षा के पारिभाषिक शब्द

प्रत्येक शास्त्र में कुछ विशिष्ट पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त होते हैं। जब तक उन्हें अच्छी तरह समझ नहीं लिया जाता, तब तक उस-उस शास्त्र में प्रवेश दुष्कर हो जाता है। अतः शिक्षा-शास्त्र में प्रवेशार्थ यहाँ एतत्शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द सविवरण दिये जा रहे हैं—

१. वर्ण—'**वर्ण्यन्ते व्यक्तं ध्वन्यन्त इति वर्णाः**' (तै०प्रा०-वै०आ० १.१) अर्थात् जो वर्णित होते हैं, स्पष्ट रूप से ध्वनित=उच्चरित होते हैं, उन्हें वर्ण कहा जाता है। अथवा '**वर्ण्यन्ते वर्णनीयविषया भावा अभिप्राया वा एभिरिति वर्णाः**' अर्थात् मनुष्य अपने वर्णनीयविषयों भावों वा अभिप्रायों का जिनसे वर्णन करता है, उन्हें वर्ण कहते हैं।

१. लेखन में वर्णों की प्रस्तुति का नाम लिपि है। प्रारम्भ के पाँच प्लुत वर्णों को दो रूपों में लिखा जा सकता है—अ३ या आ३, इ३ या ई३, उ३ या ऊ३, ऋ३ या ॠ३, लृ३ या लॄ३। लृ वर्ण का दीर्घ रूप तो होता ही नहीं फिर 'लृ' का प्लुत लेखन 'लॄ३' इस रूप में कैसे हो सकेगा? यह संशय उत्पन्न नहीं होना चाहिये। क्योंकि इन सब स्थलों में दीर्घ को प्लुत नहीं किया गया है, अपितु वे सब स्वतन्त्र प्लुत वर्ण ही हैं।

यह वर्णसंज्ञा स्वर और व्यञ्जन दोनों के लिए प्रयुक्त होती है—'**वर्णशब्देन स्वरव्यञ्जनात्मको राशिरुच्यते**' (तै०प्रा०-त्रि०र० २२.१)। अर्थात् स्वर (अच्) तथा व्यञ्जन (हल्) संज्ञी हैं और इनकी संज्ञा 'वर्ण' है। इन सभी वर्णों की प्रकृति शब्द (ध्वनि) है[1]—'**शब्दः प्रकृतिस्सर्व-वर्णानाम्**' (तै०प्रा० २२.१)। इन वर्णों से उत्तर 'कार' शब्द या प्रत्यय जोड़ कर इनका कथन (अभिधान, निर्देश) किया जाता है—'**वर्णः कारोत्तरो वर्णाख्या**'[2] (तै०प्रा० १.१६)। जैसे कि—अकारः, इकारः, ककार[3] इत्यादि। अथवा 'इति' शब्द के द्वारा भी किया जा सकता है—'**निर्देश इतिना**' (वा०प्रा० १.३६)। तद्यथा—अ इति, इ इति, किति, गिति आदि। परन्तु 'र्' वर्ण का 'कार' के द्वारा निर्देश नहीं करना चाहिये अपितु 'इति' के द्वारा अथवा 'एफ' के द्वारा ही निर्देश करना चाहिये—'**र एफेन च**' (वा० प्रा० १.३९) जैसे कि—रिति, रेफ। सभी प्रकार के व्यञ्जनों[4] का अकारादि स्वरों के द्वारा भी निर्देश किया जा सकता है—'**स्वैररपि**' (वा०प्रा० १.४०)[5]। यथा—'**ङ-ञ-ण-न-माः स्वस्थाननासिकास्थानाः**' (शिक्षा-१.२१)।

१. अर्थात् वर्ण ध्वनिजन्य (नादजन्य) हैं, ध्वनिमात्र नहीं है। एक ध्वनिविशेष को मानव-मुख के स्थानविशेष में आघात करने से 'वर्ण' की उत्पत्ति होती है। इसे व्यक्तध्वनि भी कहते हैं। पशु, पक्षी, ईंट, पत्थर, पानी, घण्टी आदि से उत्पद्यमान ध्वनि से वर्णों की उत्पत्ति नहीं होती, अतः इसे अव्यक्तध्वनि कहते हैं।

२. अपि च '**कारेण च**' (वा०प्रा० १.३७)।

३. कारशब्द के द्वारा व्यञ्जनों का निर्देश अकार के व्यवधान से होता है—'**अव्यवहितेन व्यञ्जनस्य**' (वा०प्रा० १.३८)।

४. अयोगवाहों को छोड़कर।

५. यह नियम अन्य भाषाओं में भी देखा जाता है। यथा—'आर्' के उच्चारण में रेफध्वनि आकार के द्वारा निर्दिष्ट है। वैसे ही बी, सी, डी, जी, पी आदि वर्णों में 'ब्' आदि व्यञ्जन 'ई' के द्वारा निर्दिष्ट हैं। जे, के, एल्, एफ़्, एच्, एम्, एन् एक्स् आदि में एकार के द्वारा व्यञ्जन निर्दिष्ट हैं। इसी प्रकार पारसी भाषा में भी बे, पे, ते, से आदि वर्णों में देखा जाता है।

[1]**प्रयोग**— सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके (१.६)।
तत्र स्पर्शयमवर्णकारो....अन्तस्थवर्णकारो....
ऊष्मस्वरवर्णकारो.....(५.१-३)।
एष क्रमो वर्णानाम् (७.१)। इत्यादि

२. वर्णसमाम्नायः[2]**—सम्=सहभावः, आम्नायः=अभ्यासः। वर्णानां समाम्नायो वर्णसमाम्नायः। यत्र अकारादिवर्णानां समुदायस्यानुपूर्व्येणा-भ्यासः=पाठः क्रियते स वर्णसमाम्नायः।**[3] अर्थात् जहाँ अकारादि वर्णों के समुदाय का आनुपूर्व्य (यथाक्रम) से अभ्यास=पाठ किया जाता है, उसे वर्णसमाम्नाय कहते हैं। अथवा '**वर्णा यस्मिन् समाम्नाये (=संग्रहे) पठ्यन्ते स वर्णसमाम्नायः**' (उवटः-वा०प्रा० ८.१) अर्थात् जिस संग्रह में वर्णों का पाठ किया जाता है, वह वर्णसमाम्नाय कहलाता है। इसे वर्णराशि, वर्णसंग्रह, वर्णोपदेश, वर्णमाला, वर्णकोष, अक्षरसमाम्नाय वाक्समाम्नाय, वाचोवृत्ति आदि कहते हैं।

३. शिक्षा—'शिक्ष्यन्ते वर्णा यया शिक्ष्यते वा वर्णानामुच्चारणविधिः यया सा शिक्षा'। अर्थात् जिसके द्वारा वर्ण सीखे जाते हैं अथवा वर्णों की उच्चारणविधि जिससे सीखी जाती है, उसे शिक्षा कहते हैं।

४. स्थान—'यत्र वर्णोच्चारणाय करणं स्पृशति तत् स्थानम्।[4] **यत्र वर्णा व्यङ्ग्यत्वेन तिष्ठन्ति तत् स्थानम्।**[5] **यत्र वा वर्णा उपलभ्यन्त उच्चारणेन श्रूयन्ते तत् स्थानम्। उच्चारणसमये यत् तिष्ठति स्थिरं करणवत् चलायमानो न भवति तत् स्थानम्।'** अर्थात् वर्णोच्चारण के लिए करण जहाँ स्पर्श करता है उसे स्थान कहते हैं। अथवा वर्ण जहाँ व्यङ्ग्यत्व से विद्यमान रहते हैं, उसे स्थान कहते हैं। अथवा जहाँ वर्ण उपलब्ध होते हैं, उसे स्थान कहते हैं। अथवा वर्णोच्चारण के समय जो स्थिर रहता है, जिह्वा आदि करण के

१. यहाँ और आगे सर्वत्र प्रयोग शब्द से प्रकृत मूलग्रन्थ के प्रयोगस्थल जानें।
२. द्रष्टव्य—तै०प्रा०-वै०आ०, त्रि०र० १.१।
३. यद्यपि शिक्षा के सूत्रों में इस संज्ञा का प्रयोग नहीं हुआ है, पुनरपि शिक्षा में यह एक महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द होने के कारण आवश्यक समझकर यहाँ दे दिया गया है।
४. तु०-तै०प्रा० २.३३।
५. अधिकरणं वर्णानां स्थानशब्देनोच्यते (उवटः-ऋ०प्रा० १.४९)।

समान चलायमान नहीं होता, उसे स्थान कहते हैं।

स्थान आठ प्रकार के हैं। वे बाह्य एवं आभ्यन्तर भेद से द्विविध हैं—
१. आभ्यन्तर स्थान—कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, (ऊर्ध्व) ओष्ठ और जिह्वामूल;
२. बाह्यस्थान—नासिका, उरः।[1] प्रथम निर्वचन के अनुसार नासिका आदि को स्थान नहीं कह सकते, क्योंकि वहाँ किसी करण का स्पर्श नहीं होता। इसीलिये द्वितीय आदि अन्य निर्वचन भी दिखाये गये हैं। महर्षि पाणिनि भी स्वयं आगे ७.३ पर स्थान का निर्वचन बतायेंगे।

प्रयोग— तत्र स्थानं तावत् (१.१)।
सृक्किणी स्थानमेकेषाम् (१.१४)।
ङञणनमाः स्वस्थाननासिकास्थानाः (१.२१)।
शेषाः स्वस्थानकरणाः (२.८) आदि।

५. करण—'येन स्पर्शयति तत् करणम्' (तै०प्रा० २.३४)— उच्चारणकर्ता जिस अंग से स्थान का स्पर्श करता है, उसे करण कहते हैं। **'येन क्रियन्ते=निर्वृत्यन्ते वर्णाः तत् करणम्'** अर्थात् जिसकी सहायता से वर्ण उत्पन्न होते हैं, उसे करण कहते हैं।

प्रथम निर्वचन के अनुसार नासिक्य वर्णों का करण नासिका नहीं बन सकती[2], क्योंकि उससे किसी अवयव का स्पर्श नहीं होता। पर द्वितीय निर्वचन से नासिका भी करण बन सकती है। यतोहि उससे वर्ण उत्पन्न होते हैं। यह 'करण' शब्द साधनवाची है।[3] **'स्पृष्टकरणाः स्पर्शाः'** (३.४) आदि में प्रयुक्त 'करण' शब्द इससे भिन्न है। क्योंकि वह साधनवाची न होकर 'आभ्यन्तर-प्रयत्नवाची' है (विशेष वहीं देखें)।

वर्णों के उच्चारण में करणभूत (साधनभूत) अवयव तीन हैं। वे हैं— जिह्वा, [अधर] ओष्ठ, नासिका।

प्रयोग— स्थानकरणप्रयत्नपरेभ्यो० (४)। करणमपि (२.१)।
तत्रैषां स्थानकरणप्रयत्नानां० (७.२)।

१. अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च॥ (शिक्षा ८.२८)
२. शेषाः स्वस्थानकरणाः (२.८)।
३. साधकतमं करणम् (अष्टा० १.४.४२)।

६. स्वर—**'स्वयं राजन्त इति स्वराः'**[१] (म०भा० १.२.२९) जो विना किसी की सहायता के ही स्वयं प्रकाशित, उच्चरित होते हैं, उन्हें स्वर कहते हैं।[२] **'स्वृ शब्दोपतापयोः'** (धातु०भ्वा० ६६६) धातु से करण व कर्म में 'अच्' प्रत्यय करने से निष्पन्न 'स्वर' शब्द का निर्वचन इस प्रकार होगा— **'स्वर्यते शब्द्यत उच्चार्यते व्यञ्जनमेभिः स्वर्यन्ते शब्द्यन्ते वेति स्वराः'**। अर्थात् जिनकी सहायता से व्यञ्जन उच्चरित होते हैं अथवा जो स्वयं विना किसी की सहायता के उच्चरित, ध्वनित होते हैं, वे स्वर कहलाते हैं।

स्वरों का उच्चारण विना किसी की सहायता के अर्थात् अन्य किसी वर्ण की सहायता लिए विना ही और स्थानों के स्पर्श के विना ही (प्रयत्न-विशेष के विना ही) स्पष्टता से देर तक होता है। इसीलिये इन्हें स्वयं प्रकाशित (उच्चरित) वर्ण कहा गया है। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, सानुनासिक आदि धर्म इन स्वरों पर ही आश्रित हैं। अर्थात् स्वर इन धर्मों के धर्मी हैं।[३]

प्रयोग— विवृतकरणाः स्वराः (३.८)।
ऊष्मस्वरवर्णकारो० (५.३)।

उदाहरण— अ, आ, आ३, इ, ई, ई३, उ, ऊ, ऊ३………।

७. व्यञ्जन—**'अन्वग्भवति व्यञ्जनम्'**[४] (म०भा० १.२.२९) अर्थात् जो स्वरों का अनुगमन करता है, वह व्यञ्जन कहलाता है। **'व्यज्यते स्वरसा-**

१. यहाँ 'स्वयं' शब्द से 'स्व' और 'राजन्ते' शब्द से 'र' का ग्रहण किया गया, इससे 'स्वराः' शब्द व्युत्पन्न हो गया और अर्थ का प्रतिपादन भी।

२. यही भाव स्वरों के लिए विहित 'अक्षर' संज्ञा से भी ध्वनित होता है। विशेष आगे 'अक्षर' संज्ञा की व्याख्या में देखें।

३. द्रष्टव्य—अष्टा० १.२.२७, २९-३१। अक्षराश्रयाः (ऋ०प्रा० ३.२)।

४. 'अन्वग्भवतीति [अज्गुणम्] अनुगच्छतीत्यर्थः। शिष्टसमाचाराच्चेदं निर्वचनम-भिहितं, न त्वत्र वर्णसादृश्यं किञ्चिदस्ति। अथवा गतिरपि व्यञ्जेरर्थः, विविधं गच्छत्युपरागवशादिति व्यञ्जनमित्ययमर्थः पर्यायान्तरेण भाष्यकारेणाभिहितः। उपरागश्च पूर्वपराच्सन्निधानेऽपि परेणाचा हलो भवति, न पूर्वेण [स्वभाव एवात्र बीजम्]' (प्रदीपः १.२.२९, ३०)। अर्थात् भाष्यकार ने व्यञ्जन का निर्वचन 'अन्वग् भवति' इस शब्द से किया है। विपूर्वक 'अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु' (धातु० रु० २०) धातु से '**कृत्यल्युटो बहुलम्**' (अष्टा० ३.३.११३) सूत्र से कर्त्ता में ल्युट् मानकर उक्त शब्दसिद्धि की है। यद्यपि यहाँ अन्वग् और व्यञ्जन में कोई वर्ण सादृश्य प्रतीत नहीं होता, पुनरपि भाष्यकार ने शिष्ट परम्परा से प्राप्त निर्वचन को दर्शा दिया है। अथवा यह समझा जा सकता है कि यहाँ व्यञ्ज् धातु के गति अर्थ को लेकर अन्वग् शब्द के द्वारा उसको अर्थापित कर दिया गया है। अब प्रश्न यह उठता है कि अनुगमन करनेवाला व्यञ्जन होता है, तो वह किस का अनुगमन करता है? इसके उत्तर में आचार्यों का कहना है, अच् के जो उदात्त, अनुदात्त, स्वरितादि गुण हैं, उनका वह अनुगमन करता है और शब्दशक्ति स्वभाववश पूर्व पर दोनों अचों का सन्निधान होने पर भी परवाले अच् के द्वारा पूर्ववाला हल् प्रभावित होता है, न कि पूर्ववाले अच् के द्वारा पर वाला हल्। जैसे 'पचति' आद्युदात्त शब्द है, जिसके कारण 'च' स्वरित है, तो चकार पकारोत्तर अकार से प्रभावित न होकर चकारोत्तर अकार का ही अनुगमन करनेवाला होगा।

हाय्यमादायोच्चार्यत इति व्यञ्जनम्' अर्थात् जो स्वर की सहायता से ही उच्चरित होता है, व्यक्त होता है, उसे व्यञ्जन कहते हैं। आचार्य उवट का कहना है **'व्यञ्जयन्ति प्रकटान् कुर्वन्त्यर्थानिति व्यञ्जनानि'** (उवटः-ऋ०प्रा० १.६) अर्थात् जो वर्ण अर्थों को व्यक्त करते हैं, प्रकट करते हैं, उन्हें व्यञ्जन कहते हैं। जैसे—कूपः, यूपः, सूपः, धूपः आदि। इनमें स्वर समान हैं, पर व्यञ्जन भिन्न-भिन्न हैं। इस भिन्नता के कारण से ही इन शब्दों में अर्थभेद हुआ है।

व्यञ्जनों के विषय में भाष्यकार लिखते हैं—**'व्यञ्जनानि पुनर्नटभार्यवद् भवन्ति। तद्यथा—नटानां स्त्रियो रङ्गगता यो यः पृच्छति कस्य यूयमिति, तं तं तव तवेत्याहुः। एवं व्यञ्जनान्यपि यस्य यस्याचः कार्यमुच्यते, तं तं भजन्ते'** (म०भा० ६.१.२)। अर्थात् व्यञ्जन नट की भार्या के समान होते हैं। जैसे कि—नटों की रङ्गगत स्त्रियों को जो भी यह पूछता है कि तुम किसकी हो? तो वे उत्तर देती हैं कि तुम्हारी-तुम्हारी। अर्थात् वे स्त्रियाँ (नटी) विविध नटों की होती हैं, अतः विविध नटों के साथ विविध धर्मवती (गुणवती) होती हैं। इसी प्रकार नटीस्थानी व्यञ्जन भी नटरूप अचों (स्वरों) के होते हैं। अर्थात् विविध स्वरों के साथ युक्त होकर तद्धर्मत्व से विविध धर्मवान् होते हैं।[१] वे धर्म कौन से हैं? उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि। जहाँ कहीं भी स्वरों के उदात्तादि कार्य का विधान किया गया हो, वहाँ-वहाँ व्यञ्जन भी तद्तद् उदात्तादि धर्मवान् होते हैं।[२] इस प्रकार स्वरों के विविध धर्मत्व को प्राप्त करना ही व्यञ्जनों का अन्वञ्जन

१. यो हि यमनुगच्छति स तद्वत् विविधं गच्छति (उद्योतः-म०भा० १.२.२९)।

२. व्यञ्जनं स्वरेण सस्वरम् (वा०प्रा० १.१०७)।

(अनुगमन) है।

प्रयोग— अकार उच्चारणार्थो व्यञ्जनेष्वनुबध्यते (व०शिक्षा ७.३)।

उदाहरण— क्, ख्, ग् आदि।

८. स्पर्श—'**कादयो मावसानाः स्पर्शाः**'[१] (शिक्षा ४.८)—'क' से लेकर मपर्यन्त २५ वर्णों (व्यञ्जनों) की स्पर्श संज्ञा है। इनके उच्चारण में जिह्वा स्व-स्व स्थान में पूर्ण स्पर्श करती है, इसलिए इन्हें स्पर्श कहते हैं—'**स्पृष्टप्रयत्नजन्यत्वात् स्पर्शाः**' (तै०प्रा०-वै०आ० १.७)। इनके उच्चारण में मुख के दो अवयवों (स्थान और करण) का पूर्ण स्पर्श होने से वायु क्षणभर के लिए अवरुद्ध होती है एवं सम्पृक्त अवयव जैसे ही एक दूसरे से पृथक् होते हैं, वैसे ही अवरुद्ध वायु पुनः बाहर निकलती है।

प्रयोग— स्पृष्टकरणाः स्पर्शाः (३.४)।
तत्र स्पर्शयमवर्णकारो वायुरयःपिण्डवत्० (५.१)।

९. वर्ग—'**स्पर्शानामानुपूर्व्येण पञ्चपञ्च वर्गाः**'[२] (तै०प्रा० १.१०) अर्थात् उक्त स्पर्श संज्ञक २५ वर्णों के यथाक्रम पाँच-पाँच वर्णों के समूहों की वर्ग संज्ञा है और वे वर्ग पाँच बनते हैं। जैसे कि—क ख ग घ ङ। च छ ज झ ञ। ट ठ ड ढ ण। त थ द ध न। प फ ब भ म।

इनमें से प्रत्येक वर्ग के प्रथम वर्ण के बाद वर्ग शब्द जोड़कर उस उस वर्ग का नाम रखा जाता है—'**प्रथमो वर्गोत्तरो वर्गाख्या**' (तै०प्रा० १.२७)। तद्यथा—कवर्गः[३], चवर्गः आदि। अथवा प्रत्येक वर्ग के प्रथम वर्ण में 'उ' लगाकर भी उस-उस वर्ग का ग्रहण किया जाता है—'**अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः**' (अष्टा० १.१.६८)। जैसे कि कु, चु, आदि। अथवा प्रथम वर्ण को कार-प्रत्यय के साथ 'वर्ग' शब्द को जोड़कर भी वर्ग का अभिधान किया जाता है। जैसे—'**मूर्धन्यौ षकारटकारवर्गौ, दन्तमूलीयस्तु तकारवर्गः**' (ऋ०प्रा० १.४३, ४४), '**पकारवर्गोपहिताच्च०**' (ऋ०प्रा० १४.५३)।

प्रयोग— वर्गाणाम्० (४.२.४)।
वर्ग्यो वर्ग्येण सवर्णः (६.१.१३)।

१. संज्ञाकरणसूत्र-ऋ०प्रा० १.७, तै०प्रा० १.७, वा०प्रा० ८.८-१३, व०र०प्र०शि० १३।
२. पञ्च ते पञ्चवर्गाः (ऋ०प्रा० १.८)।
३. कघटितो वर्गः कादिर्वर्गो वा कवर्गः—शाकपार्थिवादित्त्वात् समासः।

१०-१४. प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम—'**प्रथमद्वितीय-तृतीयचतुर्थोत्तमाः**' (तै०प्रा० १.११) प्रत्येक वर्ग के क्रमानुसार प्रत्येक वर्ण प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और उत्तम (पञ्चम) संज्ञक होते हैं।

प्रयोग— वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः......। वर्गाणां तृतीयचतुर्थाः[१]....।
यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः। सस्थानेन द्वितीयाः।
हकारेण चतुर्थाः (४.२,४, ६, ११, १२)।

१५. अनुनासिक—'**मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः**' (अष्टा० १.१.८) अर्थात् जो वर्ण मुख के साथ-साथ नासिका से भी बोला जाता है, वह अनुनासिक कहलाता है। यह महती संज्ञा अन्वर्थ की द्योतिका है। जो कि इस प्रकार है—'**अनु=पश्चात् मुखस्य नासिका व्याप्रियते यस्मिन् इत्यनुनासिकः**' (द्र० न्यासः १.१.८); '**नासिकामनु यो वर्णो निष्पद्यते स्वकीयस्थानमुपादाय स द्विस्थानोऽनुनासिक इत्युच्यते**' (उवटः-ऋ०प्रा० १.१४)। जैसे कि अँ, आँ, इँ...आदि। ङ्, ञ्, ण्.... आदि। यँ, वँ, लँ।

इन अनुनासिक वर्णों के उच्चारण में 'अलिजिह्वा' (कौवा) न ही कठोर होकर नासिका के द्वार को बन्द करती है और न ही शिथिल होकर मुखद्वार को ही बन्द करती है; अपितु मध्यम स्थिति में रहकर दोनों (मुख और नासिका) को खुला रखती है। फलस्वरूप वायु मुख एवं नासिका दोनों में प्रविष्ट होती है। अतः अनुनासिक वर्ण दोनों स्थानों से उच्चरित होते हैं।

प्रयोग— आनुनासिक्यमेषामधिको गुणः (४.७)।
०आनुनासिक्यभेदाच्च....(६.२)।
अन्तस्था द्विप्रभेदाः रेफवर्जिताः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च (६.११)।

१६. ऊष्म[२]—'**ऊष्मवायुप्रधाना वर्णा ऊष्माणः**'[३] अर्थात् जिन वर्णों के उच्चारण में प्रधान (विशेष) रूप से ऊष्म वायु मुख से निकलती हो, उन्हें ऊष्म वर्ण कहते हैं। इनके उच्चारण में स्पर्श वर्णों के तुल्य न ही मुख

१. इन सूत्रों में प्रथमादि संज्ञायें यमों के लिए भी प्रयुक्त हैं। इनके विषय में तृतीय परिशिष्ट (पृ० २११-२१३) में विस्तृत चर्चा करेंगे।
२. संज्ञाकरणसूत्र-ऋ०प्रा० १.१०, तै०प्रा० १.९, ऋ०त० १.२, वा०प्रा० ८.१६-१७।
३. उष्मा=वायुः, तत्प्रधानवर्णा ऊष्माणः (उवटः-ऋ०प्रा० १.१०)।
ऊष्माख्यबाह्यप्रयत्नयोगाद् ऊष्माणः (तै०प्रा०-वै०आ० १.९)।

के अवयवों का पूर्ण स्पर्श ही होता है और न ही वायु अवरुद्ध होती है, अपितु थोड़ा सा स्पर्श होता अर्थात् दो अवयवों (स्थान और करण) के मध्य में स्वल्प रिक्त स्थान रहता है। फलतः इस संकीर्ण भाग से निष्क्रम्यमाण वायु का दोनों अवयवों से घर्षण होता है। अत एव इन वर्णों को **'संघर्षी'** (Fricatives) भी कहते हैं। इस संघर्षण के कारण वायु में ऊष्मता उत्पन्न होती है। इसीलिये एतज्जन्य वर्णों को **'ऊष्म'** कहते हैं। और इन वर्णों के उच्चारण में वायु अवरुद्ध न होकर अविच्छिन्न गति से बाहर निकलती है। अतः इन्हें **'वायुप्रधान'** वर्ण भी कहते हैं।

वे ऊष्म वर्ण हैं—श, ष, स, ह।

प्रयोग— ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः (३.६)।
शादय ऊष्माणः (४.१०)। ऊष्मस्वरवर्णकारो० (५.३)।
रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति (६.१२)।

१७. अन्तस्थ[१]—**'स्पर्शोष्मणोर्वा स्वरस्पर्शयोर्वाऽन्तः मध्ये तिष्ठन्तीति अन्तस्थाः'**[२] अर्थात् स्पर्शसंज्ञक वर्णों और ऊष्मसंज्ञक वर्णों के मध्य में जो विद्यमान रहते हैं, उन्हें 'अन्तस्थ' कहते हैं अथवा स्वर एवं स्पर्श वर्णों के मध्य में जिनका उपदेश व स्थान है, वे अन्तस्थ संज्ञक हैं। वे वर्ण हैं—य व र ल।

ये अन्तस्थ वर्ण लोक-प्रचलित वर्णमाला में स्पर्श और ऊष्म वर्णों के मध्य रहते हैं। इनके उच्चारण में न तो स्पर्श वर्णों के सदृश करण का अपने-अपने स्थान में पूर्ण स्पर्श ही होता है और न ही स्वरों के तुल्य करण के स्पर्श का अभाव ही होता है, अपितु थोड़ा स्पर्श होता है और थोड़ा स्पर्श नहीं भी होता है।[३] अतः इस प्रयत्न की दृष्टि से इनकी गणना स्वर और स्पर्श वर्णों के मध्य में की जाती है। जैसे कि अष्टाध्यायी के प्रत्याहार सूत्रों में पढ़े गये हैं।[४] यणादेश की दशा में इक् (इ उ ऋ ऌ) वर्ण यण् (य्, व्, र्, ल्) के रूप में परिवर्तित होते हैं और सम्प्रसारण की दशा में यण् (अन्तःस्थ) वर्ण इक् के रूप में रूपान्तरित होते हैं। इससे ज्ञात होता है कि अन्तस्थ वर्णों का इक्-वर्णों के साथ साधर्म्य है। वह साधर्म्य अच्त्व धर्म ही है। अर्थात् अन्तःस्थ व्यञ्जन होते हुए भी इनमें अच्त्व भी है। इसीलिए इन्हें 'अर्धस्वर' भी कहते हैं।

प्रयोग— ईषत्स्पृष्टकरणा अन्तस्थाः (३.४)।
अन्तस्थवर्णकारो वायुर्दारुपिण्डवत् (५.२)।
अन्तस्था द्विप्रभेदा० (६.११)।

१८. रेफ—**'रिफ्यते विपाट्यते वस्त्रादिपाटनध्वनिवदुच्चार्यत इति रेफः'** (वै०आ०-तै०प्रा० १.१९) अर्थात् वस्त्रादि के फाड़ने में जो ध्वनि होती है, उसके सदृश जिसका उच्चारण होता है, उसे रेफ कहते हैं।

यद्यपि **'रादिफः'** (वार्त्तिक ३.३.१०८) से अवर्ण-युक्त 'र' वर्ण[१] से 'इफ' प्रत्यय करके 'रेफ' शब्द बनाया जाता है।[२] पुनरपि कहीं-कहीं संज्ञा के रूप में गृहीत होने के कारण यहाँ इसका निर्वचन दिखाया गया है। 'र' वर्ण से कार-प्रत्यय जोड़कर 'रकार' ऐसा प्रयोग करना अशुद्ध है। अतः यहाँ अत्यन्त सावधानी वर्तनी चाहिए।

प्रयोग— रेफो दन्तमूलीय एकेषाम् (१.१०)।
अन्तस्था द्विप्रभेदा रेफवर्जिताः० (६.११)।
रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति (६.१२)।

१९. विसर्जनीय—**'अः इति विसर्जनीयः'** (वा०प्रा० ८.२२, ऋ० तं० १.२)—'अः' इस वर्ण की विसर्जनीय संज्ञा है। यहाँ अवर्ण केवल उच्चारण के लिए है अथवा स्वरवर्णों का उपलक्षक है। अतः ':' इस बिन्दुद्वयरूप वर्ण मात्र की विसर्जनीय संज्ञा समझनी चाहिये। इसका यौगिक (वि+सृज्+अनीयर्) निर्वचन इस प्रकार है—**'वायोर्विसर्जनेन जन्यत्वाद् विसर्जनीयः'** (तै०प्रा०-वै०आ० १.१८) अर्थात् शीघ्रता के साथ वायु के विसर्जन से उत्पन्न वर्ण को विसर्जनीय कहते हैं। **'विविधरूपेण सर्जनीय**

---

१. संज्ञाकरणसूत्र-शिक्षा ४.९, ऋ०प्रा० १.९, तै०प्रा० १.८, वा०प्रा० ८.१४, १५, च०अ० १.२।
२. द्र०-उवट-ऋ०प्रा० १.९। जिह्वामध्यप्रभृतीनां करणानामन्तैर्जन्यत्वाद् यरलवा अन्तस्था इत्याख्यायन्ते (तै०प्रा०-वै०आ० १.८)।
३. ईषत्स्पृष्टकरणा अन्तस्थाः (शिक्षा २.५)।
४. ऐ औ च्। ह य व र ट्। ल ण्। ञ म ङ ण न म्।...... (अष्टा०)।

---

१. अकारसहितादेव स्वरूपादिफप्रत्ययो विधीयते, न तु केवलाद् (वै० आ०-तै०प्रा० १.१९)।
२. एफस्तु रस्य (तै०प्रा० १.१९), र एफेन च (वा०प्रा० १.३९)।

उच्चारणीय इति विसर्जनीयो विसर्गो वा' अर्थात् विविधरूप से जो उच्चारण करने योग्य है, उसे विसर्जनीय कहते हैं।[१] इसका विसर्ग नाम भी है। विपूर्वक **सृज विसर्गे** (धातु०दि० ६७, तुदा० १२४) धातु से विसर्ग शब्द निष्पन्न होता है। विपूर्वक सृज्-धातु का अर्थ विसर्जन, त्यागना होता है। अत: अर्थ होगा **'स्वरात् परं विसर्ज्य:, त्याज्यो निक्षेप्यो वेति विसर्ग:'** अर्थात् जो स्वर के पश्चात् विसर्जनीय है, त्याज्य [उच्चारणीय] है, वह विसर्ग कहलाता है।

प्रयोग— अकुहविसर्जनीया: कण्ठ्या: (१.२)।
हविसर्जनीयावुरस्यावेकेषाम् (१.३)।
०शषसविसर्जनीय.....(४.२)।
सर्वान्तेऽयोगवाहत्वाद्विसर्गादिरिहाऽष्टक: (व०शिक्षा ७.३)।

२०. जिह्वामूलीय—'ᳵक इति जिह्वामूलीय:' (वा०प्रा० ८.१९)— 'ᳵक' वर्ण जिह्वामूलीय संज्ञक है। **'जिह्वामूलेन जन्यत्वाद् जिह्वामूलीय:'** (तै०प्रा०-वै०आ० १.१८) अर्थात् 'ᳵक' यह वर्ण जिह्वामूल से उत्पन्न होने के कारण इसका नाम जिह्वामूलीय है। 'ᳵक' में कवर्ण मात्र उच्चारणार्थ है। 'ᳵ' इतने मात्र की जिह्वामूलीय संज्ञा है।

प्रयोग— जिह्वामूलीयो जिह्व्य: (१.४)
यमाश्च नासिक्यजिह्वामूलीया एकेषाम् (१.१८)।
०शषसविसर्जनीयजिह्वामूलीय.... (४.२)।

२१. उपध्मानीय—'ᳵप इत्युपध्मानीय:' (वा०प्रा० ८.२०)— 'ᳵप' इस वर्ण की उपध्मानीय संज्ञा है। **'उपध्मानेन जन्यत्वाद् उपध्मानीय:'** (तै०प्रा०-वै०आ० १.१८) अर्थात् दीपकादि को बुझाते समय जैसी फूंक मारी जाती है, वैसे=फूंक मारने जैसे प्रयत्न से 'ᳵप' वर्ण की उत्पत्ति होने के कारण उसे उपध्मानीय कहते हैं। यहाँ भी पवर्ण केवल उच्चारणसौविध्य के लिए है, 'ᳵ' इतने मात्र की ही उपध्मानीय संज्ञा है।

जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को अर्धविसर्ग वा अर्धविसर्जनीय भी कहते हैं।[२] क्योंकि विसर्ग का रूप शून्यद्वयात्मक (ः) है, इन दो शून्यों को

१. द्र०-आगे 'अकुहविसर्जनीया: कण्ठ्या:' (१.२) की व्याख्या।
२. कखतᳵ पफतᳵ पूर्व: क्रमादर्द्धविसर्गक:।
जिह्वामूलीयको ज्ञेय उपध्मानीयसंज्ञक:॥ (षो०शि० ९)

आधा-आधा (ः) करके, उनके मध्यस्थ भागों का ग्रहण करने पर 'ᳵ' यही रूप बनता है। उच्चारण में भी आधा प्रयत्न विसर्ग के उच्चारण जैसा ही होता है। जिह्वामूलीय (ᳵक, ᳵख) और उपध्मानीय (ᳵप, ᳵफ) को क्रमश: क, ख और प, फ से पूर्व लिखने का तात्पर्य, ये दोनों केवल इन्हीं वर्णों से युक्त होते हैं, अन्य वर्णों से नहीं, ऐसा नहीं है। क्योंकि महाभाष्यकार ने जकार से पूर्व भी उपध्मानीय माना है। जैसे कि **'अयमु ᳵजिरुपध्मानी-योपध: पठ्यते। तस्य जश्त्वे कृते 'उब्जिता', 'उब्जितुम्' इत्येतद् रूपं यथा स्यात्'** (म०भा०हयवरट्)। स्पष्ट है कि धातुपाठ में पठित **'उब्ज आर्जवे'** (तुदा० २०) धातु 'उᳵज्' के रूप में पठित है और उस उपधाभूत उपध्मानीय को **'झलां जश् झशि'** (अष्टा० ८.४.५३) से जश्त्व होने से ओष्ठ्यत्व सादृश्य के कारण उपध्मानीय के स्थान पर ओष्ठ्य 'ब्' आदिष्ट हो गया है। अत: स्पष्ट है कि उपध्मानीय अन्य वर्णों से पूर्व भी प्रयुक्त होता है। क, ख एवं प, फ वर्णों से पूर्व जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का स्पष्ट उच्चारण होने के कारण उन्हीं वर्णों से पूर्व लिखा जाता है।

प्रयोग— उपूपध्मानीया ओष्ठ्या: (१.१५)।
०शषसविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीया.....(४.२)।

२२. अनुस्वार—'अं इत्यनुस्वार:'[१] (वा०प्रा० ८.२१) 'अं' इस वर्ण की अनुस्वार संज्ञा है। यहां भी अकार उच्चारणार्थ व स्वरवर्णों का उपलक्षक है। **'अनु पश्चाद् अर्थाद् अन्य-[स्वर]-वर्णानन्तरं स्वर्यत उच्चार्यत इत्यनुस्वार:'** अर्थाद् व्यञ्जन-भिन्न स्वर वर्ण के पश्चात् उच्चारित किये जाने के कारण से 'अं' [ं] की अनुस्वार संज्ञा है। **'स्वर एव स्वार:, तं स्वारम् अनु-गतोऽनुस्वार:। स्वरात् परमुच्चारितत्वमनुस्वारत्वम्।'** अर्थात् स्वर को ही स्वार कहते हैं और स्वार (स्वर) का अनुगमन करने वाला अनुस्वार कहलाता है। स्वर के पश्चात् उच्चारण करना ही अनुस्वार का अनुस्वारत्व है।

अलाबुवीणानिर्घोषो नासामूल:[२] स्वरानुग:।
अनुस्वारस्तु कर्तव्यो नित्यं ह्रो: शषसेषु च॥ (श्लो०पा०शि० २३)

१. अं आं इत्यनुस्वारौ (ऋ०तं० १.२)।
२. श्लो०पा०शिक्षा में 'दन्तमूल्य:' या कहीं-कहीं 'दन्तमूल:' पाठ है। जो कि अशुद्ध है। क्योंकि अनुस्वार नासिक्य ध्वनि है (पा०शि० १.१६, श्लो०पा० शिक्षा० २२)। व०र०प्र० शिक्षा में इसे नासामूल माना गया है—
''यमानुस्वारनासिक्या नासामूलभवा दशा'' (३४)।

अलाबु (तुमड़ी, लौकी से निर्मित) वीणा के स्वर के समान (शुद्ध) नासिक्यध्वनि वाला, नासिकामूलोद्भव एवं स्वर के पश्चाद्भावी वर्ण ही अनुस्वार है। अनुस्वार का यह शुद्ध उच्चारण ह्, र्, श्, ष्, स् वर्णों के परे रहने पर ही होता है। क्योंकि अन्य वर्णों के परे रहने पर उसे परसवर्ण होता है।

इस अनुस्वार के तीन भेद हैं—

अनुस्वारस्य वेदे शलि रेफे परे भवेद्।
ह्रस्वाद्दीर्घो दीर्घाद्ध्रस्वः संयोगे च परे गुरुः॥ (के०शि० ५)

अर्थात् यजुर्वेद और सामवेद में अनुस्वार के बाद यदि श्, ष्, स्, ह् तथा र् में से कोई एक वर्ण हो, पूर्व में दीर्घ स्वर हो और संयोग परे न हो तो वह अनुस्वार 'ह्रस्वानुस्वार' (ꣳ) कहलाता है, यदि पूर्व में ह्रस्व स्वर हो तो वह 'दीर्घानुस्वार' (ꣴ) कहलाता है। श, ष आदि वर्ण आदि में हैं जिस संयोग में, ऐसे संयोग के परे रहते पूर्व में विद्यमान अनुस्वार 'गुरु-अनुस्वार' कहलाता है। तद्यथा—

ह्रस्वानुस्वार—उपाꣳशु, यजूꣳषि, माꣳसम्, इत्यादि।
दीर्घानुस्वार—त्रिꣴशत्, मैनꣴहिꣴसीः, सꣴहिता इत्यादि।
गुरु-अनुस्वार—सर्वं वै पूर्णꣴ स्वाहा।
द्यावापृथिवीभ्याꣴस्वाहा (तै०सं० १.२.२.१८)।

अद्यतन वेदपाठी इनका उच्चारण क्रमशः गुङ्, ग्वङ्, ग्ग् के रूप में करते हैं। जो कि सन्दिग्ध है।

प्रयोग— कवर्गावर्णानुस्वारजिह्वामूलीया० (१.५)।
अनुस्वारयमा नासिक्याः (१.१६)।
वर्गाणां....हकारानुस्वारौ० (४.४)।

२३. यम[1]—**'स्पर्शा यमान् अननुनासिकाः स्वान् परेषु स्पर्शेष्वनुनासिकेषु'** (ऋ०प्रा० ६.२९)—किसी भी वर्ग के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ स्पर्श वर्ण के तुरन्त बाद किसी भी वर्ग का पञ्चम वर्ण हो तो दोनों के बीच नासिका से बोले जानेवाले वर्ण की उत्पत्ति (श्रवण) होती है, जो वर्णसमाम्नाय में अनुपदिष्ट है, इसी को यम कहा जाता है। ये यम चार हैं—

१. इसकी विशेष चर्चा परिशिष्ट-३ में की जाएगी।

कुँ खुँ गुँ घुँ।

इन यमों के अपर नाम भी हैं। वे हैं—विच्छेद, अशरीर, नासिक्य,

प्रयोग— अनुस्वारयमा नासिक्याः (१.१६)।
यमाश्च नासिक्यजिह्वामूलीया एकेषाम् (१.१८)।
०यमौ च प्रथमद्वितीयौ....। (४.२)
०यमौ च तृतीयचतुर्थौ....(४.४)।
तत्र स्पर्शयमवर्णकारो.....(५.१)।
त इमे यमाः (व०शि० ७.४)।

२४. अयोगवाह[1]—**'यदयुक्ता वहन्ति, अनुपदिष्टाश्च श्रूयन्ते। के पुनरयोगवाहाः? विसर्जनीय-जिह्वामूलीय-उपध्मानीय-अनुस्वार-नासिक्य-यमाः'** (म०भा०हयवरट्)—जो वर्ण व्याकरणशास्त्र में अनुपदिष्ट होते हुए भी कार्य का वहन करते है, उन्हें अयोगवाह कहते हैं। वे अयोगवाह हैं—विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय अनुस्वार, नासिक्य और यम।

अयोगवाह का दूसरा नाम संयोगवाह है।

प्रयोग— सर्वान्तेऽयोगवाहत्वाद्विसर्गादिरिहाष्टकः (व०शि० ७.३)।

२५. अक्षर—**'सव्यञ्जनः सानुस्वारः शुद्धो वापि स्वरोऽक्षरम्'** (ऋ०प्रा० १८.३२) अर्थात् व्यञ्जन सहित व अनुस्वार से युक्त स्वर की अथवा विशुद्ध स्वतन्त्र स्वर की अक्षर संज्ञा है।[2]

१. सव्यञ्जन स्वर के उदाहरण दो प्रकार के हैं—

१.१ **'सहाद्यैर्व्यञ्जनैः'** (वा०प्रा० १.१००) आदिभूत व्यञ्जन सहित स्वर की अक्षर[3] संज्ञा होती है। जैसे—न, च, वै, द्वे आदि।

१.२ **'उत्तरैश्चावसितैः'** (वा०प्रा० १.१०१) अर्थात् स्वर के अन्त में विद्यमान व्यञ्जन और उससे पूर्व में स्थित स्वर, इन दोनों की अक्षर[4] संज्ञा होती है। उदा०—उत्, तत्, उर्क् वाक्, प्राङ् आदि।

२. सानुस्वार स्वर का उदाहरण—अं आदि। अनुस्वार को विसर्गादि

१. इसकी विशेष चर्चा परिशिष्ट-३ में की जाएगी।
२. उभये त्वक्षराणि (ऋ०प्रा० १.१९)। अपि च द्र०-व०र०प्र०शिक्षा-१६।
३. इस प्रकार के अक्षर को आधुनिक भाषाविज्ञानविद् 'मुक्ताक्षर' कहते हैं।
४. इस प्रकार के अक्षर को आधुनिक भाषाविज्ञानविद् 'बद्धाक्षर' कहते हैं।

अयोगवाहों का उपलक्षण मानकर विसर्गादि से युक्त स्वर की भी अक्षर संज्ञा समझ लेनी चाहिये। जैसे कि—अः, इः आदि।

३. '**स्वरोऽक्षरम्**' (वा०प्रा० १.९९) व्यञ्जनों से असम्पृक्त शुद्ध स्वर की अक्षर संज्ञा है। यथा—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ आदि। प्रातिशाख्यों में प्रायः केवल स्वरों की ही अक्षर संज्ञा मानी गई है। तद्यथा—'**अनुस्वारो व्यञ्जनञ्चाक्षराङ्गम्**' (ऋ०प्रा० १.२२), '**अक्षरव्यञ्जनानामनुपलब्धिर्ध्वानः**' (तै०प्रा० २३.७)। अत एव वैदिकाभरण में अक्षर की निरुक्ति की गई है कि '**न क्षरन्तीत्यक्षराणि, क्षरणमन्याङ्गतया चलनम्, तदभावात् स्वरेष्वक्षरशब्दो वर्तते**' (तै०प्रा० १.२)। जो किसी अन्य वर्ण का अङ्ग न बनता हो अर्थात् किसी की सहायता के विना, निरपेक्ष होकर उच्चरित होता है, उसे अक्षर कहते हैं। व्यञ्जन स्वरों की सहायता, अङ्गता की अपेक्षा रखते हैं। अतः (क्षरित होने के कारण) केवल व्यञ्जनों की अक्षर संज्ञा नहीं है।

ऋक्तन्त्र में अक्षर को वर्ण का पर्यायवाची माना है।[1] इस प्रकार के पूर्वाचार्यों वा शिक्षाकारों की ओर संकेत करते हुए महाभाष्यकार ने भी अक्षर को वर्णवाची माना है—

अक्षरं न क्षरं विद्यात्....वर्णं वाहुः पूर्वसूत्रे....(म०भा०आह्निक-२)।

अर्थात् जो क्षीण नहीं होता, उसे अक्षर जानें। जिसे पूर्वसूत्र (पूर्वाचार्यों की शिक्षा वा व्याकरण के ग्रन्थों) में वर्ण कहा गया है।

२६. सन्ध्यक्षर[2]—'**शुद्धस्वरद्वयसन्धिजन्यं एकवर्णवद्वृत्ति सन्ध्यक्षरम्**'[3]—अर्थात् दो शुद्धस्वरों[4] की सन्धि[5] से उत्पन्न होकर भी एक वर्ण के समान जिसका व्यवहार होता है, उसे सन्ध्यक्षर कहते हैं। इसे ही सन्धिस्वर, द्विस्वर, संयुक्तस्वर आदि कहते हैं। ये सन्ध्यक्षर चार हैं—ए, ऐ, ओ, औ।

किन-किन वर्णों की सन्धि से ये बने हैं, इसका विवरण निम्न प्रकार है[6]—

अ+इ	=ए	अ, आ+इ, ई	=ए
अ+उ	=ओ	अ, आ+उ, ऊ	=ओ
आ+इ	=ऐ	अ, आ+ए	=ऐ
आ+उ	=औ	अ, आ+ओ	=औ
		अ, आ+ऐ	=ऐ
		अ, आ+औ	=औ

इनके वर्णांशों की मात्राओं के विषय में विभिन्न आचार्यों के मत निम्न प्रस्तार में दिखाते हैं—

१. तं खल्विममक्षरसमाम्नायमित्याचक्षते (ऋ०तं० १.४)।
२. संज्ञाकरण-ऋ०प्रा० १.२, वा०प्रा० १.४५, ऋ०तं० १.२, च०अ० १.४०।
३. यह प्रातिशाख्यकारों एवं शिक्षाकारों के मतानुसार स्वनिर्मित लक्षण है।
४. जो स्वर सन्धिजन्य नहीं हैं, वे ही शुद्धस्वर कहलाते हैं, जिन्हें प्रातिशाख्यकारों ने समानाक्षर (ऋ०प्रा० १.१, तै०प्रा० १.२), सिम् (वा०प्रा० १.४४), समान (ऋ०तं० १.२) संज्ञाओं से व्यवहृत किया है। वे हैं—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ। इन शुद्धस्वरों की ही प्रातिशाख्यकारों ने 'अक्षर' संज्ञा की है। यही पारिभाषिक 'अक्षर' शब्द 'सन्ध्यक्षर' में प्रयुक्त है।
५. 'यत् समदधुस्तत् सन्धेः सन्धित्वम्' (जै०ब्रा० १.२०९) जो एक साथ रखा गया है, वह सन्धि का सन्धिपन है। अर्थात् वर्णों की समीपता को सन्धि कहते हैं। जिसे वैयाकरण 'संहिता' कहते हैं—'परः सन्निकर्षः संहिता' (अष्टा० १.४.१०८)।
६. इमावैचौ समाहारवर्णौ- मात्रावर्णस्य, मात्रेवर्णोवर्णयोः (म०भा०एओङ्; ऐऔच्; ८.२.१०६)। अकारस्य इकारेण उकारेण एकारेण ओकारेण च सह सन्धौ यान्यक्षराणि निष्पद्यन्ते तानि तथोच्यन्ते (उवटः ऋ०प्रा० १.२)।

वर्णांशमात्राप्रदर्शक प्रस्तार

वर्ण	वर्णांश	वर्णांशमात्रा	वर्ण–मात्रा	प्रमाण
ए,ऐ ओ,औ ए,ऐ ओ,औ	अ+इ, अ+इ अ+उ, अ+उ अ+इ, अ+इ अ+उ, अ+उ	½+१½, ½+१½ ½+१½, ½+१½ १+१, १+१ १+१, १+१	२, २ २, २ २, २ २, २	एचोश्चोत्तरभूयस्त्वात् (कात्यायन, म०भा० १.१.४८)। अर्धमात्रा तु कण्ठ्यस्य एकारैकारयोर्भवेत्। ओकारौकारयोर्मात्रा—(पा०शि० श्लोक–१९)॥
ऐ,औ	अ+इ, अ+उ	½+१½, ½+१½	२, २	अकारार्धमैकारौकारयोरादिः। इकारोऽध्यर्धः पूर्वस्य शेषः। उकारस्तूत्तरस्य। (तै०प्रा० २.३६, २८, २९)
ए,ऐ ओ,औ	अ+इ, अ+इ अ+उ, अ+उ	१+१, १+१ १+१, १+१	२, २ २, २	इमावैचौ समाहारवर्णौ–मात्रावर्णस्य मात्रेवर्णोवर्णयोरिति (म०भा० ८.२.१०६)। सन्ध्येष्वकारोऽर्धमिकार उत्तरं युजोरुकार इति शाकटायनः (ऋ०प्रा० १३.३९)।
ऐ,औ	अ+इ, अ+उ	¾+१¼,¾+१¼	२, २	यथा तत्र ह्रस्वोऽनुस्वारः पादमात्राधिक उपधा च तावता न्यूनता, एवमिहापि द्रष्टव्यम्। इवर्णोवर्णयोर्भूयसी मात्रा अल्पीयसी अवर्णस्य, यस्मात्तयोर्वैषम्यान्न क्षीरोदकवत् संसर्गो भवति, तस्मात्तयोरवर्णस्य इवर्णोवर्णयोश्च पृथक् श्रवणं भवति (पशुपति–व्याख्या, ऋ०प्रा० १३. १६)।

प्रयोग— द्विवर्णानि सन्ध्यक्षराणि (१.२२)।
सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति (६.७)।

२७. मात्रा—'वर्णोच्चारणकालपरिमापकाल्पांशो मात्रा'[१] अर्थात् वर्णोच्चारण–काल के परिमापक अल्पांश को मात्रा कहते हैं।

इस मात्रा के परिमाण के विषय में आचार्यों का कथन इस प्रकार है—

१. यह आचार्यों के मतानुसार स्वनिर्मित लक्षण है।

'निमेषो मात्राकालः स्याद् विद्युत्कालेति चापरे॥[१]
सूर्यरश्मिप्रतीकाशात् कणिका यत्र दृश्यते।
आणवस्य तु सा मात्रा मात्रा तु चतुराणवी॥'[२] (या०शि० ८.९)

(१) निमेष=जितने काल में आँखें झपकती हैं, वह काल 'मात्रा' है।[३] किन्हीं का मत है कि (२) जितने काल में बिजली चमकती है, वह काल 'मात्रा' है। अथवा (३) झरोखे में से निकली सूर्य–किरण में छोटा सा कण जितनी देर दिखाई देता है, उस काल को 'अणु' कहते हैं, ऐसे चार अणु–काल को मात्रा कहते हैं।[४]

'चाषस्तु वदते मात्राम्' (या०शि०–१३)[५]—(४) चाष=नीलकण्ठ पक्षी जितने काल में बोलता है, उसे 'मात्रा' कहते हैं।

कालेन यावता पाणिः पर्येति जानुमण्डले।
सा मात्रा कविभिः प्रोक्ता ह्रस्वदीर्घप्लुते मता॥
वामजानुनि तद्धस्तभ्रमणं यावता भवेत्।
कालेन मात्रा सा ज्ञेया मुनिभिर्वेदपारगैः॥ (तन्त्रसारः)

(५) जितने काल में घुटने के चारों ओर हाथ चलता है, उतना काल 'मात्रा' कहा जाता है।

महर्षि दयानन्द का कथन है कि—(६) "जितने समय में अङ्गुष्ठ के मूल की नाड़ी की गति एक बार में होती है" [उसे 'मात्रा' कहते हैं] (व०शिक्षा)।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में इस इकाई का परिमाण एक सैकण्ड मानना उत्तम है। इसका उच्चारण व्यक्ति–व्यक्ति में शारीरिक व सामाजिक प्रभाव के कारण न्यूनाधिक काल में भी होता है। जो कि द्रुतादिवृत्तिविषयक

१. अपि च द्र०–ना०शि० (२.२.८)।
२. अपि च द्र०–लो०शि० (८.८)।
३. अक्ष्णोर्निमेषमात्रेण यो वर्णः समुदीर्यते। स एकमात्रो० (अ०मां०शि० १३७)।
४. यह चार अणु का परिमाण उच्चरित मात्रिक स्वर में माना गया है—
हृदयस्थमणु विद्यात् कण्ठे विद्यात् द्विराणवत्।
त्रिराणवन्तु जिह्वाग्रे निसृतं मात्रिकं भवेत्॥ (लो०शि० ८.८)।
५. अपि च द्र०–व०र०प्र०शि०–२२, लो०शि०–८.९; पा०शि० श्लोक०–४९।

है,[१] न कि मात्राविषयक।

यह कोई न्यूनतम इकाई नहीं है, क्योंकि इससे भी छोटी इकाईयों का वर्णन शिक्षा एवं प्रातिशाख्य ग्रन्थों में मिलता है। जिसे आगे स्पष्ट करने ही वाले हैं। यद्यपि शिक्षा-सूत्रों में इस 'मात्रा' संज्ञा का प्रयोग नहीं हुआ है, पुनरपि ह्रस्वादि संज्ञाओं को समझने के लिये अनिवार्य होने से इसे यहाँ बता दिया गया।

२८-३०. ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत—'ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः' (अष्टा० १.२.२७) कुक्कुट कु, कू, कू३ ऐसा क्रमशः एकमात्रा, दो मात्रा और तीन मात्रा के शब्दों का उच्चारण करता है। इन्हीं शब्दों (ध्वनियों) का अनुकरण करते हुये आचार्य पाणिनि कहते हैं कि ऊकाल अर्थात् उ, ऊ, ऊ३ (इस कुक्कुट शब्द) के काल के समान काल वाले स्वर क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत संज्ञक होते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि एक मात्रा काल वाले 'उ' के समान काल है जिस स्वर का, वह (अर्थात् एक मात्रा काल में उच्चरित होनेवाला स्वर) ह्रस्व कहलाता है। जैसे—अ, इ, उ.....आदि। दो मात्रा काल वाले 'ऊ' के समान काल है जिस स्वर का, वह (अर्थात् दो मात्रा काल में उच्चरित होने वाला स्वर) दीर्घ कहलाता है। यथा—आ, ई, ऊ....आदि। तीन मात्रा काल वाले 'ऊ३' के समान काल है जिस स्वर का, वह (अर्थात् तीन मात्रा काल में उच्चरित होनेवाला स्वर) प्लुत कहलाता है।[२] तद्यथा—आ३, ई२, ऊ३..... आदि। इसी अभिप्राय को शिक्षाकारों ने इस प्रकार प्रकट किया है—

एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं चार्धमात्रिकम्॥ (या०शि०-१३)[३]

एक मात्रा काल की चर्चा पहले कर चुके हैं, वैसे ही अन्य दो मात्राओं

१. वर्णोपलब्धिकालभेदाद् वर्णकालभूयस्त्वमुच्यते। द्रुतायां स्वल्प उपलब्धिकालः। मध्यमायामधिकः। विलम्बितायमधिकतर.......ध्वनिभेदाद् वृत्तिभेदः (प्रदीप: १.४.१०८)

२. यह एक सामान्य या उपलक्षणात्मक कथन है। यथार्थतः दो से अधिक मात्रा वाला स्वर प्लुत कहा जाता है, जैसे दो से अधिक संख्या को बहुवचन कहा जाता है। इससे 'इष्यत एव चतुर्मात्र प्लुतः' (म०भा० ८.२.१०६) आदि वचन सुसंगत होंगे।

३. अपि च द्र०-लो०शि०-८.१०, व०र०प्र०शि० २२।

के विषय में अनुकरण-सौविध्यार्थ श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा को उद्धृत करते हैं—

चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रं त्वेव वायसः।
शिखी रौति त्रिमात्रं तु नकुलस्त्वर्धमात्रकम्॥[१] (पा०शि०-४९)

अर्थात् चाष (नीलकण्ठ) पक्षी के समान (एक) मात्रा काल का उच्चारण करना चाहिये और दो मात्रा को वायस (कौवे) के समान, तीन मात्रा काल को मोर के सदृश तथा अर्धमात्रा को नेवले के तुल्य बोलना चाहिये।

इसके अनुसार ह्रस्वादि संज्ञाओं का लक्षण निम्न प्रकार समझना चाहिए—

१. ह्रस्व[२]—'चाषरुततुल्यकाल एकमात्रः स्वरो ह्रस्वः' अर्थात् नीलकण्ठ पक्षी का शब्द जितने काल में उच्चरित होता है, उतने ही काल में उच्चरित होनेवाला एकमात्रिक स्वर ह्रस्व कहलाता है।

२. दीर्घ[३]—'ह्रस्वद्विगुणकालो वायसरुततुल्यकालस्वरो दीर्घः' (तै०प्रा०-वै०आ० १.३५)। अर्थात् ह्रस्व वर्ण के दुगुना काल वाला, कौवे का शब्द जितने काल में उच्चरित होता है, उतने ही काल में उच्चरित होनेवाला स्वर दीर्घ कहलाता है।

३. प्लुत[४]—'ह्रस्वत्रिगुणकालो मयूररुततुल्यकालस्वरः प्लुतः' (तै०प्रा०-वै०आ० १.३६)। अर्थात् ह्रस्व वर्ण के तिगुना कालवाला, मोर का शब्द जितने काल में उच्चरित होता है, उतने ही काल में उच्चरित होने वाला स्वर प्लुत कहलाता है। प्लुत के लिए ऋक्तन्त्र में वृद्धसंज्ञा का प्रयोग किया गया है—**''तिस्रो वृद्धम्''** (ऋ०त० २.४४), द्र०लो०शि० २।

१. अन्यत्र भी कहा गया है कि—
चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रां वायसोऽब्रवीत्।
मयूरस्तु त्रिमात्रां वै मात्राणामिति संस्थितिः॥
(ऋ०प्रा० १३.५०, या०शि० १६, लो०शि० ९)

२. संज्ञाकरण-ऋ०प्रा० १.१७, तै०प्रा० १.३१-३३; वा०प्रा० १.५५; च०अ० १.५९; ऋ०तं० ४०।

३. संज्ञाकरण-ऋ०प्रा० १.१८; तै०प्रा० १.३५; वा०प्रा० १.५७; ऋ०तं० ४३, च०अ० १.६०, अ०प्रा० १२३।

४. संज्ञाकरण-ऋ०प्रा० १.३०; तै०प्रा० १.३६, वा०प्रा० १.५८; ऋ०तं० ४४; च०अ० १.६२।

कालांशप्रदर्शक प्रस्तार

क्रम सं०	संज्ञा	मात्रा	उच्चारण-कर्त्ता का अनुभूति स्थान	उदाहरण	प्रमाण
१	लेश/परमाणु/लघु-प्रयत्नतर/लघुप्रयत्न	१/८	मानस	ध्रुवाव् अस्मिन्	तै०प्रा०१०.२३; वा०प्रा० १.६१; ऋ०तं० ४.४; लेशो नाम लुप्तवदुच्चारणम् (त्रि०र०-तै०प्रा० १०.२३)
२	अणु/श्रुति	१/४	मानस या हृदय	ऋकार का आद्य स्वरांश	वा०प्रा० १.६०; उवट-वा० प्रा०४.१४८; या०शि०१०, लो०शि० ८.८; अणुर्नाम ह्रस्वकालस्य चतुर्थोऽशः(वै० आ०-तै०प्रा० ९.३); मात्रि-कस्य ऋकारस्यादिरणुमात्रा स्वरभागः (त्रि०र०)।
३	द्व्यणुक	१/२	कण्ठ	ऋकार में रेफांश	उवट-वा०प्रा० ४.१४८; या०शि० १०; लो०शि०८.८
४	त्र्यणुक	३/४	जिह्वाग्र	ऋकार में रेफांश	अ०सं०१६.५३; या० शि० १०; लो०शि० ८.८
५	सार्धत्र्यणुक	७/८	निःसृत	'अं' का अकार	पशुपतिव्याख्या ऋ०प्रा० १३.१३
६	ह्रस्व	१	जिह्वाग्र	अ	या०शि०१३,ऋ०तं०४.१०;५.२
७	सपादमात्रक	११/४	,,	'ऐ' का इकारांश 'औ' का उकारांश	पशुपतिव्याख्या ऋ०प्रा० १३.१६
८	अध्यर्धमात्रक	११/२	,,	,,	तै०प्रा० २.२८
९	दीर्घ	२	,,	आ	या०शि० १३; ऋ० तं०५.३
१०	अर्धतृतीय	२१/२	,,	'ओम्' का ओकार 'ऋति ऋ वा', 'लृति लृ वा' से विहित ॠ, ॡ	प्रदीप-म०भा० १.१.९
११	प्लुत/वृद्धम्	३	,,	आ३	या०शि० १३, ऋ०तं० ५.४
१२	चतुर्मात्रः षण्मात्रो वा	४ ६	,,	'ओम्' का ओकार	ऋ०प्रा० १५.५, इष्यत एव चतुर्मात्रः प्लुतः (म०भा० ८.२.१०६)

इस प्रकार मात्रा, द्विमात्रा आदि कालांशों का ह्रस्वादि संज्ञाओं के साथ भलीभाँति परिचय दिया गया है। अन्य कालांशों को भी परिचयार्थ संज्ञाओं के साथ उक्त प्रस्तार में दिखाया है।

प्रयोग— ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च० (६.२)।
लृवर्णस्य दीर्घा न सन्ति (६.४)।
यदा दीर्घाः स्युः......(६.६)।
सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति (६.७)।

३१. उदात्त—'उच्चैरुदात्तः' (अष्टा० १.२.२९)[1] उच्च (ऊर्ध्व) स्थान से उच्चरित स्वर उदात्त कहलाता है। इसका तात्पर्य निम्न प्रकार है—

कण्ठ, तालु, मूर्धा आदि स्थानों में जिह्वा का स्पर्श होने से स्वर एवं व्यञ्जन रूपी वर्णों की उत्पत्ति होती है। कण्ठ आदि प्रत्येक विभाग को तीन-तीन प्रविभागों में विभाजित करने पर, उनमें जो तृतीय संख्यावाला प्रविभाग है, वही स्व-स्व स्थान का ऊर्ध्व स्थान है। इस स्थान से उच्चारित स्वर ही उदात्त कहलाता है।[2]
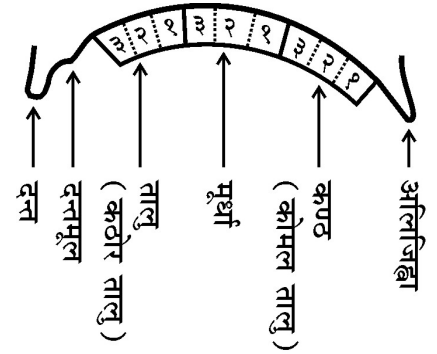
(चित्र—१)

इस उदात्तत्व (उच्चत्व) को सम्पन्न करनेवाले साधन इस प्रकार हैं—

'आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य' (तै०प्रा० २२.९, म०भा० १.२.२९)-(आयामः)[3] शरीर के अवयवों को सख्त रखना,

१. अपि च द्र०—ऋ०प्रा० ३.१, तै०प्रा० १.३८, वा०प्रा० १.१०८, च०अ० १.१४।

२. एकस्मिंस्ताल्वादिके स्थाने ऊर्ध्वाधरभागयुक्ते ऊर्ध्वभागेनोच्चार्यमाण उदात्तः, अधरभागनिष्पन्नोऽनुदात्तः। एवं चोच्चैरित्यनेनोर्ध्वभागो गृह्यते, नीचैरित्यधरभागः। अभ्याससमधिगम्यश्चायं स्वरविशेषः षड्जादिवद्विज्ञेयः।
(प्रदीपः-म०भा० १.२.२९, ३०)
ऊर्ध्वमात्तमिति चात उदात्तम् (म०भा० १.२.३२)। ताल्वादिषूर्ध्वदेशे उच्चारणेन [आत्तम्] गृहीतमित्यर्थः (उद्योतः-तत्रैव)।

३. आयामो नाम वायुनिमित्तमूर्ध्वगमनं गात्राणाम्, तेन य उच्यते स उदात्तः।
(उवट-ऋ०प्रा० ३.१)।

(दारुण्यम्) स्वर का रूखापन, (अणुता खस्य) कण्ठ को संवृत [संकुचित] करना, ये सब (शब्दस्य) शब्द [स्वर] के (उच्चैःकराणि) उदात्तत्व को निष्पन्न करने वाले हैं।[१] अर्थात् इन-इन प्रयत्नों से उदात्त का उच्चारण करना चाहिये व इन-इन प्रयत्नों से उच्चरित स्वर उदात्त कहलाता है।

प्रयोग— त्रैस्वर्योपनयेन च (६.२)।

३२. अनुदात्त—'नीचैरनुदात्तः' (अष्टा० १.२.३०)[२] कण्ठादि स्थानों के निचले स्थान (अर्थात् प्रत्येक विभाग के प्रथमसंख्याक प्रविभाग) से उच्चरित स्वर अनुदात्त कहलाता है।[३]

इस अनुदात्तत्व (नीचत्व) को सम्पादित करनेवाले साधन इस प्रकार हैं—**'अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि'** (तै०प्रा० २२.१०, म०भा० १.२.३०) अर्थात् (अन्ववसर्गः) शरीर के अवयवों को शिथिल [ढीला] रखना, (मार्दवम्) स्वर की मृदुता, स्निग्धता, (खस्य उरुता) कण्ठ की विस्तीर्णता अर्थात् कण्ठ को संवृत न करके विवृत करना, ये सब (शब्दस्य नीचैःकराणि) शब्द के नीचत्व [अनुदात्तत्व] को सम्पन्न करने के करण [साधन] हैं अर्थात् शब्द [स्वर] को अनुदात्त करनेवाले हैं।[४]

प्रयोग— त्रैस्वर्योपनयेन च (६.२)।

३३. स्वरित—'समाहारः स्वरितः' (अष्टा०१.२.३१; तै०प्रा० १.४०)[५] जिस स्वर में उदात्त और अनुदात्त इन दोनों का समाहार (मिश्रण) है, उसे स्वरित कहते हैं।[६] इसे आचार्य शौनक और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—**'एकाक्षरसमावेशे पूर्वयोः स्वरितः स्वरः'** (ऋ० प्रा० ३.३) उदात्त एवं अनुदात्त इन दोनों पूर्वस्थितों का एक ही अक्षर में समावेश (समाहार) होने पर, वह अक्षर स्वरित स्वरवाला होता है। यह अन्वर्थ संज्ञा है। **'स्वृ शब्दोपतापयोः'** (धातु०भ्वा० ६६६) धातु से अच् प्रत्यय होकर 'स्वर' शब्द निष्पन्न होता है। स्वर शब्द से **'तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्'**

१. शब्दस्य उच्चैःकराणि=शब्दमुच्चैः उदात्तं कुर्वन्तीत्यर्थः। (त्रि०र०-तै०प्रा० २२.९)
२. द्र०-ऋ०प्रा० ३.१, तै०प्रा० १.३९, वा०प्रा० १.१०९, च०अ० १.१५।
३. समाने स्थाने हृदयासन्ने अधोभागे जातेन प्रयत्नेन उच्चार्यमाणस्वरोऽनुदात्तगुण-कत्वादनुदात्तसंज्ञो भवति। उदात्तविरुद्धगुणोऽनुदात्तः। (वै०आ०-तै०प्रा० १.३९)
४. शब्दस्य नीचैःकराणि शब्दं नीचैरनुदात्तं कुर्वन्तीत्यर्थः। (त्रि०र०-तै०प्रा० २२.१०)
५. अपि च द्र०-ऋ०प्रा० ३.१, ३; वा०प्रा० १.११०; च०अ० १.१६।
६. उदात्तादि स्वरों के स्वरूपविवेचन के लिए परिशिष्ट-४ को देखें

(अष्टा० ५.२.३६) से 'इतच्' प्रत्यय होकर 'स्वरित' शब्द निष्पन्न होता है। तो व्युत्पत्त्यर्थ इस प्रकार होगा—**'स्वरः संजातः यस्य सः स्वरितः'** अर्थात् उदात्त एवं अनुदात्त स्वरों के मिश्रण से स्वर विशेष उत्पन्न हो गया है जिस स्वर में उसे 'स्वरित' कहते हैं।

मूर्धा

स्वरितोच्चारण की गति

(चित्र—२)

इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए पूर्व प्रदर्शित चित्र (१) में से एक मूर्धांश भाग को लेकर समझाते हैं। इसे दो भागों में विभाजित कर देते हैं। इनमें प्रथम भाग निचला है, जहाँ से अनुदात्त (नीचैः) का उच्चारण होता है। द्वितीय भाग है ऊर्ध्व, जहाँ से उदात्त (उच्चैः) का उच्चारण होता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि सामान्यतः गति यहाँ नीचे से ऊपर को है (नी→ऊ)। इन दो भागों (नी, ऊ) के मध्यवर्त्ती भागों को लेकर एक तीसरा भाग बना देते हैं। तो इनमें 'नी' का अंश 'नीं' तथा 'ऊ' का अंश 'ऊं' दोनों सम्मिलित हैं। बस इसी नीं, ऊं अंशों से उच्चरित स्वर ही स्वरित कहलाता है। और यह उदात्त एवं अनुदात्तों का मिश्रण (ऊं+नीं) नीरक्षीरवत् न होकर तिल-तण्डुलवत् पृथक्-पृथक् होता है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि स्वरित के उच्चारण में आयामादि उदात्तकरों तथा अन्ववसर्गादि अनुदात्तकरों का भी समाहार होता है अर्थात् शरीरावयवों को न सख्त, न ही शिथिल रखना, स्वर में न दारुण्यता, न ही मार्दव रहना और कण्ठ को न संकुचित करना, न ही विस्तृत। सभी मध्यम प्रयत्न हों। ये ही स्वरितकर हैं, स्वरित को उत्पन्न करनेवाले हैं।[१] इस प्रकार स्वरित में दोनों का समाहार होने के कारण ही महाभाष्यकार ने स्वरितकरों का पृथक् से उल्लेख नहीं किया।

स्वरित के उच्चारण में यह शंका उठती है कि पहले उदात्त का उच्चारण करें या अनुदात्त का? सामान्य गति (नी→ऊ) को देखने से यही प्रतीत होता है कि पहले अनुदात्त का उच्चारण कर बाद में उदात्त का अर्थात् जिह्वा के स्पर्श की गति नीं से ऊं की ओर होनी चाहिये। पर ऐसा नहीं, स्वरित के उच्चारण में सीधी गति (नीं→ऊं) का आश्रय न लेकर तिर्यग्गति (ऊं→नीं)

१. उदात्तस्योर्ध्वगमनं गात्राणां प्रयत्नः, अनुदात्तस्याधोगमनं गात्राणां प्रयत्नः, आभ्यां प्रयत्नाभ्यां समाहारीभूतानां यः स्वर उच्चार्यते स स्वरितसंज्ञो भवति (वा०प्रा० १.११०—उवटः)।

का अनुकरण किया जाता है। इसी तिर्यग्गमन को आचार्यों ने '**आक्षेप**' संज्ञा दी है।[१] अब हम कह सकते हैं कि ॐ नीं भाग में जिह्वा के आक्षेप (तिर्यग्गमन) से उच्चरित स्वर स्वरित कहलाता है—'**आक्षिप्तः स्वरितः**' (च०अ० १.१६)। अर्थात् पहले उदात्त का उच्चारण कर पश्चात् अनुदात्त का करना चाहिये।

पुनः एक प्रश्न उदित होता है कि कितने काल तक उदात्त का उच्चारण करना चाहिए और कितने काल तक अनुदात्त का? इसका समाधान महर्षि पाणिनि ने दिया है कि '**तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्**' (अष्टा० १.२.३२)। स्वरित वर्ण की आद्य अर्धह्रस्व (½) मात्रा उदात्त होती है और शेष अनुदात्त। अर्थात् एकमात्रिक ह्रस्व वर्ण स्वरित हो तो उसमें आद्य अर्धह्रस्व (½) मात्रा उदात्त और शेष आधी (½) मात्रा अनुदात्त होती है। वैसे ही दीर्घ स्वरित वर्ण में आद्य ½ मात्रा उदात्त एवं अवशिष्ट १½ मात्रा अनुदात्त, प्लुत स्वरित में आद्य ½ मात्रा उदात्त, शिष्ट २½ मात्रा अनुदात्त होती है। प्लुत की चार मात्रा भी मानी जाती है।[२] इस पक्ष में आद्य ½ मात्रा उदात्त रहती है तो बची ३½ मात्रा अनुदात्त रहती है।

स्वरित के नौ भेद हैं। वे निम्नप्रकार हैं—
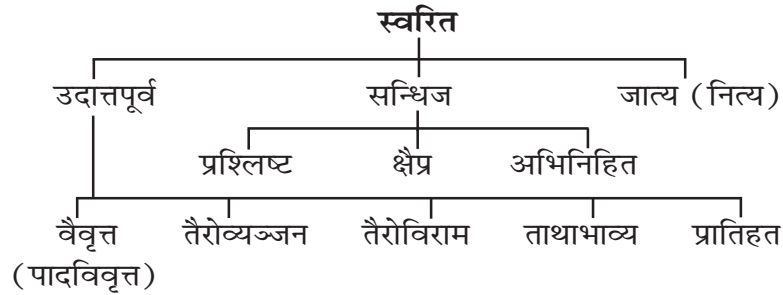
३३.१ वैवृत्त स्वरित (पादविवृत्त स्वरित)—सन्धि रहित पदान्त एवं पदादि स्वरों के मध्य-अवकाश [व्यवधान] को 'विवृत्ति' कहते हैं।[३]

१. आक्षेपो नाम तिर्यग्गमनं गात्राणां वायुनिमित्तम्। तेन य उच्यते सः स्वरितः। (उवटः-ऋ०प्रा० ३.१)
२. इष्यत एव चतुर्मात्रः प्लुतः (म०भा० ८.२.१०६)।
३. स्वरान्तरं तु विवृत्तिः (ऋ० प्रा० २.३), स्वरयोरसन्धिर्विवृत्तिः (वै०आ०-तै०प्रा० २०.६)।

जैसे—'**नू इत्था**' (ऋ० १.१३२.४)। इस काल व्यवधान रूप विवृत्ति के व्यवधान होने पर भी पदान्त उदात्त से उत्तर पदादि अनुदात्त स्वरित होता हो[१] तो उस स्वरित को '**वैवृत्त स्वरित**' कहते हैं, यदि उस अनुदात्त के बाद उदात्त या स्वरित न हो तो।[२] इसे ही तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में 'पादविवृत्त स्वरित' कहते हैं।[३] इसे संक्षिप्त में इस प्रकार समझें—[स्थिति] उदात्त+विवृत्ति+ अनुदात्त+अनुदात्त=[फल] उदात्त+विवृत्ति+स्वरित+अनुदात्त (एकश्रुति)। यथा—यः+इन्द्र=य इन्द्र (ऋ० ८.१२.१)।

३३.२ तैरोव्यञ्जन स्वरित—उदात्त और अनुदात्त के मध्य में व्यञ्जन का व्यवधान होने पर भी अनुदात्त को स्वरित हो जाता हो तो, उसे 'तैरोव्यञ्जन स्वरित' कहते हैं, यदि उस अनुदात्त के बाद उदात्त या स्वरित न हो तो।[४] इसका सूत्ररूप यह है-[स्थिति] उदात्त+व्यञ्जन+अनुदात्त+अनुदात्त=[फल] उदात्त+व्यञ्जन+स्वरित+अनुदात्त (एकश्रुति)। जैसे—

अग्निम्+ईडे=अग्निमीळे (ऋ० १.१.१)

३३.३ तैरोविराम स्वरित—अवग्रह से व्यवहित उदात्तपूर्व स्वरित 'तैरोविराम स्वरित' कहलाता है।

सूत्ररूप— [स्थिति] उदात्त+अवग्रह+अनुदात्त=[फल] उदात्त+अवग्रह+स्वरित।

उदाहरण— गोपताविति गोऽपतौ (यजु० १.१)।
यज्ञपतिमिति यज्ञऽपतिम् (यजु० ६.११)।

पदपाठ में जब सामासिक पदों को तथा कुछ अन्य पदों में प्रकृति और प्रत्यय को 'ऽ' इस चिह्न के द्वारा पृथक् किया जाता है तथा इस प्रकार पृथक् किये गये पूर्वपद तथा उत्तरपद के उच्चारण के मध्य में एक मात्रा काल का व्यवधान होता है, तो उस एक मात्रा काल वाले व्यवधान को ही 'अवग्रह'

१. उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (अष्टा० ८.४.६५)
२. उदात्तपूर्वं नियतं विवृत्त्या व्यञ्जनेन वा। स्वर्यतेऽन्तर्हितं न चेदुदात्तस्वरितोदयम्॥ (ऋ०प्रा० ३.१७)
३. पदविवृत्त्यां पादविवृत्तः (तै०प्रा० २०.६)।
४. उदात्तपूर्वं नियतं विवृत्त्या व्यञ्जनेन वा। स्वर्यतेऽन्तर्हितं न चेदुदात्तस्वरितोदयम्॥ (ऋ०प्रा० ३.१७)

कहते हैं।[१] जैसे कि ऊपर के उदाहरणों में दिखाया गया है।

३३.४ ताथाभाव्य स्वरित—अवग्रह से युक्त पूर्ववद के अन्त में विद्यमान अनुदात्त, जब दो उदात्तों के मध्य में होगा, तब उसे 'ताथाभाव्य स्वरित' कहते हैं।[२]

जैसे—तनूनपादिति तनूँऽनपात् (तै०सं० पदपाठ ४.१.८.१)।

३३.५ प्रातिहत स्वरित—पदान्त में विद्यमान उदात्त से उत्तर पदादि में विद्यमान अनुदात्त को जो स्वरित होता है, उसे 'प्रातिहत स्वरित' कहते हैं।[३]

जैसे—इषे+त्वा+ऊर्जे+त्वा=इषे त्वोर्जे त्वा (तै०सं० १.१.१)

३३.६ प्रश्लिष्ट स्वरित—उदात्त इकार और अनुदात्त इकार के स्थान पर जो स्वरित दीर्घ ईकारादेश होता है, उसे 'प्रश्लिष्ट स्वरित' कहते हैं।[४]

सूत्ररूप— [स्थिति] इ+इ=[फल] ई

उदाहरण— स्रुचि+इव=स्रुचीव (ऋ० १०.९१.१५)

तै०प्रा० के अनुसार क्रमशः उदात्त एवं अनुदात्त उकारों की सन्धि से उत्पन्न स्वरित दीर्घ ऊकार 'प्रश्लिष्ट स्वरित' कहलाता है।[५]

जैसे—सु+उद्गाता=सूद्गाता (तै०सं० ७.१.८)

३३.७ क्षैप्र स्वरित—उदात्त इकार और उकार के स्थान पर क्रमशः य्, व् आदेश होने पर परवर्त्ती अनुदात्त को स्वरित हो जाता है। इसे ही 'क्षैप्र स्वरित' कहते हैं।[६]

जैसे—नु+इन्द्र=न्विन्द्र (ऋ० १.८२.१)

३३.८ अभिनिहित स्वरित—पदान्त में विद्यमान उदात्त एकार वा ओकार से उत्तर अनुदात्त अकार का पूर्वरूप [लोप] होने पर जो स्वरित

१. द्र०-ऋ०प्रा० १.२८, तै०प्रा० १.४९, वा०प्रा० ५.१।
२. उदाद्यन्तो न्यवग्रहस्तथाभाव्यः (वा०प्रा० १.१२०)।
अवग्रहो यदा नीचप्रोच्चयोर्मध्यतः क्वचित्।
ताथाभाव्यो भवेत् कम्पस्तनूनप्त्रे निदर्शनम्॥ (व०र०प्र०शि०-७१, या०शि० ८४)
३. अपि चेन्नानापदस्थमुदात्तमथ चेत् सांहितेन स्वर्यते स प्रातिहतः (तै०प्रा० २०.३)।
४. द्र०-ऋ०प्रा० ३.१३; वा०प्रा० १.११६, च०अ० ३.५६।
५. द्र०-तै०प्रा० २०.५।
६. द्र०-ऋ०प्रा० ३.१३; तै०प्रा० २०.१; वा०प्रा० १.११५; च०अ० ३.५८।

उत्पन्न होता है, उसे 'अभिनिहित स्वरित' कहते हैं।[१]

जैसे—ते+अवर्धन्त=तेँऽवर्धन्त (ऋ० १.८५.७)।

ते+अवन्तु=तेँऽवन्तु (यजु० १९.५७)।

३३.९ जात्य [नित्य] स्वरित—उदात और अनुदात्त के सम्बन्ध के विना स्वाभाविकतया उत्पन्न स्वरित को 'जात्य स्वरित' कहते हैं।[२] इसे ही तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में 'नित्य स्वरित' कहा गया है।[३] यह स्वरित अपूर्व (जिसके पूर्व में कोई स्वर नहीं) अथवा अनुदात्तपूर्व (अनुदात्त है पूर्व में जिसके) होता है।

जैसे— स्वः, क्व। कन्या, हृदय्यया।

आगे अत्यन्त आवश्यक कम्पित (विकम्पित, कम्प) दोष (पृ० ५३-५५) को बतलाने वा उसकी अवगति के लिए यहाँ स्वरित के इन सब भेदों को बताना आवश्यक हुआ।

प्रयोग— 'त्रैस्वर्योपनयेन च' (६.२)।

३४. संवृत—'समीपावस्थानमात्रे संवृतता' (श०कौ० १.१.९) अर्थात् स्थान और करण के (मुखावयवों के) समीपावस्थान को संवृत या संवृतता कहते हैं। अथवा मुखावयवों के समीप स्थित होने पर 'संवृत' नामक वर्णधर्म उत्पन्न होता है। ४.४ के सूत्र में पठित 'संवृतकण्ठाः' शब्द प्रकृत 'संवृत' शब्द से भिन्न है, जिसका स्पष्टीकरण आगे दिया जायेगा।

प्रयोग— संवृतस्त्वकारः (३.१२)।

यदा सामीप्येन स्पृशति सा संवृतता (८.५)।

३५. विवृत—'दूरत्वे विवृतता' (श०कौ० १.१.९) अर्थात् स्थान एवं करण के (मुखावयवों के) दूरत्व (असमीपावस्थान) को विवृत या विवृतता कहते हैं। अथवा मुखावयवों के दूर में स्थित होने पर संवृतप्रति-द्वन्द्वीरूपी 'विवृत' नामक वर्णधर्म उत्पन्न होता है।[४] ४.२ के सूत्र में प्रयुक्त

१. द्र०-ऋ०प्रा० ३.१३; तै०प्रा० २०.४; वा०प्रा० १.११४; च०अ० ३.५५।
२. द्र०-ऋ०प्रा० ३.८; तै०प्रा० २०.२; वा०प्रा० १.१११; च०अ० ३.५७।
३. इससे अतिरिक्त पूर्व के अष्टविध स्वरित 'नैमित्तिक स्वरित' कहलाते हैं।
४. महाभाष्यकार ने इस 'विवृत' प्रयत्न के लिए 'विवार' शब्द का भी प्रयोग किया है—'विवारभेदात्' (म०भा०अइउण्)।
विवारयति विकासयति आस्यमिति-विवारः प्रयत्नः (प्रदीपः-तत्रैव)।
विवारयतीति, स चाभ्यन्तरप्रयत्नः (उद्योतः-तत्रैव)।

'विवृतकण्ठाः' शब्द प्रकृत 'विवृत' शब्द से भिन्न है, जिसका स्पष्टीकरण आगे किया जायेगा।

प्रयोग— विवृतकरणा वा (३.७)।
विवृतकरणाः स्वराः (३.८)।
यदा दूरेण स्पृशति सा विवृतता (८.४)।

३६. संवार—'गलबिलस्य संकोचात् संवारः' (श०कौ० १.१.९) गलबिल (स्वरयन्त्रमुख) के संकोच (संकीर्णता) से 'संवार' नाम का गुण (वर्णधर्म) उत्पन्न होता है। इसे 'संवृतकण्ठ' भी कहते हैं।

प्रयोग— संवृतत्वात् संवारो नाम वर्णधर्म....(८.८)।
०संवृतकण्ठाः.....(४.४)।

३७. विवार—'गलबिलस्य विकासाद् विवारः' (श०कौ० १.१.९) कण्ठबिल (स्वरयन्त्रमुख) के विकास से, विस्तृत होने से संवारप्रतिद्वन्द्वीभूत विवार नाम का वर्णगुण उत्पन्न होता है। इसे 'विवृतकण्ठ' भी कहते हैं।

प्रयोग— ०विवृतत्वाद् विवारः (८.८)।
०विवृतकण्ठः.....(४.२)।

संवार (संवृतकण्ठ) और विवार (विवृतकण्ठ) ये दोनों पूर्व वर्णित संवृत एवं विवृत (३४, ३५) से भिन्न हैं—**'एतौ [संवार-विवारौ] च संवृतविवृतत्वरूपाभ्यामाभ्यन्तराभ्यां भिन्नावेव। तयोः समीपदूरावस्थानात्मकत्वादित्यवधेयम्'** (श०कौ० १.१.९)।

इनमें विद्यमान भिन्नता निम्न प्रस्तार से स्पष्ट हो जाएगी—

संवृतसंवारादिभेदप्रदर्शक प्रस्तार

संवृत, विवृत	**संवार, विवार** (संवृतकण्ठ,विवृतकण्ठ)
१. ये अन्तः प्रयत्न हैं।	१. ये बाह्ययत्न हैं।
२. ये स्थान एवं करण के समीपत्व व दूरत्व पर आधारित हैं।	२. ये स्वरतन्त्रियों के समीपत्व व दूरत्व पर आधारित हैं।

३८. अनुप्रदान—'अनुप्रदीयते=उपादीयते=उत्पद्यते वर्णो येन तद् अनुप्रदानम् मूलकारणम्' जिससे वर्ण की उत्पत्ति होती है, उसे अर्थात् वर्ण के मूल कारण को 'अनुप्रदान' कहते हैं।

यह अनुप्रदान संज्ञा है श्वास और नाद की—**'तौ श्वासनादावनुप्रदानावित्याचक्षते'** (शिक्षा-८.१२)। क्योंकि इन्हीं से वर्ण की उत्पत्ति होती है।[1] फेफड़ों से आगत वायु को स्वरतन्त्रियाँ 'श्वास' या 'नाद' के रूप में विकृत कर देती हैं। यह विकृत श्वास या नाद मुख के विभिन्न अवयवों (स्थानों) को प्राप्त कर वर्ण को उत्पन्न करते हैं।

प्रयोग— वर्गाणां.....श्वासानुप्रदाना अघोषाः (४.२)।
वर्गाणां....नादानुप्रदाना घोषवन्तश्च (४.४)।

३९. श्वास—'विवृते श्वासः' (तै०प्रा० २.५) कण्ठ के विवृत होने पर अर्थात् स्वरतन्त्रियों के खुले रहने पर जो वायु निर्बाध गति से बाहर निकलती है, उसे 'श्वास' कहते हैं। जो कि अघोष वर्णों का उत्पादक है—**'श्वासोऽघोषाणाम्'** (ऋ०प्रा० १३.४)।

प्रयोग— ....श्वासानुप्रदाना अघोषाः (४.२)।

४०. नाद—'संवृते कण्ठे नादः क्रियते' (तै०प्रा० २.५)[2] कण्ठ के संवृत होने पर अर्थात् स्वरतन्त्रियों के समीप आ जाने पर, स्वरयन्त्रमुख (काकल) की चौड़ाई कम हो जाने पर वायु स्वरतन्त्रियों से घर्षण करती हुई बाहर निकलती है। फलतः जो ध्वनि उत्पन्न होती है, उसे नाद कहते हैं। जो कि घोषवर्णों का जनक है—**'इतरेषां तु नादः'** (ऋ०प्रा० १३.५)।

प्रयोग— .....नादानुप्रदाना घोषवन्तश्च (४.४)।

४१. घोष—'संवृतो घोषवान्' (ऋ०तं० १.३)-संवृत, संकुचित कण्ठ से बोले जानेवाले वर्णों को 'घोष' कहा जाता है। जब स्वरतन्त्रियाँ परस्पर एक दूसरे के समीप आ जाती हैं, तब वायु का निष्काशन-मार्ग (काकल) संकीर्ण हो जाता है। जिससे वह वायु स्वरतन्त्रियों से घर्षण करती हुई निकलती है, फलस्वरूप 'नाद' उत्पन्न होता है। उस नादध्वनि से उच्चरित[3] वर्ण को

१. ता वर्णानां प्रकृतयो भवन्ति (ऋ०प्रा० १३.३)। अनुप्रदीयते अनेन वर्ण इति अनुप्रदानं मूलकारणम् (त्रि०र०-तै०प्रा० २.८)।
२. संवृते गलबिलेऽव्यक्तः शब्दो नादः (न्यासः १.१.९)
३. 'नादध्वनि से उच्चरित' (नादानुप्रदान) का तात्पर्य केवल नाद से ही उच्चरित

ही '**घोष**' कहते हैं। क्योंकि नादध्वनि से उच्चरित वर्ण के पश्चात् एक गम्भीर ध्वनि प्रकट होती है, उच्चरित होती है, जिसकी तरंगें अपेक्षा कृत दूर तक जाती हैं और दूरस्थ श्रोता को भी स्पष्टतया सुनाई पड़ती हैं। इसे ही घोष, सघोष, घोषवत्, स्वनंत, कोमल आदि कहते हैं।

प्रयोग— 'नादानुप्रदाना घोषवन्तश्च' (४.४)।

४२. अघोष—'**विवृतोऽघोषः**' (ऋ०तं० १.३) विवृत कण्ठ से अर्थात् जब स्वरतन्त्रियाँ परस्पर एक-दूसरे से दूर-दूर रहती हैं, उस स्थिति में उच्चरित वर्णों को 'अघोष' कहा जाता है। यतोहि स्वरतन्त्रियों के दूर-दूर रहने से वायु प्रायः अबाध गति से बाहर निकलती है, अतः स्वर-तन्त्रियों में न्यूनतम कम्पन होता है। अतिस्वल्प कम्पन होने से नाद ध्वनि भी बहुत स्वल्प मात्रा में उत्पन्न होती है। वायु की मात्रा अत्यधिक होती है। ऐसी वायु (श्वास) से उत्पन्न[1] वर्ण की ही 'अघोष' संज्ञा है। इसे संक्षेप से ऐसा भी समझ सकते हैं कि '**न विद्यते घोषः यस्मिन् स अघोषः**' अर्थात् जिसमें घोषत्व नहीं रहता है, वह अघोष संज्ञक है।

प्रयोग— ०श्वासानुप्रदाना अघोषाः (४.२)।

४३-४४. अल्पप्राण, महाप्राण—इन शब्दों के विवरण के लिए ८.१८ और ८.१७ सूत्र द्रष्टव्य हैं।

प्रयोग— ०अल्पप्राणा इतरे सर्वे महाप्राणाः (४.३, ५)।

होता है, वायु (श्वास) का नितान्त अभाव होता है, ऐसा नहीं समझना चाहिये। क्योंकि विना वायु के न तो नाद की उत्पत्ति होगी और न ही वर्णों की। उसका तात्पर्य मल्लग्राम या छत्रिन्याय के समान समझना चाहिये। अर्थात् जिसके उच्चारण में नाद-ध्वनि प्रधानतया व अधिकमात्रा में रहती है और वायु अप्रधानतया वा न्यूनमात्रा में रहती है, उस वर्ण को 'घोष' समझना चाहिये। अतः '**नादप्रधानो घोषः**' कहा जा सकता है।

१. 'श्वास से उत्पन्न' (श्वासानुप्रदान) का भी तात्पर्य यह नहीं है कि अघोष वर्णों के उच्चारण में केवल श्वास ही रहता है, नाद नहीं। क्योंकि विना नाद-ध्वनि के वायु मात्र से वर्ण की उत्पत्ति नहीं होती है। जैसे कि श्वास के निकलते समय कोई वर्ण उत्पन्न नहीं होता। अतः जिस वर्ण के उच्चारण में श्वास की प्रधानता वा अधिकता हो तथा नाद गौण या अल्प हो तो, उसे छत्रिन्यायवत् 'अघोष' समझना चाहिये। इसलिए इसे '**श्वासप्रधानोऽघोषः**' कह सकते हैं।

५.३ शुद्धोच्चारण में सावधानता

५.३.१ वर्णोच्चारण के गुण—

१. **स्वस्थः प्रशान्तो निर्भीतो वर्णानुच्चारयेद् बुधः।** —या०शि० २१

स्वस्थः=निरोग **प्रशान्तः**=शान्तमनाः, शान्तिशील **निर्भीतः**=भय, घबराहट आदि से रहित **बुधः**=बुद्धिमान् व्यक्ति **वर्णान्**=वर्णों को **उच्चारयेत्**= उच्चारित करे।

२. **प्रकृतिर्यस्य कल्याणी दन्तोष्ठौ यस्य शोभनौ।**
प्रगल्भश्च विनीतश्च स वर्णान् वक्तुमर्हति॥ —या०शि० २६

यस्य=जिसकी **प्रकृतिः**=स्वभाव **कल्याणी**=उत्तम व श्रेष्ठ हो अर्थात् क्रोधादि से रहित, शान्तस्वभाववाला व्यक्ति तथा **यस्य**=जिसके **दन्तोष्ठौ**=दाँत एवं ओठ **शोभनौ**=अच्छे हों, टूटे-कटे हुये, विकृत न हों **च**=और जो **प्रगल्भः**=पढ़ने में उत्साही व निश्शङ्कित **च**=एवं **विनीतः**=विनम्र हो **सः**=वह **वर्णान्**=वर्णों को शुद्ध **वक्तुम् अर्हति**=बोल सकता है।

३. **यथा व्याघ्री हरेत् पुत्रान् दंष्ट्राभिर्न च पीडयेत्।**
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद् वर्णान् प्रयोजयेत्॥
—या०शि० २५, अ०मा०शि० ४३

यथा=जैसे **व्याघ्री**=सिंहिनी **दंष्ट्राभिः**=दाँतों से **पुत्रान्**=अपने कोमल अङ्ग वाले बच्चों को **हरेत्**=सुरक्षित स्थान पर ले जाती है अर्थात् स्थान परिवर्तन करती रहती है **च**=पर **न पीडयेत्**=उन्हें अपने तीक्ष्ण दाँतों से पीड़ित नहीं करती, क्योंकि **पतनभेदाभ्याम्**=शिथिल पकड़ने से गिरने रूपी भय से तथा अधिक बलपूर्वक पकड़ने से दाँतों से चुभने व कटने [अङ्गभङ्ग] रूपी भय से **भीता**=डरी हुयी होती है। **तद्वद्**=ठीक वैसी ही सावधानी से यथोचित बलपूर्वक अर्थात् न शिथिल और न ही दबाकर **वर्णान्**=वर्णों को **प्रयोजयेत्**= बोलना चाहिए।

४. **मधुरं चापि नाव्यक्तं सुव्यक्तं न च पीडितम्।**
सनाथस्येव देशस्य न वर्णाः संकरं गताः॥ —या०शि० १९६

मधुरम्=मधुर बोलें **च अपि**=पर **न अव्यक्तम्**=अव्यक्त, अस्पष्ट न बोलें **सुव्यक्तम्**=स्पष्ट बोलें **च**=पर **न पीडितम्**=संकीर्णता के साथ दबाकर न बोलें। इस प्रकार उच्चारित वर्ण ठीक वैसे ही संकीर्णता को प्राप्त नहीं होते

इव=जैसे कि **सनाथस्य**=अच्छे राजा से युक्त **देशस्य**=देश के **वर्णाः**=ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण **संकरम्**=संकीर्णता को **गताः**=प्राप्त **न**=नहीं होते।

५. **यथा सुमत्तनागेन्द्रः पदात् पदं निधापयेत्।**
एवं पदं पदाद्यन्तं दर्शनीयं पृथक् पृथक्॥ —या०शि० १९७

यथा=जैसे **सुमत्तनागेन्द्रः**=मदमस्त, हर्षोल्लासित गजराज **पदात्**=एक पद से **पदम्**=दूसरे पद को **निधापयेत्**=पृथक्-पृथक् रखता हुआ चलता है **एवम्**=वैसे ही **पदम्**=पद को, शब्द को और **पदाद्यन्तम्**=पद के आदि तथा अन्त को **पृथक् पृथक्**=वक्ता के द्वारा अलग-अलग **दर्शनीयम्**=दिखाया जाना चहिए, उच्चरित करना चाहिए।

६. **माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।**
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः॥
—या०शि० १९९, पा०शि० ३३

वर्णोच्चारण में **माधुर्यम्**=मधुरता, रुक्षता न होना **अक्षरव्यक्तिः**=अक्षरों, वर्णों की पृथक्-पृथक् अभिव्यक्ति **पदच्छेदः**=वाक्यान्तर्गत पदों को परस्पर मिश्रित न करते हुये अलग-अलग बोलना अर्थात् पदों के मध्य में एक मात्रा का काल-व्यवधान रखना[१] **तु**=और **सुस्वरः**=उदात्त, अनुदात्त, स्वरित से युक्त सुन्दर ध्वनि व स्वर सहित **धैर्यम्**=धीरता, गम्भीरता **च**[२]=और **लयसमर्थम्**=विराम आदि [ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, नाद, घोष आदि] का विधिकौशल्य **एते षट्**=ये छः **पाठकाः**=पाठकसम्बन्धी **गुणाः**=गुण हैं।

५.३.२ वर्णोच्चारण के दोष—

'अनन्ता हि दोषा अशक्तिप्रमादकृताः' (प्रदीपः-म०भा० पस्प०)- अशक्ति-प्रमादजन्य दोष तो अनन्त होते हैं, पुनरपि इनके परिज्ञानार्थ यहाँ कुछ ही दोष दिखाये जा रहे हैं। उन दोषों को जानने से पूर्व यह भी जानना आवश्यक है कि अप्रियत्व, असत्य आदि भी वाणी के महान् दोष हैं।[३] कहा भी गया है कि **''खट् फट् जहि। छिन्धी भिन्धी हन्धी कट्। इति**

१. पदयोरन्तरे काल एकमात्रा विधीयते। —या०शि० ११।
२. चकार को अनुक्तसमुच्चय में माना जाय तो सत्यभाषाणादि भी उत्तम वक्ता के गुण कहे जायेंगे।
३. न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् (मनु० ४.१३८), वाचा ह्यपूतममेध्यं वदन्ति, तेषामिन्द्रियं वीर्यं वाचोऽपक्रामति (जै०ब्रा० २.२२२)।

वाचः क्रूराणि।'' (तै०आ० ४.२.१)

१. **उपांशु दष्टं त्वरितं निरस्तम्, विलम्बितं गद्गदितं प्रगीतम्।**
निष्पीडितं ग्रस्तपदाक्षरं च, वदेन्न दीनं न तु सानुनास्यम्॥
—पा०शि० ३५

उपांशु=गुनगुनाकर, **दष्टम्**=सन्दष्ट, **त्वरितम्**=अत्यधिक शीघ्रता से, **निरस्तम्**=स्थान एवं करण का अपकर्ष करके, **विलम्बितम्**=नियत काल से अधिक समय में **गद्गदितम्**=तुतला कर, **प्रगीतम्**=राग से युक्त **निष्पीडितम्**=अल्पतर प्रयत्न से साध्य वर्णों को भी अधिकतम प्रयत्न से, **ग्रस्तपदाक्षरम्**[१]=वाक्य में शब्दों, शब्दों में वर्णों को ग्रस्त करके अर्थात् सम्पूर्ण शब्दों वा वर्णों को न बोलते हुये **दीनम्**=उत्साह-रहित होकर, **तु**=और **सानुनास्यम्**=निरनुनासिक वर्ण को भी नासिका से **न**=कभी भी न **वदेत्**=बोलें।

२. **न करालो न लम्बोष्ठो नाव्यक्तो नानुनासिकः[२]।**
गद्गदो बद्धजिह्वश्च न वर्णान् वक्तुमर्हति॥
—या०शि० २४, ना०शि० २.७.१२, अ०मा०शि० १५७

न करालः=न कराल अर्थात् उन्नत व असम दाँतों वाला या जिसके दाँत बाहर निकले हों, वह **न लम्बोष्ठः**=न लम्बे ओष्ठ वाला **न अव्यक्तः**=न गुनगुनाने वाला **न अनुनासिकः**=न ही निरनुनासिक वर्ण को भी नासिका से बोलने वाला[३] **गद्गदः**=तुतलाने वाला अर्थात् वाग्धारा को रोक-रोक कर अक्षरों को एकाधिक बार बोलने वाला **च**=और **बद्धजिह्वः**=जिह्वा को अकड़ा, सख्त कर बोलने वाला व्यक्ति **वर्णान्**=वर्णों को शुद्ध-शुद्ध **वक्तुम्**=बोलने में **न अर्हति**=समर्थ नहीं होता।

३. **नाभ्याहन्यान्न निर्हन्यान्न गायेन्न च कम्पयेत्।**
यथादावुच्चारेद् वर्णांस्तथैवैतान् समापयेत्॥ —या०शि० २२

वर्णों को **न अभ्याहन्यात्**=अभ्याघात [=प्रहार] करके अर्थात् अधिक

१. पदानि च अक्षराणि च पदाक्षराणि, ग्रस्तानि पदाक्षराणि यत्र तद् वाक्यं रवणं (शब्दः) वा ग्रस्तपदाक्षरम्=अर्धोच्चारितं वाक्यं रवणं (शब्दः) वा।
२. मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः (अ० १.१.८)।
३. निरनुनासिक वर्णों को सानुनासिक बोलने से अर्थभेद होकर वक्ता का अभीष्ट अर्थ प्रकट नहीं होता। जैसे—आख-आँख, हा (खेद)-हाँ (स्वीकार) आदि।

बलपूर्वक न बोलें **न निर्हन्यात्**=न ही निःशेष हनन करके अर्थात् वर्णों का लोप करके न बोलें अथवा स्थानभेद करके न बोलें **न गायेत्**=गाकर अर्थात् ह्रस्व को दीर्घ, दीर्घ को ह्रस्व आदि करते हुये राग सहित न बोलें **च**=और **न कम्पयेत्**=न ही कम्पित स्वर से बोलें, **वर्णान्**=वर्णों को **आदौ**=प्रारम्भ में **यथा**=जैसे, जितनी गति एवं ध्वनि से **उच्चारेद्**=उच्चारित करें **तथा एव**=ठीक वैसे ही अर्थात् उतनी ही गति तथा ध्वनि से **एतान्**=इन उच्चार्यमाण वर्णों को **समापयेत्**=समाप्त करें, उच्चारित करें अर्थात् प्रत्येक वर्ण व शब्द के आदिम और अन्तिम गति तथा ध्वनि को एक जैसा स्पष्ट बोलना चाहिए।

४. ग्रस्तं निरस्तमवलम्बितं निर्हतम्, अम्बूकृतं ध्मातमथो विकम्पितम्।
सन्दष्टमेणीकृतमर्धकं द्रुतम्, विकीर्णमेताः स्वरदोषभावनाः॥
—म०भा० पस्प० वा० २०

१. ग्रस्तम्—जिह्वामूल को निग्रह [=स्तम्भन, कड़ा] करके व नीचे की ओर दबा कर बोलना[1], **२. निरस्तम्**—कण्ठ आदि स्थान और करण [=जिह्वा] का अपकर्ष करके बोलना अर्थात् वर्ण के उच्चारण में स्थान एवं करण का यथावत् प्रयत्न न करके अग्रिम [आगम्यमान] वर्ण के उच्चारणवत् स्थान तथा करण को चेष्टित करना[2], **३. अवलम्बितम्**[3]—वर्णान्तर का आश्रय लेकर बोलना, **४. निर्हतम्**—प्रहार करने जैसे प्रयत्न के साथ बोलना अथवा निश्शेष हनन के साथ अर्थात् किसी वर्ण का नितान्त लोप करके बोलना, **५. अम्बूकृतम्**—ओष्ठों को बन्द सा करके बोलना[4] अथवा मुख से थूँक के छींटे निकालते हुए बोलना, **६. ध्मातम्**—धौकनी की तरह मुँह

१. ग्रस्तम् आदि में जो नपुंसकलिङ्ग है, वह 'उच्चारणम्' की दृष्टि से है। अतः आगे सर्वत्र 'उच्चारणम्' को अध्याहृत कर 'बोलना' अर्थ कर दिया गया।
२. अनियन्त्रित [इधर-उधर चलायमान] स्थान एवं करण से वर्ण का यथावत् उच्चारण न होने से वह वर्ण अपने-अपने स्थान और करण से अपकृष्ट हो जाता है, इसे ही यहाँ 'निरस्तम्' कहा गया है।
३. कहीं-कहीं 'अविलम्बितम्' पाठ है। जिसका अर्थ 'अर्धकम्' 'द्रुतम्' से ही गतार्थ हो जाता है। यतोहि इन तीनों में कोई विशेष अर्थभेद नहीं है।
४. जल वा लार भरे मुँह से बोलते समय जल वा लार के बाहर निकलने के भय से दोनों ओष्ठ एक दूसरे के घनिष्ठ सम्पर्क में आ जाते हैं। ऐसी स्थिति में उच्चरित वर्ण व शब्द मुँह के भीतर ही रह जाते हैं अर्थात् श्रोता को स्पष्ट रूप से सुनाई नहीं देते। इसी अस्पष्ट उच्चारण रूपी दोष को यहाँ अम्बूकृत कहा गया है।

फुलाकर वा अकस्मात् अधिक मात्रा में श्वास-निष्कासन के साथ बोलना[1] **अथो**—और **७. विकम्पितम्**[2]—घबराहट वा कम्पन के साथ बोलना, **८. सन्दष्टम्**—जबड़ों को दबाकर, अत्यधिक समीप लाकर बोलना[3], **९. एणीकृतम्**—उच्चत्व, नीचत्व रूपी असम ध्वनि व गति से बोलना, **१०. अर्धकम्**—नियत काल से आधे काल में बोलना, **११. द्रुतम्**—अभ्यासकाल के अतिरिक्त काल में भी[4] अत्यधिक शीघ्रता से बोलना, **१२. विकीर्णम्**—वर्णों व शब्दों को बिखरे हुये से अर्थात् यथोचित सम्बद्धता से रहित बोलना[5],

१. श्वास की अधिकता से ह्रस्व वर्ण भी दीर्घ के रूप में उच्चरित होता है, अतः यह भी एक दोष है। जैसे कि 'पलायतु-पालयतु या अल्पप्राण महाप्राण हो जाता है, यथा—कुतः-कुथः।
२. द्र०-आगे के अकम्पितान् (८) सूत्र की व्याख्या।
३. किसी चीज को काटते समय जबड़े अत्यधिक समीप में आ जाते हैं, ऐसी स्थिति में नाद-ध्वनि दाँतों के मध्य से दबी हुई सी, कटी हुई सी निकलती है, अतः इस दोष को 'सन्दष्टम्' कहा गया है।
४. अभ्यासकाल में (कण्ठस्थीकरण के समय) द्रुतगति से बोलना दोष नहीं माना जाता है—
अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम्।
शिष्याणामुपदेशार्थे कुर्याद् वृत्तिं विलम्बिताम्॥ —या०शि० ५४
५. शब्दों के शुद्ध-उच्चारण में वर्णों की सम्बद्धता अर्थात् यथोचित वर्ण विभाजन अत्यावश्यक है, जिसे छन्दःशास्त्र में यति कहते हैं। अन्यथा असम्बद्धता (अनुचित यति) से अर्थ-राहित्य और सम्बन्ध (यति) भेद से अर्थभेद हो जाता है। तद्यथा—
नय-ज्ञ (=नीतिज्ञ) — न-यज्ञ (=अयज्ञ)
विभा-षा (=विकल्प) — वि-भाषा (=विदेशी भाषा)
वि-प्रयोग (=विरुद्ध प्रयोग) — विप्र-योग (=ब्राह्मण का योग)
आस-मान (=आकाश) — आ-समान (=समान होने तक)
ना-प-ता (=जिसका पता नहीं) — नाप-ता (=मापता है)
ना-भ्यहन्यात् (=अभ्याहनन न करे)— नाभ्या-हन्यात् (=नाभी से हनन करे)
इसी प्रकार वाक्य में भी असम्बद्धता से वाक्यत्व की हानि होकर वाक्य अर्थहीन हो जाता है तथा सम्बन्धान्तर से अर्थान्तर हो जाता है। जैसे कि 'यहाँ पर-देशीय घी मिलता है', 'यहाँ-पर देशीय घी मिलता है'। 'उस परमेश्वर से—पहिले आकाश उत्पन्न हुआ', 'उस परमेश्वर से पहले—आकाश उत्पन्न हुआ' इतने से स्पष्ट हो गया होगा कि विकीर्णता से शब्द व वाक्य अर्थशून्य हो जाते हैं और अनुचित

एताः—ऊपर कहे हुये बारह **स्वरदोषभावनाः**—स्वरदोषज[१] अर्थात् स्वरों के उच्चारण में होनेवाले दोष हैं ,जो कि परित्याज्य हैं।

महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने स्वर सम्बन्धी दोष और भी गिनाये हैं। जो निम्नप्रकार हैं—

५. संवृतः कलो ध्मात एणीकृतोऽम्बूकृतोऽर्धको
ग्रस्तो निरस्तः प्रगीत उपगीतः क्ष्विण्णो रोमश इति।

—म०भा०, पस्प०, वा० २०

१३. संवृतः—असंवृत अर्थात् विवृत प्रयत्न वाले वर्णों [आ, इ, ई.... सम्पूर्ण स्वर][२] को भी संवृत वर्ण [अ][३] के समान बोलना, **१४. कलः**—काकलक से बोले जाने वाले वर्णों के अतिरिक्त अन्य वर्णों को भी काकलक से बोलना **१५. प्रगीतः**—सामगान के सदृश गाकर बोलना, **१६. उपगीतः**—समीपस्थ (आगे-पीछे के) वर्णों के गीत से अनुरक्त, [**क्ष्विण्णः**=कम्पनम्] **१७. रोमशः**—गम्भीरता से बोलना। ये भी स्वरोच्चारण के दोष हैं।

उपर्युक्त श्लोक [ग्रस्तम्....] में अपरिगणित दोषों की ही यहाँ व्याख्या की गई है। शेष की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

अब उदात्तादि स्वरों के उच्चारण से सम्बन्धित दोषों को दिखाते हैं—

६. असन्दिग्धान् स्वरान् ब्रूयात् ।—ऋ०प्रा० ३.२९

स्वरान्=उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और प्रचय [एकश्रुति] स्वरों को **असन्दिग्धान्**=सन्देह [अस्पष्टता] से रहित अर्थात् यथावत् विस्पष्टता के साथ **ब्रूयात्**=बोलें।

वेद अपने उत्पन्न काल से लेकर आज तक श्रुतिपरम्परा [गुरु-शिष्य-परम्परा] से ही सुरक्षित हैं। मन्त्रों के उच्चारण में उदात्त आदि का स्पष्ट उच्चारण न होने से यदि श्रोता वा शिष्य को सन्देह हो कि अमुक वर्ण उदात्त बोला गया अथवा अनुदात्त आदि, और यदि उस सन्देह की निवृत्ति न हुई

विकीर्णता (विभाजन) से भी कैसे अर्थ का परिवर्त्तन हो जाता है। अतः यह एक महान् दोष है। जिसका परित्याग अनिवार्य है।

१. यद्यपि इन्हें स्वरसम्बन्धी दोष कहा गया है, पुनरपि इन में से कुछ दोष व्यञ्जनोच्चारण में भी हो सकते हैं।
२. विवृतकरणाः स्वराः (शिक्षा ३.८)।
३. संवृतस्त्वकारः (शिक्षा ३.१२)।

तो वेद की परम्परा शनैः शनैः उच्छिन्न हो जायेगी। अतः यह एक महान् दोष है। जिसके लिए अत्यन्त सावधानता की आवश्यकता है।

७. अविकृष्टान् (ऋ०प्रा० ३.३०)।

स्वरान्=उदात्तादि स्वरों को अथवा अकारादि स्वरों को [सन्धि के स्थलों पर] **अविकृष्टान्**=पृथक्-पृथक् करके नहीं **ब्रूयात्**=बोलना चाहिये।

जैसे—'**पि॒तरं॑श्चो॒पास॑ते**' (यजु० ३२.१४) का उच्चारण '**पि॒तरं॑श्च॒ उ॒पास॑ते**' के रूप में करना, '**तेभ्यो॒ नमोऽधि॑पतिभ्यो॒.....यो॒३॑स्मान्०**' (अथर्व० ३.२७.१) का उच्चारण '**तेभ्यो॒ नमो॒ अ॒धि॒पतिभ्यो॒......यो॒३॑ अ॒स्मान्०**' करना महान् दोष है। अतः इस दोष का परित्याग करना चाहिये।

८. अकम्पितान् (ऋ०प्रा० ३.३१)

स्वरान्=उदात्तादि स्वरों को **अकम्पितान्**=कम्प [कम्पन] रहित **ब्रूयात्**=बोलना चाहिये।

इससे पूर्व पारिभाषिक शब्दों में स्वरित का स्वरूप और उसके भेदों का वर्णन किया गया है (पृ० ३८-४३)। अब स्वरित के उच्चारण प्रकार की विशेष विधि का उल्लेख करते हैं। प्रातिशाख्यों में कहा गया है कि स्वरित का आद्य अंश जो अर्धमात्रिक उदात्त है, वह उदात्ततर (=उदात्त से भी उच्चतर) बोला जाता है[१]। और अवशिष्ट अंशभूत अनुदात्त उदात्त के रूप में उच्चरित होता है[२] यदि उस स्वरित के बाद उदात्त अथवा स्वरित न हो तो[३]। जैसे—'**तेंऽवर्धन्त**' (ऋ० १.८५.७) [ते। अ॒व॒र्ध॒न्त॒।]। परन्तु यदि स्वरित के बाद उदात्त अथवा स्वरित हो तो स्वरित का अवशिष्ट परवर्तीय अनुदात्त भाग अनुदात्त ही बोला जाता है।[४] जिसे ऋक्प्रातिशाख्यकार कम्प और चतुरध्यायिकाकार विकम्पित[५] कहते हैं। यथा—

१. तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्धमेव वा (ऋ०प्रा० ३.४), तस्यादिरुच्चैस्तरामुदात्तादनन्तरे यावदर्धं ह्रस्वस्य (तै०प्रा० १.४१)।
२. अनुदात्तः परः शेषः स उदात्तश्रुतिः (ऋ०प्रा० ३.५), उदात्तसमः शेषः (तै०प्रा० १.४२)।
३. न चेत् उदात्तं वोच्यते किञ्चित्स्वरितं वाक्षरं परम् (ऋ० प्रा० ३.६)।
४. यदि तूदात्तं स्वरितं वा परं स्यात्तदानुदात्तः पर शेषः स्यात् (उवटः, ऋ०प्र० ३.६)।
५. 'ग्रस्तं निरस्तं' श्लोक में आगत 'विकम्पित' शब्द भी यही पारिभाषिक शब्द है। वहाँ सामान्य अर्थ किया गया है। यहाँ प्रतिपादित विशेष अर्थ वहाँ भी अभीष्ट है।

जात्योऽभिनिहितश्चैव क्षैप्रः प्रश्लिष्ट एव च।
एते स्वराः प्रकम्पन्ते यत्रोच्चस्वरितोदयाः॥ —ऋ०प्रा० ३.३४
अभिनिहितप्रश्लिष्टजात्यक्षैप्राणामुदात्तस्वरितोदयानामणुमात्रा निघाता विकम्पितं तत्कवयो वदन्ति। —च०अ० ३.६५

अर्थात् उदात्त अथवा स्वरित बाद में हो तो जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट ये स्वरित स्वर 'कम्प' को प्राप्त करते हैं अर्थात् अणुमात्रा (१/४) कालावधि में ये कम्प के साथ उच्चरित होते हैं।

जात्यादि स्वरितों के बाद उदात्त की स्थिति होने पर उच्चारण की प्रक्रिया इस प्रकार चलती है—स्वरित का आद्य अंश भूत उदात्त का उच्चारण उदात्ततर (उच्चतर) किया जाता है, उसके पश्चात् तुरन्त ही स्वरित का अवशिष्ट, परभागीय अनुदात्त के उच्चारण के लिए नीचे उतरना पड़ता है, पुनः स्वरित के परवर्तीय उदात्त के उच्चारण के लिए ध्वनि को ऊपर चढ़ाना पड़ता है। इस प्रकार दो अर्थात् उच्चतर एवं उच्च स्वरों के मध्य में अनुदात्त (नीचत्व) का उच्चारण अणुमात्रा काल में एक झटके के साथ होता है। इसे ही यहाँ 'कम्प' या 'कम्पित' कहा गया है। यह कोई दोष नहीं है। परन्तु जात्यादि से भिन्न स्वरितों में भी 'कम्प' करना और उदात्त एवं अनुदात्तों में भी 'कम्प' करना दोष है। जिसका निषेध प्रकृत सूत्र में '**कम्पित**' शब्द से और '**ग्रस्तं निरस्तं०**' श्लोक में '**विकम्पितम्**' शब्द से किया गया है।

'कम्प' युक्त स्वरितों के उच्चारण में अज्ञानवश प्रायः एक महान् दोष होता है। जिसका वर्णन करना यहाँ अत्यन्त आवश्यक है। अतः स्थान संकोच न करते हुये उसका भी यहाँ स्पष्टीकरण करते हैं। 'कम्प' स्वरितों की लेखन-पद्धति इस प्रकार है—

१. यदि ह्रस्व वर्ण 'कम्प' युक्त स्वरित हो तो 'कम्प' के प्रदर्शनार्थ उस ह्रस्व स्वरित वर्ण के बाद १ संख्या लिखकर, उस १ संख्या के ऊपर 'स्वरित' का चिह्न (') तथा नीचे अनुदात्त का चिह्न (_) लिखा जाता है। यथा—'**अहं न्य१न्यं सहसा०**' (ऋ० १०.४९.८)। यहाँ 'न्य' क्षैप्रस्वरित है और बाद में उदात्तवान् 'न्यं' अक्षर है। अतः 'न्य' के स्वरित के अनुदात्त अंश का उच्चारण कम्प सहित होता है। स्वरित वर्ण की आद्य अर्धमात्रा उदात्त (उदात्ततर) होती है। शेष अंश अनुदात्त का होता है। और 'कम्प' का उच्चारण अनुदात्त अंशों में ही होता है, यह बताया गया है। प्रकृत उदाहरण में कम्प युक्त ह्रस्व स्वरित 'न्य' अक्षर के 'अ' वर्ण में दो अर्धांश हैं। एक अर्धांश उदात्त (उदात्ततर) है एवं एक अर्धांश अनुदात्त है। तो यहाँ कम्प एक अर्धांश में होने के कारण एक (१) संख्या लिखते हैं और वह अनुदात्त अंश में ही है, इस को बतलाने के लिए नीचे अनुदात्त का चिह्न दिखाते हैं (१)। स्वयं के स्वरितत्व का प्रदर्शन स्वरित चिह्न (१) से दिखाया जाता है।

२. यदि दीर्घ वर्ण 'कम्प' युक्त स्वरित हो तो, वहाँ 'कम्प' के प्रदर्शनार्थ उस दीर्घ स्वरित वर्ण के पश्चात् ३ संख्या लिखकर, उस ३ संख्या के ऊपर 'स्वरित' का चिह्न (') एवं नीचे 'अनुदात्त' का चिह्न (_) लगाया जाता है तथा उस स्वरित वर्ण के नीचे भी 'अनुदात्त' का चिह्न लगाया जाता है।[1] जैसे—'**अभी३दमेकमेको अस्मि**' (ऋ० १०.४८.७)। यहाँ 'भी' प्रश्लिष्ट स्वरित है और 'द' वर्ण उदात्त है। अतः 'भी' के स्वरित के अनुदात्त अंश का उच्चारण 'कम्प' सहित होता है। 'भी' के दीर्घ स्वरित 'ई' वर्ण में चार अर्धांश [१/२+१/२+१/२+१/२=**२**] हैं। आद्य अर्धांश में उदात्त (उदात्ततर) है तथा शेष तीन अर्धांशों में अनुदात्त है। इन्हीं तीन अनुदात्त भूत अर्धांशों में ही कम्प विद्यमान है। यही बात ३ के रूप में दिखायी जाती है। और 'भी' अक्षर स्वयं स्वरित ही है। अतः उसका अपने स्वरितत्व का प्रदर्शन ३ के रूप में होता है। तात्पर्य यह है कि 'भी' अक्षर में विद्यमान अनुदात्तभूत तीन अर्धांशों में कम्प है। इसके प्रदर्शनार्थ ३ संख्या लिखी जाती है। पर इसकी अनभिज्ञता में लोग इसे (कम्प परिमाण को) प्लुत समझकर 'यो३स्मान् द्वेष्टि०' (अथर्व० ३.२७.१) इत्यादि सभी मन्त्रों में प्लुत का उच्चारण करते हैं। जो कि नितान्त अशुद्ध और अशास्त्रीय है। अतः इस दोष को भी दूर करना चाहिए

९. स्वरितं नातिनिर्हण्यात् (ऋ०प्रा० ३.३२)

१. स्वरित ह्रस्व वर्ण में उदात्त एवं अनुदात्त के अंश समान होने से उदात्त की प्रधानता होती है। अत एव कम्पयुक्त ह्रस्व (अच्) को अचिह्नित ही रखा जाता है। जैसे कि ऊपर "न्य १" के उदाहरण में दिखाया गया है। परन्तु दीर्घ स्वर के स्वरित होने पर उसमें आद्य अर्धमात्रा (१/२) उदात्त एवं अवशिष्ट सार्धमात्रा (११/२) अनुदात्त होता है। इसमें आधिक्यवश अनुदात्त की ही प्रधानता होती है। इसीलिए कम्पयुक्त दीर्घ स्वरित वर्ण को ३ के रूप में लिखने पर भी अनुदात्त की प्रधानता के प्रदर्शनार्थ स्वरित वर्ण के नीचे भी अनुदात्त का चिह्न लगाया जाता है। जैसे कि प्रकृत उदाहरण "भी ३" में प्रदर्शित है।

स्वरितम्=स्वरित **स्वरम्**=स्वर को [आक्षेप=तिर्यग्गमन के द्वारा] **न, अतिनिर्हण्यात्**=अत्यधिक न खीचें।

१०. पूर्वौ नातिविवर्तयेत् (ऋ०प्रा० ३.३३)

पूर्वौ=पूर्व के दो **स्वरौ**=उदात्त और अनुदात्त स्वरों को बोलते समय **न, अतिविवर्तयेत्**=उच्चारणावयवों के आयाम=ऊर्ध्वगमन एवं विश्रम्भ=अधोगमन के द्वारा अति दूर न ले जाएं अर्थात् उदात्त तथा अनुदात्त के उच्चारण में उच्चारणावयवों को क्रमशः बहुत ऊपर और बहुत नीचे न ले जाएं।

११. अतोऽन्ये व्यञ्जनदोषाः। शशः षष इति मा भूत्,
पलाशः पलाष इति मा भूद्, मञ्चको मञ्जक इति मा भूत्।

—म०भा०पस्प०

ऊपर जो ग्रस्त, निरस्त आदि सत्रह स्वरोच्चारण में सम्भावित दोष दिखाये गये हैं, **अतः**=तत्पश्चात् अब उनसे **अन्ये**=अतिरिक्त **व्यञ्जनदोषाः**=व्यञ्जनों के उच्चारण में सम्भावित दोष दिखलाते हैं। **शशः षषः इति मा भूद्...** आदि का तात्पर्य है कि तालव्य शकार का उच्चारण मूर्धा व दाँतों से नहीं करना चाहिए, मूर्धन्य षकार को तालु वा दाँतों से नहीं बोलना चाहिए और दन्त्य सकार तालु वा मूर्धा से उच्चरित नहीं होना चाहिये तथा चकार का उच्चारण जकार के रूप में होना उचित नहीं है अर्थात् प्रत्येक वर्ण का उच्चारण अपने-अपने निश्चित स्थान से ही करना चाहिए।

यही भाव निम्न श्लोक में भी कहा गया है कि—

यद्यपि बहु नाधीषे तथापि पठ पुत्र! व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलं शकलं सकृच्छकृत्॥

व्यञ्जनों में श, ष, स के उच्चारण में प्रायः अशुद्धि हो जाती है, अत एव भाष्यकार ने इनकी ओर सभी का ध्यान यहाँ विशेषतः आकृष्ट किया है। निम्न उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगा कि 'श' आदि का यथावत् उच्चारण न होने से कैसे अर्थ का परिवर्तन होता है।

श	⇆	**स**
शङ्कर (कल्याणकारी)	↔	सङ्कर (सम्मिश्रण, मिलावट)
शकल (टुकड़ा)	↔	सकल (सम्पूर्ण)
शकृत् (मल)	↔	सकृत् (एक बार)
शाकम् (सब्जी)	↔	साकम् (एक साथ)
श्वः (कल-भावी)	↔	स्वः (अपना, धन)
श्रवण (सुनना)	↔	स्रवण (बहना)
प्राशन (खाना)	↔	प्रासन (फेंकना)
अंश (भाग)	↔	अंस (भुजा)
समाशः (सहभोजन)	↔	समासः (एकीकरण)
शफम् (खुर)	↔	सफम् (सामगानविशेष)
शब्द (पद, अवाज़)	↔	सब्द (दिन)
शर (तृणविशेष)	↔	सर (Sir=श्रीमान्/मुखिया)
श	⇆	**ष**
विश (राज्य, प्रजा)	↔	विष (ज़हर)
विशय (शंका, प्रश्न)	↔	विषय (नेत्रादियों का विषय, Subject)
ष	⇆	**स**
अक्षर [अक्षर]	↔	अक्सर (प्रायः)
भाषा	↔	भासा (दीप्ति, प्रकाश)

इसी प्रकार सभी भाषाओं में उच्चारण-भेद से अर्थ-भेद हो जाता है। जैसे कि अंग्रेजी में देखें— Shame (शेम=लज्जा) ↔Same (सेम=वही)। वैसे ही हिन्दी में पाश (पाशे, अक्ष) ↔ पास (समीप)। अतः इन श-आदियों को और सभी व्यञ्जनों को शिक्षा की वक्ष्यमाण विधि के अनुसार सावधानी से बोलना चाहिये।

१२. शङ्कितं भीतमुद्धृष्टमव्यक्तमनुनासिकम्।
काकस्वरं मूर्ध्निगतं तथा स्थानविवर्जितम्।
विस्वरं विरसं चैव विश्लिष्टं विषमाहतम्।
व्याकुलं तालहीनं च पाठदोषाश्चतुर्दश॥

—पा०शि० ३४, या०शि० २८, २९

१. शङ्कितम्—सन्दिग्ध होकर बोलना कि यह 'प' है या 'ष' अथवा 'य' है, यह 'व' है या 'ब'; अथवा पदच्छेद की सन्दिग्धता से या मन्त्रादि के पढ़ते समय उच्चारित वर्णों को मैंने शुद्ध बोला है कि नहीं[1] इत्यादि को

१. इस प्रकार के सन्देह से पढ़ते समय आगे का पाठ अशुद्ध हो जाता है, अतः निस्सन्देह होकर पढ़ना चाहिए।

शङ्कितमन से बोलना, **२. भीतम्**—भय के साथ बोलना[१] **३. उद्धृष्टम्**—सन्दष्टम्, **४. अव्यक्तम्**—अस्पष्ट उच्चारण, **५. अनुनासिकम्**—निरनुनासिक वर्णों को भी अनुनासिकता से बोलना, **६. काकस्वरम्**—कौवे के समान अर्थात् स्वरयन्त्र को संकुचित कर ऊँची ध्वनि से कर्कश बोलना, **७. मूर्ध्निगतम्**—अनावश्यक पुनः पुनः मूर्धा में स्पर्श करके बोलना[२], **तथा**—और **८. स्थानविवर्जितम्**—यथोचित स्थान को छोड़कर भिन्न स्थान से बोलना[३], **९. विस्वरम्**—उच्चत्व, नीचत्व आदि स्वर से रहित बोलना, **१०. विरसम्**—मधुरता से रहित बोलना, **११. विश्लिष्टम्**—संयुक्त वर्णों को असंयुक्त बोलना, यथा—'मन्त्र' को 'मन्तर'। **१२. विषमाहतम्**—समता से रहित अर्थात् ह्रस्व को दीर्घ [ध्मात-दोष], दीर्घ को ह्रस्व [अर्द्धक-दोष] बोलना, **१३. व्याकुलम्**—मन की चञ्चलता व स्तब्धता [जड़ता] की स्थिति में बोलना[४], **च**—और **१४. तालहीनम्**—नियतकाल से रहित अर्थात् यति आदि से हीन बोलना, ये **चतुर्दश**—चौदह **पाठदोषाः**—बोलने वालों के दोष हैं। अतः इन्हें सुधियों को त्यागना चाहिए।

१३. गीती शीघ्री शिरःकम्पी यथा लिखितपाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः॥

—पा०शि० ३२, या०शि० १९८

गीती=गाकर बोलने वाला, **शीघ्री**=अतिशीघ्रता से बोलने वाला, **शिरःकम्पी**=शिर को हिलाते हुये, झूमते हुये बोलने वाला, अपने व दूसरे के द्वारा **यथा**—जैसा **लिखितपाठकः**=लिखा हुआ है, वैसा ही पढ़ने वाला

१. सभादि में प्रतिष्ठित व्यक्तियों के सामने बोलते समय भयाक्रान्त होकर बोलने में अशुद्धि हो जाती है, कण्ठादि सूख जाते हैं, शरीर काँपता है। अतः हँसी के पात्र न बनने के लिए निर्भय होकर बोलना चाहिए।
२. जैसे कि 'कौन' को 'कौण' बोलना।
३. जैसे कि 'श' को 'ष' और 'ष' को 'स' आदि बोलना।
४. भयाक्रान्त होने पर मन में अत्यधिक चञ्चलता अथवा जड़ता आ जाती है, इस क्षण में सारे के सारे वर्ण एक साथ आँखों के सामने उपस्थित हो जाते हैं, फलतः शब्द के पृथक्-पृथक् ग्रहण न होने से, न दिखाई देने के समान (आँखों में अन्धेरा छा जाने के समान) हो जाने से पाठक कुछ भी पढ़ नहीं पाता। इसी दोष को यहाँ 'व्याकुलता' कहा गया है।

अर्थात् शुद्धाशुद्ध को न जानने वाला, **अनर्थज्ञः**=अर्थ को न जाननेवाला, **अल्पकण्ठः**=शिथिल कण्ठ से बोलने वाला अर्थात् थोड़ी ही देर में जिसका गला बैठ जाता है,वह **एते**-ये **षड्**=छह प्रकार के **पाठकाधमाः**=पाठक अधम हैं, निन्दित हैं। अतः **'पाठकाधमा मा भूमेत्यध्येयं शिक्षाशास्त्रम्'** हम अधम, निन्दित पाठक न बनें, इसीलिए शिक्षा-शास्त्र को पढ़ना चाहिए।

५.४ शब्दोत्पत्ति-रहस्य

वाणी और प्राण ये दोनों मानव-जीवन के अमूल्य निधि हैं। इनके सम्बन्ध एवं व्यापार को अवश्य जानना चाहिये। कहा भी गया है कि—**'वाक्प्राणयोर्यश्च होमः'** (विष्णुमित्रकृत वर्गद्वयवृत्ति-४) अर्थात् वाणी और प्राण का जो परस्पर होम होता है, उसे भी जानना चाहिये। यहाँ इन दोनों के व्यापार को होम कहा है। क्योंकि जब पुरुष वाणी का व्यापार करता है, तब प्राण वाणी में होता है अर्थात् वाणी का ही उच्चारणरूप व्यापार होता है, उच्छ्वास-निःश्वासरूप प्राण का व्यापार नहीं होता है। उस समय वाणी प्राण को खा जाती है, मानो वह्निस्थानीय वाणी में होमद्रव्यरूप प्राण का होम हो रहा है। जब पुरुष वाणी का व्यापार नहीं करता, यानी मौन रहता है अथवा सोता है, तब वाणी प्राण में होती है अर्थात् वाणी का व्यापार दृग्गोचर नहीं होता, अपितु प्राण मात्र का व्यापार दृष्टिगोचर होता है, उस समय प्राण वाणी को खा जाता है, मानो वह्निस्थानीय प्राण में होमद्रव्यरूप वाणी का होम हो रहा है।[१] यह होम अहर्निश, निरन्तर अनुष्ठित होता ही रहता है। फलस्वरूप प्राण से मनुष्य का अस्तित्व एवं वाणी से मानवता सुरक्षित होती है। अतः यहाँ इस होम (इन दोनों के व्यापारभूत शब्दोत्पत्ति प्रकार) को समझने का प्रयत्न करते हैं।

प्राणिमात्र के शरीर में होने वाली छोटी से छोटी क्रिया भी आत्मा की प्रेरणा से ही होती है। आत्मा की प्रेरणा के विना कोई भी क्रिया, चेष्टा सम्पन्न नहीं हो सकती। अतः शब्दोत्पत्ति की प्रक्रिया भी आत्मा से ही प्रारम्भ होती है। शब्दोत्पत्ति को समझने से पूर्व श्वास प्रश्वास की प्रक्रिया को समझना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि वही शब्द का मूलभूत कारण है।

१. यावद्वै पुरुषः प्राणिति, न तावद् भाषितुं शक्नोति, वाचं तदा प्राणे जुहोति...... यावद्वै पुरुषो भाषते, न तावत् प्राणितुं शक्नोति, प्राणं तदा वाचि जुहोति (कौ०ब्रा० २.५, शां०आ० ४.५; अपि च द्र० ऐ०आ० ३.१.६, ३.२.६)।

जब हम आत्मा की प्रेरणा से प्राण को बाहर से अन्दर की ओर लेते हैं, तब वह श्वास-नलिका के द्वारा फेफड़े में भर जाता है, फलतः फेफड़ा फूलता है। इसके फूलने से आँते (Intestine) नीचे की ओर दब जाती हैं, जिससे पेट भी फूलता है। जब प्राण को छोड़ना होता है, तब आत्मा बुद्धि को प्रेरित करता है, वह बुद्धि मन को, मन जठराग्नि को, जठराग्नि नाभि प्रदेश में विद्यमान व्यान नामक वायु को प्रेरित करता है। जो कि सम्पूर्ण शरीर के अवयवों में गति को उत्पन्न करने वाला है।[1] अग्निप्रेरित यह व्यान वायु उदर को संकुचित करता है, अन्दर की ओर दबाता है। परिणामतः फेफड़े भी दब जाते हैं। जिससे उसमें पूरित प्राण बाहर निकलने हेतु कण्ठ की ओर प्रस्थान करता है। जिसे उदान वायु कहते हैं। जो कि शब्दोत्पत्ति का मूलकारण है।[2] यही उदान वायु स्वरयन्त्र, कण्ठ आदि स्थानों में विविध रूपों में विकृत होकर शब्द को उत्पन्न करता है।[3]

१. यह वायु सम्पूर्ण शरीर में व्यापक होता है और शरीरावयवों की निखिल चेष्टाओं का जनक है तथा रसादि का संवाहक भी है—
कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः।
स्वेदासृक्स्रावणश्चापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि॥ —सु० निदान० १अ०
व्यानो नाम वायुः सर्वशरीरगः पेशीनां प्रचेष्टनः सिराधमन्यादीनां संकोचप्रसारकरो मस्तिष्कसौषुम्निकनाडीतन्त्रमूलः (प्र०श०, भाग-३, पृ० १६७)।
व्यानो नाम विश्वग्गमनवानखिलशरीरवर्त्ती (वे०सा०-१३)।
अपि च सां०का० २९ इत्यत्र वाचस्पतिमिश्रगौडपादा द्रष्टव्याः।
पूरे वायु पाँच प्रकार के हैं—१. प्राण, २. अपान, ३. व्यान, ४. उदान, ५. समान।

२. उदानस्य पुनः स्थानं नाभ्युरः कण्ठ एव च।
वाक्प्रवृत्तिः प्रयत्नोर्ज्जोबलवर्णादि कर्म च॥ —च०चि० २८.४
उरः स्थानमुदानस्य नासानाभिगलाञ्चरेत्।
वाक्प्रवृत्तिः प्रयत्नोर्ज्जो बलवर्णस्मृतिक्रियः॥ —अ०हृ०सू० १२अ०
उदानो हृत्कण्ठतालुमूर्धभ्रूमध्यवृत्तिः। —वाचस्पतिमिश्रः-सां०का० २९।
ऊर्ध्वारोहणादुत्कर्षादुन्नयनाद्वा उदानो नाभिदेशमस्तकान्तर्गोचरः,
तत्रोदाने यत् स्पन्दनं तत् सर्वेन्द्रियाणां सामान्यवृत्तिः। —गौडपादः-सां०का० २९।
उदानः कण्ठस्थानीय ऊर्ध्वगमनवानुत्क्रमणवायुः। —वे०सा०-१३

३. आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनो मस्तिष्कमाहन्ति तच्च सङ्कोचयत्युरः॥

५.४.१ ध्वनियन्त्र का परिचय
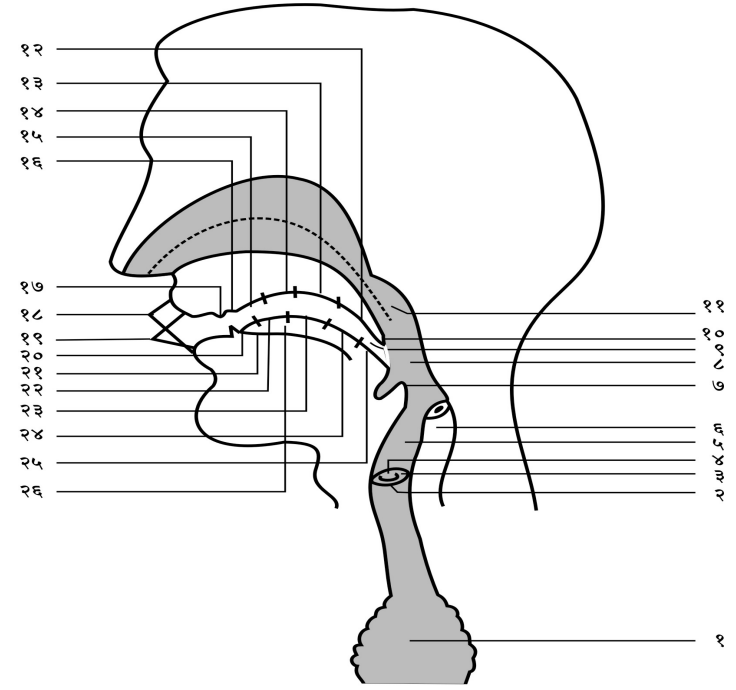
(चित्र—३)

१. फुप्फुस, फेफड़े, उरः (Lungs)
२. स्वरयन्त्र, ध्वनियन्त्र, कण्ठपिटक (Larynx)
३. स्वरतन्त्री, ध्वनितन्त्री, स्वर-ओष्ठ (Vocal Cords)
४. काकल, काकलक, स्वरयन्त्रमुख, कण्ठः उरः (Glottis)
५. श्वास-नलिका (Wind-pipe)
६. भोजन-नलिका, ग्रसनी (Gullet)
७. अभिकाकल, स्वरयन्त्र-आवरण, श्वासनलिका-आवरण (Epiglottis)

संकोचाद् वक्षसो वायुः प्रेरितः फुप्फुसाद् बहिः।
प्रणाल्या कण्ठमागत्य सत्वरं कुरुते स्वरम्॥ —वृद्धशिक्षाशास्त्रम्-१,२

८. उपालिजिह्वा, गलबिल, कण्ठमार्ग, कण्ठ (Pharynx)
९. मुखविवर (Mouth Cavity)
१०. अलिजिह्वा, कौवा, शुण्डिका, घंटी (Uvula)
११. नासिका–विवर (Nasal Cavity)
१२. कण्ठ, जिह्वामूल[१], कोमलतालु (Soft Palate, Gutter)
१३. मूर्धा (Cerebrum)
१४. तालु, कठोरतालु (Hard Palute)
१५. वर्स्व, वर्त्स, बर्स्व (Alveolus)
१६. दन्तमूल
१७. दन्त (Teeth)
१८. सृक्कि
१९. ओष्ठ (Lip)
२०. जिह्वाग्र, जिह्वाणि, जिह्वानोक (Tip of the Tongue, Apex)
२१. निम्नजिह्वोपाग्र, जिह्वाग्राधः
२२. ऊर्ध्वजिह्वोपाग्र, जिह्वाफलक
२३. जिह्वामध्य (Middle of the tongue)
२४. जिह्वापश्च, जिह्वापृष्ठ, पश्चजिह्वा (Back of the tongue)
२५. जिह्वामूल (Root of the tongue)
२६. जिह्वा (Tongue)

जब हम श्वास लेते हैं, तब श्वास (प्राण) श्वासनलिका के द्वारा अन्दर की ओर प्रवेश कर वक्षःस्थल के दोनों ओर विद्यमान फेफड़ों में भर जाता है। पुनः वहीं से अशुद्ध वायु उसी श्वासनलिका के द्वारा बाहर निकल जाता है। इस श्वासनलिका के समानान्तर में भोजन–नलिका (ग्रसनी) रहती है। जिससे भोजन अर्थात् अन्न पदार्थ और पानी अन्दर जाकर आमाशय में पहुँचते हैं। इन दोनों नलिकाओं के मध्य में एक पतली दीवार होती है, जो कि इन दोनों को एक दूसरे से पृथक् करती है। गलबिल एक चौराह (चतुष्पथ) जैसा है, जहाँ प्राण एवं भोजन के मार्ग मिलते हैं। जब हम भोजन को निगलते हैं वा पानी पीते हैं, तब अलिजिह्वा कठोर होकर खड़ी हो जाती है। फलतः श्वास–प्रक्रिया बन्द हो जाती है और अभिकाकल नीचे की ओर झुककर श्वास–नलिका को बन्द कर देता है। जिससे भोजनादि श्वास–नलिका

१. द्र०–शिक्षा के १.४, २.२, २.८ सूत्रों की व्याख्या।

में न जाकर सीधा भोजन–नलिका में पहुँच जाता है। खाते समय बोलने वा हँसने से अभिकाकल श्वास–नलिका को पूर्णरूप से बन्द नहीं कर पाता। क्योंकि जिस समय बोल रहे होते हैं व हँस रहे होते हैं, तब श्वास बाहर निकलता है अर्थात् अभिकाकल कुछ खुला रह जाता है। उसी समय यदि भोजन वा पानी वहाँ पहुँच जाए तो भोजन का अंश श्वास–नलिका में भी प्रवेश करने लगता है। तब फेफड़े की वायु उस अंश को जोर से धक्का देकर बाहर निकाल देता है। अन्यथा कभी–कभी मृत्यु तक हो जाती है। अत एव हमारे शास्त्रकारों ने भोजन के समय बोलने व हँसने को मना किया है। अस्तु, जो वायु अन्दर की ओर आता है, वह प्राणदाता अवश्य है, पर वर्णोच्चारण में उसकी कोई उपयोगिता नहीं है अर्थात् श्वास लेते समय वर्णों का उच्चारण नहीं होता। जो अशुद्ध वायु फेफड़ों से बाहर निकलता है, वही वर्णों के उच्चारण में पूर्ण समर्थ होता है। अतः यही वायु मानव को भाषा प्रदान करनेवाला है। यह वायु बाहर निकलता हुआ भिन्न–भिन्न स्थानों पर विकृत होता हुआ वर्णों (शब्दों) को उत्पन्न करता है। यह सबसे प्रथम स्वर–यन्त्र पर विकृत होता है।

५.४.२ स्वरयन्त्र का परिचय और कार्य—

श्वास–नलिका जो कि लगभग १५ से०मी० की होती है, इसमें थोड़ी–थोड़ी दूर पर कोमल हड्डी (कार्टिलेज) के C की आकृति के छल्ले होते हैं। सबसे ऊपर का छल्ला अपेक्षा कृत कुछ बड़ा एवं मोटा होता है। यही वयस्क, वृद्ध वा दुर्बल पुरुषों के गले पर उभरा हुआ दिखाई देता है, जिसे लोक में टेंटुआ या घाँटी कहते हैं। इसी छल्ले में अर्थात् श्वास–नलिका के ऊपर, अभिकाकल के नीचे टेंटुवें के ठीक पीछे 'स्वरयन्त्र' रहता है। फेफड़े से आगत वायु को ध्वनि के रूप में परिवर्तित करनेवाला प्रमुख एवं प्रथम अवयव यही है, अतः इसे ध्वनियन्त्र भी कहते हैं।[१] इसी के मध्य से प्राण आता जाता रहता है। इसमें बहुत पतली झिल्ली से निर्मित, लचीली, अति कोमल, कम्पनशील दो परदे होते हैं। जो कि श्वासनलिका पर द्वार के दो

१. ओस्कार रसेल (Oscar Russell) ने इसे 'मानवीय–ध्वनि–प्रसारण–केन्द्र' कहा है। प्रो० वी० ई० नेगस (V.E.Negus) का कथन है कि यही यन्त्र है, जिसने मानव को भाषा देकर उसे मानव की श्रेणी में रखा है। (द्र०–कपिलदेव द्विवेदी कृत 'भाषा–विज्ञान एवं भाषा–शास्त्र' पृष्ठ १२९)।

किवाड़ों के सदृश होते हैं। इन्हें 'स्वर-तन्त्री', 'स्वर-रज्जु' आदि कहते हैं।[१] इनकी खुलापन, बन्द, सामीप्यता, दूरत्व, कठोरता, शिथिलता, सकम्पन, कम्पनरहित आदि अनेक अवस्थाएँ होती हैं। इन अवस्थाओं को सम्यक्तया समझने के लिए अलिजिह्वा से लेकर स्वरयन्त्र तक के चित्र तथा स्वरतन्त्रियों की खुली अवस्था से लेकर बन्द अवस्था तक के अनेक असली चित्र यहाँ क्रमशः दिये गये हैं। जिनसे विना किसी विशेष व्याख्यान के ही उनकी अवस्थाओं का सरलतया बोध हो जाएगा।

शिथिल अवस्था में इन स्वरतन्त्रियों की लम्बाई सामान्यतया पुरुषों में पौन इञ्च तथा स्त्रियों में आधी इञ्च होती है और सख्त अवस्था में क्रमशः एक इञ्च एवं पौन इञ्च होती है। इनकी खुलने और बन्द होने रूपी गति सामान्यतया बोल-चाल के समय पुरुषों में प्रति सेकण्ड १०९ से १६३ तक के चक्र और स्त्रियों में प्रति सेकण्ड २१८ से ३२६ तक के चक्र होती हैं। इसके अतिरिक्त अभिनेता, संगीतज्ञों तथा प्रभावशाली, कुशल वक्ताओं में भावावेश के अनुसार अपेक्षाकृत अत्यधिक गति व कम्पन होता है। इनकी गति की अधिकतम सीमा प्रति सेकण्ड २०४८ तक होती है और न्यूनतम ४२ तक। प्रत्येक ध्वनि के उच्चरित होने के पश्चात् दोनों एक-दूसरे से मिलकर श्वासनलिका के द्वार को बन्द करतीं हैं, पुनः शीघ्र ही दूसरी ध्वनि को बोलने हेतु खुलती हैं।[२] इनकी खुलने एवं बन्द होने, कम्पित होने आदि सभी क्रियायें नियन्त्रित होतीं हैं अर्थात् आत्मा के द्वारा प्राप्त प्रेरणा से ही होतीं हैं। क्रोधावस्था में विवेक के खो जाने से मन अनियन्त्रित हो जाता है, अतः स्वरतन्त्रियों की गति भी अनियन्त्रित हो जाती है। फलतः उन्मत्तों के तुल्य कुछ का कुछ बोला जाता है। इसीलिए कहा जाता है कि शान्त होकर बोलना चाहिये। किसी-किसी में शारीरिक व मानसिक कमी के कारण ये स्वरतन्त्रियाँ अनियन्त्रित हो जाती हैं। फलतः वे रुक-रुक कर या तुतलाते हुये बोलते हैं।

---

१. ये दो परदे तार (तन्त्र) या रस्सी की आकृति में नहीं होते, अपितु ओठों के सदृश होते हैं। अतः आधुनिक लोग स्वरतन्त्री या स्वर-रज्जु नाम को अनुचित मानते हैं। वे 'स्वर-ओष्ठ' नाम को अधिक उचित मानते हैं।

२. पर दो वर्णों के मध्य में ह्रादसंज्ञक (घोषविशेष) ध्वनि निस्सृत होती है— ''प्रयत्नविशेषजनितो वर्णविरामेऽप्यनुसरणरूपो वर्णान्तरोच्चारणेऽप्यनुवर्तमानो घोषे 'ह्रादः' उच्यते (प्रदीपः १.४.१०८)।

५.४.३ स्वरतन्त्रियों की विविध अवस्थायें—

स्वरतन्त्रियों की खुलने, बन्द होने, समीप व दूर रहना आदि अनेक अवस्थायें हो सकती हैं। उनमें से यहाँ केवल प्रमुख एवं आवश्यक अवस्थाओं की ही चर्चा की जा रही है।

१. स्वरतन्त्रियों की प्रथम स्थिति श्वास लेते समय की है (द्र०-चित्र सं० ७)। इस अवस्था में दोनों स्वरतन्त्रियाँ एक-दूसरे से अधिकतम दूरी पर रहती हैं। अत: श्वास निर्बाध गति से, विना किसी घर्षण के ही दोनों के बीच से अन्दर प्रवेश कर लेता है। इसीलिए इस स्थिति में वे दोनों शिथिल, कम्पन रहित और सर्वथा पृथक्-पृथक् रहती हैं। इस समय इन दोनों के बीच की आकृति अर्थात् काकल या स्वरयन्त्रमुख की आकृति सर्वाधिक चौड़ी होती है। इस स्थिति में किसी भी प्रकार के वर्ण उच्चरित नहीं होते।

२. दूसरी स्थिति श्वास के निकालते समय की है (द्र०-चित्र सं० ८)। श्वास लेते समय की अपेक्षा श्वास निकालते समय काकल की चौड़ाई कुछ कम होती है अर्थात् स्वरतन्त्रियाँ कुछ समीप आ जाती हैं। इस अवस्था में भी श्वास (वायु) विना घर्षण के ही, निर्बाध गति से अधिक मात्रा में बाहर निकल जाता है।

३. तीसरी स्थिति विवृतदशा की है (द्र०-चित्र सं० ९, १०)। इस स्थिति में स्वरतन्त्रियाँ अपेक्षा कृत और अधिक समीप आ जातीं हैं। फलत: बाहर निकलते हुए वायु का इनसे घर्षण होता है। जिससे उतना नाद उत्पन्न होता है कि जितने से वर्ण (शब्द) की उत्पत्ति हो सके और वायु (श्वास) अधिकमात्रा में निकलता है। इस स्थिति को या इस स्थिति से उच्चरित वर्णों को विवृत, श्वास एवं अघोष स्थिति या वर्ण कहते हैं।

४. चौथी अवस्था संवृतदशा की है (द्र०-चित्र सं० ११, १२)। पूर्व स्थिति की अपेक्षा इस चौथी स्थिति में स्वरतन्त्रियाँ और अधिक समीप आ जाती हैं। वायु के निकलने का मार्ग न्यून होता है। अत: वायु इस संकीर्ण मार्ग (संवृत काकल) से निकलता हुआ, स्वरतन्त्रियों में घर्षण कर उनमें कम्पन उत्पन्न कर देता है। इस कम्पन से पूर्व स्थिति की अपेक्षा अधिक नाद उत्पन्न होता है और इस दशा में वायु अपेक्षा कृत कुछ कम ही बाहर निकलता है। इस स्थिति में उच्चरित वर्ण संवृत, नाद एवं घोष वर्ण कहलाते हैं।

१
मुख और अलिजिह्वा

२.
अलिजिह्वा

३.
अलिजिह्वा और स्वरयन्त्र
के मध्यस्थ गलबिल की
मांसपेशियाँ

४.
स्वरयन्त्रमुखदेशीय
स्थान एवं
तत्रस्थ मांसपेशियाँ

५.
स्वरयन्त्रमुखगह्वर

६.
स्वरयन्त्र तथा
मिथ्या स्वरतन्त्रियाँ

७.
स्वयन्त्र और स्वरतन्त्रियाँ
श्वासग्रहण की स्थिति

८.
श्वास-निष्काशन
की स्थिति

९.
विवृत (विवार),
श्वास एवं अघोष
की स्थिति

१०.
विवृत (विवार),
श्वास एवं अघोष
की स्थिति

११.
संवृत (संवार),
नाद एवं घोष
की स्थिति

१२.
संवृत (संवार),
नाद एवं घोष
की स्थिति

१३.
घोष और महाप्राण की स्थिति

१४.
उपांशु की स्थिति

१५.
उपांशु की स्थिति

१६.
उपांशु की स्थिति

१७.
स्वरयन्त्रमुख अवरुद्धता की ओर
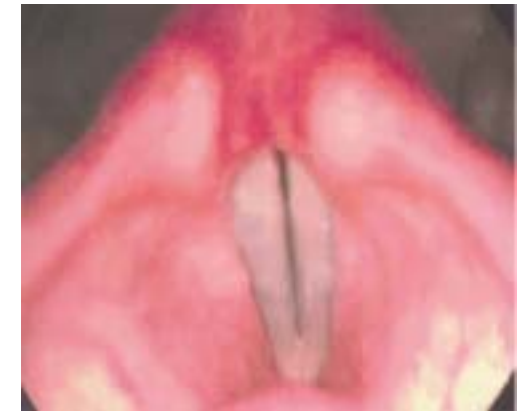
१८.
स्वरयन्त्रमुख अवरुद्धता की ओर

१९.
स्वरयन्त्रमुख अवरुद्धता की ओर

२०.
स्वरयन्त्रमुख की अवरुद्ध-स्थिति
(प्रत्येक वर्ण के उच्चरित होने के पश्चात् की स्थिति)

२१.
उपांशु व फुसफुसाहट की स्थिति

(चित्र ४-२४)

इन उपर्युक्त चारों स्थितियों में स्वरतन्त्रियाँ तथा गले की माँसपेशियाँ लगभग शिथिल ही रहती हैं।

५. पाँचवी अवस्था उपांशु की है (द्र०-चित्र सं० १४, १५)। इस अवस्था में स्वरयन्त्रमुख का एक चौथाई भाग ही खुला रहता है, शेष भाग बन्द ही रहता है और स्वरतन्त्रियाँ सख्त रहती हैं। स्वरयन्त्रमुख (काकल) के अत्यधिक संकीर्ण हो जाने के कारण वायु मन्दगति से निकलता है एवं स्वरतन्त्रियों के सख्त होने से उनमें कम्पन भी अति न्यून मात्रा में होता है। अत: नाद भी नाम मात्र का ही उत्पन्न होता है। इस मन्दगतिक वायु से तथा तज्जन्य अल्पमात्रिक नाद से उच्चरित वर्णों व ध्वनि को जप वा उपांशु कहते हैं, जो कि अघोष ही होता है। आपस में की जाने वाली गुप्त बातें (फुसफुसाहट की ध्वनि) भी इसी स्थिति में की जाती हैं। इस स्थिति को 'उपांशु-स्थिति' कहते हैं। इस उपांशु-स्थिति के अनेक भेद भी हैं। जो इस प्रकार हैं—

(क) घोष वर्णों की स्थिति (चौथी स्थिति) में भी कभी-कभी उपांशु व फुसफुसाहट की ध्वनि अर्थात् अघोष ध्वनि (वर्ण) निकलती है। क्योंकि ऐसी स्थिति में गले की मांसपेशियों को बहुत ही सख्त कर स्वरतन्त्रियों पर इतना तनाव रखा जाता है कि वायु के घर्षण से वे कम्पित ही नहीं होती। फलत: नाद न के समान ही उत्पन्न होता है। ऐसे नाद से उच्चरित ध्वनियाँ भी उपांशु होती हैं।

(ख) स्वरतन्त्रियाँ अपनी सामान्य स्थिति में ही विद्यमान हों, पर अस्वस्थता के कारण या अपने प्रयत्न के कारण वायु अति न्यून मात्रा में एवं बहुत ही मन्द गति से निकलता हो, तब भी उपांशु या फुसफुसाहट की ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं।

(ग) स्वरतन्त्रियों के ऊपर इन्हीं के सदृश दूसरी स्वरतन्त्रियाँ भी होती हैं, जिन्हें मिथ्या वा कृत्रिम स्वरतन्त्री (False Vocal Cords) कहते हैं। जो कि चित्रों में स्पष्ट रूप से दृग्गोचर हो रही हैं। ये अपेक्षाकृत कुछ छोटी भी होती हैं। यथार्थ स्वरतन्त्रियाँ सामान्य स्थिति में ही दूर-दूर स्थित हों, पर मिथ्या-स्वरतन्त्रियाँ एक दूसरे के समीप आकर वायु के अधिकांश मार्ग को अवरुद्ध कर देती हैं। ऐसी स्थिति में भी उपांशु की ध्वनियाँ बोली जातीं हैं।

(घ) घोष और अघोष की स्थिति अर्थात् चौथी एवं तीसरी स्थिति की मध्यम स्थिति से भी कभी-कभी उपांशु ध्वनियाँ बोली जाती हैं।

(ङ) एक अवस्था ऐसी भी होती है जब दोनों (मिथ्या एवं यथार्थ) स्वरतन्त्रियों का तीन चौथाई भाग बन्द हो जाता है और एक-चौथाई भाग ही खुला रहता है। इस स्थिति में भी बहुत फटी ध्वनि अथवा उपांशु ध्वनि निकलती है। पर यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रहती है।

६. छठी स्थिति वह है, जिसमें स्वरतन्त्रियाँ एक कोने से दूसरे कोने तक एक-दूसरे के घनिष्ठ सम्पर्क में आ जाती हैं अर्थात् स्वरयन्त्रमुख (काकल) पूर्णतः बन्द हो जाता है (द्र०-चित्र सं० २०)। फलतः वायु भी पूर्णतः अवरुद्ध हो जाता है और वर्णों की उत्पत्ति नहीं होती है। यही स्थिति प्राणायाम के समय या किसी भारी चीज को उठाते समय भी रहती है। उच्चारण के समय जब स्वरतन्त्रियाँ उस स्थिति में आकर झटके के साथ खुलती हों तो तब काकल्य स्पर्श वर्ण उच्चरित होते हैं।

७. सातवीं स्थिति महाप्राण की है। घोषवर्णों की (चौथी) स्थिति में ही जब वायु स्वरतन्त्रियों से घर्षण करता हुआ वेग से अधिक मात्रा में बाहर निकलता है, तब नाद के साथ-साथ श्वास भी अधिक मात्रा में निकल जाता है। ऐसी स्थिति में उच्चरित वर्ण महाप्राण कहलाते हैं।

इस प्रकार स्वरतन्त्रियों की अनेक अवस्थाएँ हो सकतीं हैं और प्रत्येक अवस्था में कठोरता, शिथिलता, सकम्पन, निष्कम्पन आदि भेदों से अनेक उपभेद भी होंगे। यहाँ तो केवल आवश्यक, मुख्य अवस्थाओं की ही चर्चा की गई है।

५.४.४ काकल—

स्वरतन्त्रियों के मध्यस्थ खुले भाग को ही 'काकल' कहते हैं। इसके लिए कण्ठ, कण्ठबिल, कण्ठगह्वर, कण्ठपिटक, शरीरवीणा, उरः, स्वरयन्त्रमुख, ध्वनियन्त्रमुख, उपजत्रु आदि नाम मिलते हैं। इसका कार्य स्वरतन्त्रियों के साथ ही बता दिया गया है। अ, आ, अ३, ह आदि वर्ण यहीं से बोले जाते हैं।

५.४.५ अभिकाकल—

काकल के कुछ ऊपर, जिह्वामूल के निचले भाग में अलिजिह्वा के आकार का एक छोटा सा मांसल भाग होता है, जिसे अभिकाकल,

स्वरयन्त्रमुख-आवरण, स्वरयन्त्र-आवरण आदि कहते हैं। इसका भी कार्य पूर्व ही बता चुके हैं। वर्णों के उच्चारण में यह परोक्षतः सहायक है।

५.४.६ गलबिल—

अभिकाकल के ऊपर, नासिकाविवर के नीचे एवं मुखविवर के पीछे कुछ रिक्त स्थान है, जो कि एक चतुष्पथ (चौराहे) के समान स्थित है। क्योंकि यहाँ से चार मार्ग हैं—(१) मुखविवर की ओर, (२) नासिकाविवर की ओर, (३) भोजननलिका की ओर और (४) श्वासनलिका की ओर। इसे ही गलबिल, कण्ठबिल, उपालिजिह्वा आदि कहते हैं। यह भी कभी चौड़ा, कभी संकुचित, कभी मध्यस्थ, कभी सख्त, कभी कोमल आदि अनेक अवस्थाओं को प्राप्त होते हुए विविध वर्णों के उत्पादन में सहायक बनता है।

५.४.७ अलिजिह्वा—

गलबिल में नासाविवर एवं मुखविवर के मध्य में स्थित कोने पर चलायमान, जिह्वा के सदृश छोटा सा मांसल पिण्ड रहता है, जिसे अलिजिह्वा, कौआ, घण्टी, शुण्डिका आदि कहते हैं। यह कोमलतालु के साथ मिली हुई रहती है और उसके साथ मिलकर विविध अवस्थाओं को प्राप्त होती हुई अनेक वर्णों के उच्चारण में सहायक बनती है। यहाँ इसकी तीन प्रमुख अवस्थायें दिखाते हैं—

(चित्र—२५-२७)

१. प्रथम स्थिति में अलिजिह्वा सामान्य एवं स्वाभाविक अवस्था में रहती है अर्थात् शिथिल होकर नीचे की ओर लटकी हुई रहती है। जिससे मुखविवर पूर्णरूप से बन्द हो जाता है और नासिकाविवर पूरा खुला रहता है। फलस्वरूप नासिका के द्वारा श्वास–प्रश्वास निर्बाध गति से चलते रहते हैं। इस अवस्था में स्वीकारात्मक 'हूँ' शब्द और शुद्ध नासिक्य वर्ण उच्चरित होते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य वर्णों का उच्चारण नहीं होता। अत: यह अवस्था वर्णोच्चारण के लिए उपयुक्त नहीं है।

२. दूसरी अवस्था में अलिजिह्वा सख्त होकर, तनकर खड़ी हो जाती है, जिससे नासिकाविवर पूर्णरूप से बन्द हो जाता है तथा मुखविवर पूरा ही खुल जाता है। फलत: अन्दर से आगत वायु और नाद केवल मुख में प्रविष्ट हो जाते हैं। अधिकांश वर्ण इसी अवस्था में उच्चरित होते हैं। अत: यह अवस्था वर्णोच्चारण में अत्यधिक उपयुक्त सिद्ध होती है। इस स्थिति में नासिका से श्वास नहीं ले सकते हैं, परन्तु मुख से ले सकते हैं। पर यह अस्वाभाविक है और हानिकारक भी है।

३. इन दोनों अवस्थाओं के बीच की अवस्था ही इसकी तीसरी अवस्था है अर्थात् अलिजिह्वा इसमें न तो पूर्णत: शिथिल ही रहती है, न ही पूरा कठोर, अपितु मध्यावस्था में रहती है। जिससे काकल से आगत वायु तथा नाद ध्वनियाँ मुख में एवं नासिका में प्रवेश कर जाती हैं। अनुनासिक वर्ण इसी अवस्था में उच्चरित होते हैं।

५.४.८ मुख और नासिका—

वर्णों के उच्चारण में ये दोनों अवयव प्रत्यक्षत: दृष्ट एवं प्रमुख उपयुक्त अवयव हैं। इन दोनों को विभक्त करने के लिए मध्य में एक दीवार जैसा तालु (Plate) रहता है। जो कि दन्तमूल से प्रारम्भ होकर गलबिल में विद्यमान अलिजिह्वा पर समाप्त होता है। इसी में जिह्वा के स्पर्श से अनेक वर्ण उत्पन्न होते हैं। इसे कण्ठ, मूर्धा, तालु आदि के रूप में विभक्त किया जाता है। इन सभी भागों की उपयोगिता की चर्चा आचार्य पाणिनि स्वयं करेंगे। अत: यहाँ केवल कण्ठ (कोमल तालु) की कुछ विशेष चर्चा मात्र ही की जाती है।

अलिजिह्वा से आगे (दाँतों) की ओर बढ़ने पर कुछ कोमल एवं मांसल भाग रहता है, जिसे प्राचीन आचार्यों ने कण्ठ नाम दिया है और आधुनिकों

ने कोमल तालु।[१] इस अवयव की भी तीन प्रमुख स्थितियाँ होती हैं—१. शिथिल, २. कठोर, ३. मध्यम। यह अवयव ऊपर एवं नीचे की ओर हिलता रहता है। सामान्यत: (श्वास–प्रश्वास के समय) शिथिल होकर नीचे की ओर लटका रहता है। इससे मुखविवर बन्द हो जाता है और नासिका–विवर खुल जाता है। जब कठोर होकर तनकर ऊपर हो जाता है ,तब नासिका–विवर बन्द हो जाता है और मुखविवर खुल जाता है। कभी–कभी मध्यावस्था में अर्थात् न शिथिल, न सख्त रहता है, इससे मुख एवं नासिका दोनों न तो पूर्ण बन्द होते हैं, न ही पूर्ण खुलते हैं। अपितु दोनों ही थोड़े–थोड़े खुले रहते हैं। इस प्रकार मुख तथा नासिका के बीच में अलिजिह्वा के साथ मिलकर यह एक कपाट के सदृश कार्य करता है। वर्णोच्चारण में यह भी एक महत्त्वपूर्ण अवयव है। इसकी प्रथम अवस्था में नासिक्य वर्ण, दूसरी अवस्था में सभी स्वर (अ, इ, उ आदि) एवं स्पर्श वर्णों में कवर्ग (क, ख, ग, घ) और तीसरी अवस्था में अनुनासिक वर्ण (ङ आदि) बोले जाते हैं। यहाँ से उच्चरित वर्णों को कण्ठ्य कहते हैं।
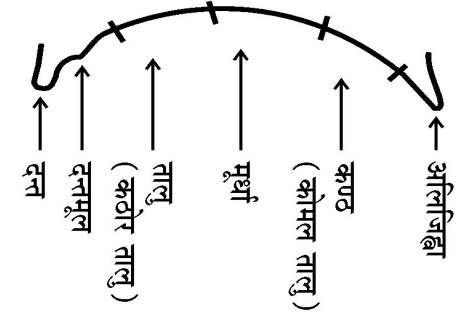
(चित्र—२८)

५.४.९ जिह्वा—

जिह्वा जिस प्रकार रसास्वादन का एकमात्र महत्त्वपूर्ण प्रधानभूत साधन है, उसी प्रकार भाषोत्पादन में भी एक अत्यन्त प्रमुख साधन है। अत एव यह वाणी, ज़ुबान (अरबी), Lingua (लैटिन), Langue (फ्रेंच) आदि नामों से व्यवहृत होती है। सामान्यतया यह मुख के निचले भाग में शिथिल पड़ी रहती है। पर बोलने के समय में विभिन्न स्थानों से स्पर्श कर अनेक वर्णों को उत्पन्न करती है।

---

१. सुप्तावस्था में यह कभी–कभी अनियन्त्रित हो जाता है, जिससे श्वास लेते समय फड़फड़ाने लगता है। फलत: खर्राटे की ध्वनि उत्पन्न होती है।

इसके छह भाग किये जाते हैं—१. अग्र, २. उपाग्र, ३. अग्राध, ४. मध्य, ५. पश्च, ६. मूल। पुनः प्रत्येक भाग के उत्थान एवं पतन (ऊँचाई एवं नीचाई) के रूप में भी इस की स्थितियों का विभाजन किया जाता है। इसकी सामान्य स्थिति में अर्थात् जब नीचे चिपकी हुई सी रहती है, तब 'आ' वर्ण बोला जाता है। जब सम्पूर्ण रूप से ऊपर उठकर कण्ठ आदि स्थानों का स्पर्श करती है, तब व्यञ्जन (स्पर्श वर्ण) उत्पन्न होते हैं। स्वरों के उच्चारण में यह एक सीमा तक ही ऊपर उठती है, जिसे 'स्वर-सीमा' कहते हैं।

(चित्र—२९)

जिह्वा का अग्र आदि कोई भी भाग इस सीमा का अतिक्रमण कर जाये तो स्वर-ध्वनि के स्थान पर व्यञ्जन-ध्वनि उत्पन्न होती है। इस सीमा के भी चार विभाग किये गये हैं।
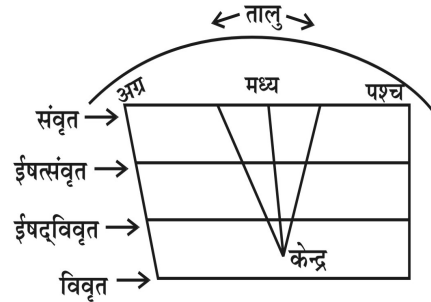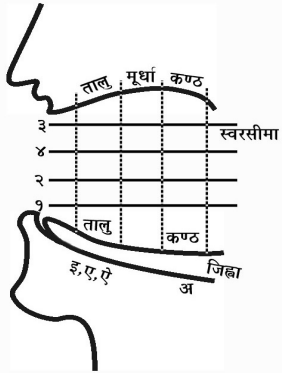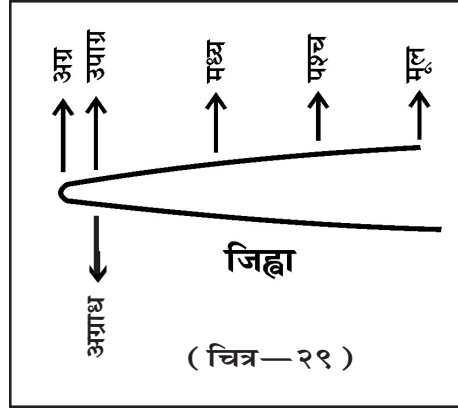
(चित्र—३०, ३१)

१. जब जिह्वा सबसे नीचे शिथिल पड़ी रहती है, तब मुख-विवर अधिक विस्तृत होता है। अतः इस स्थिति को 'विवृत' कहते हैं।

२. जब जिह्वा कुछ ऊपर की ओर उठती है, तब मुख-विवर कुछ कम विस्तृत रहता है। अतः इस स्थिति को 'ईषद्विवृत' कहते हैं। जिसे आधुनिक भाषाविद् 'अर्धविवृत' कहते हैं।

३. जिह्वा जब 'स्वर-सीमा' तक उठी हुई होती है, तब मुख-विवर बहुत संकीर्ण हो जाता है। अतः इस स्थिति को 'संवृत' कहते हैं।

४. जिह्वा जब 'स्वर-सीमा' से कुछ निचले भाग तक ही उठी हुई होती है, तब मुख-विवर का संकीर्णत्व कम हो जाता है अर्थात् कुछ विस्तृत बन जाता है। अतः इसे 'ईषत्संवृत' कहते हैं और अधुनातन भाषावैज्ञानिक इसे 'अर्ध-संवृत' कहते हैं।

इन उपर्युक्त अग्र, उपाग्र आदि विभाजनों और विवृत, ईषद् विवृत आदि सीमाओं को 'मानस्वर' कहा जाता है। इसके परिज्ञान से विश्व की किसी भी भाषा की कोई भी ध्वनि शुद्ध-शुद्ध बोली जा सकती है। क्योंकि जिस ध्वनि (स्वर) को बोलने की इच्छा हो, मानस्वर के अनुसार निर्धारित भाग, स्थान एवं उच्चत्व व नीचत्व का ठीक-ठीक प्रयोग किया जाए तो वही अभीष्ट ध्वनि उत्पन्न होगी, अन्य नहीं, अस्तु।

जिह्वा के किस-किस भाग से कौन-कौन से वर्ण उत्पन्न होते हैं और कौन-कौन से वर्ण संवृत वा विवृत धर्म वाले हैं, इन सभी का वर्णन स्वयं महर्षि पाणिनि आगे करेंगे। अतः विस्तरभिया यहाँ पुनः वर्णन नहीं किया जा रहा है। पुनरपि कुछ विशिष्ट वर्णों के उच्चारण में जिह्वा, अलिजिह्वा आदियों की स्थिति के बोध के लिए चित्रावलि यहाँ दी जा रही है, जिससे सब कुछ ज्ञात हो जायेगा।

१
अ, आ, ह

२
कवर्ग (क, ख, ग, घ)
(कण्ठ्य)

३
चवर्ग (च,छ,ज,झ)
(तालव्य)
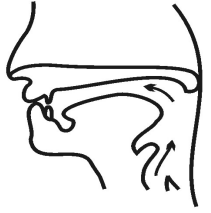
४
टवर्ग (ट,ठ,ड,ढ) (मूर्धन्य)
५
तवर्ग (त,थ,द,ध)
६
(दन्त्य) तवर्ग (दन्तमूल)
७
पवर्ग (प,फ,ब,भ) (ओष्ठ्य)
८
ङ (कण्ठ+नासिका)
९
ञ (तालु+नासिका)
१०
ण (मूर्धा+नासिका)
११
न (दन्त+नासिका)
१२
म (ओष्ठ+नासिका)
१३
र (मूर्धा)
१४
स (दन्त्य)
१५
श (तालव्य)

(चित्र—३२-४६)

अथ पाणिनीयशिक्षा

[वृद्धपाठः]

शिक्षा-भूमिका

१. आकाशवायुप्रभवः शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः॥

आकाशवायुप्रभवः[१]=आकाश और वायु के संयोग से उत्पन्न **नादः**=कत्व, गत्वादि भेद-रहित अव्यक्तध्वनि **शरीरात्**=नाभिप्रदेश से **समुच्चरन्**=ऊपर उठता हुआ **वक्त्रम्**=मुखदेश को **उपैति**=प्राप्त होता है। और वह नाद **स्थानान्तरेषु**=कण्ठ, मूर्धा आदि स्थानों में **प्रविभज्यमानः**= प्रविभक्त होता हुआ **यः**=जो **वर्णत्वमागच्छति**=वर्णरूपता को प्राप्त करता है अर्थात् जो कत्व, गत्वादि व्यक्तध्वनि के रूप में परिवर्त्तित होता है **सः**=वह **शब्दः**=शब्द कहलाता है।[२]

विशेष—यहाँ आकाश का तात्पर्य नाभिप्रदेश में वायु के अथवा अवयवों के सञ्चरणार्थ विद्यमान अवकाश रूप आकाश समझ लेना चाहिए। किन्हीं का मत है कि नाभि के नीचे 'ब्रह्मग्रन्थि'[३] नामक स्थान विद्यमान है, जिसे आकाश कहते हैं। 'वायु' शब्द से यहाँ व्यान और उदान संज्ञक वायुओं का ग्रहण करना चाहिये। जैसे कि 'शिक्षा-भाष्य-भूमिका' (द्र०-शब्दोत्पत्ति-रहस्य; पृ० ६०) में कह चुके हैं।

श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षा में शब्दोत्पत्ति के प्रकार का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है—

---

१. प्रभवति उत्पन्नो भवति अस्मादिति प्रभवः उत्पत्तिस्थानम्। आकाशश्च वायुश्चा-काशवायू, ताभ्यां प्रभवतीति आकाशवायुप्रभवः। नादः तयोः संयोगेनोत्पन्न इति भावः।

२. स सङ्घातादीन् वाक् (वा०प्रा० १.९) वह वायु संघात=स्थान-करण का स्पर्श रूपी पुरुषप्रयत्नों को प्राप्त कर वाणी हो जाती है।

३. तु० सङ्गीत रत्नाकर- १.२.१२०, १४५, १४६।

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्। —श्लो०पा०शि० ६,७

विवक्षया=कहने की इच्छा से **आत्मा**=जीवात्मा अपनी चिन्तनशक्ति के द्वारा संस्कार रूप से विद्यमान स्वगत **अर्थान्**=अर्थों को **बुद्ध्या**=बुद्धि से, स्ववृत्ति से **समेत्य**=एक बुद्धिविषयी बनाकर **मनः**=मन को **युङ्क्ते**=प्रेरित करता है। **मनः**=वह मन **कायाग्निम्**=जठराग्नि को **आहन्ति**=प्रेरित करता है, उद्बुद्ध करता है। **सः**=वह मनःप्रेरित अग्नि **मारुतम्**=वायु को प्रेरित करता है, चेष्टित करता है। **तु**=और वह **मारुतः**=वायु **उरसि**=उरःस्थान की ओर **चरन्**=ऊपर उठता हुआ, कण्ठबिल को प्राप्त कर **मन्द्रं स्वरम्**=गम्भीर ध्वनि, नादध्वनि को **जनयति**=उत्पन्न करता है।

इस विषय का प्रतिपादन ऋग्वेद में भी किया गया है—

पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्त्ति तां गन्धर्वोऽवदद् गर्भे अन्तः।
तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषामृतस्य पदे कवयो नि पान्ति॥
—ऋ० १०.१७७.२

पतङ्गः=जन्म-जन्मान्तरों में गमनशील जीवात्मा[१] **वाचम्**=वाणी को, शब्दों को **मनसा**=मन से, मन की सहायता से **बिभर्त्ति**=धारण करता है,[२] अर्थात् कहने की इच्छा से जीवात्मा मन को प्रेरित कर शब्द उत्पन्न करता है। परन्तु आत्मा केवल मन की सहायता से शब्द को धारण व उत्पन्न नहीं कर सकता। अतः मन्त्र आगे कहता है—**गर्भे अन्तः**=मन के अन्दर आत्मा द्वारा प्राप्त प्रेरणा के रूप में विद्यमान अनभिव्यक्त **ताम्**=उस वाणी को **गन्धर्वः**=प्राणवायु[३] द्योतित [प्रकाशित] करता है[४], व्यक्त करता है। अर्थात् वायु

१. पतति गच्छति जन्मजन्मान्तरमिति पतङ्गो जीवात्मा।
२. मनसैव वाग्धृता (कपिष्ठलकठसंहिता ३७.४)।
मनः पूर्वरूपं वागुत्तररूपं, मनसा वा अग्रे संकल्पयत्यथ वाचा व्याहरति (ऐ०आ० ३.१.१)।
३. प्राणो वै गन्धर्वः (जै०उ०ब्रा० ३.३६.३)।
गाः शब्दान् धारयतीति गन्धर्वः प्राणवायुरिति सायणः। ऋ० १०.१७७.२
४. अनुकरणात्मक एवं उक्तार्थ के बोधक 'तां द्योतमानाम्' शब्दों के द्वारा सूचित होने से 'द्योतयति=द्योतित करता है' क्रिया का अध्याहार किया गया है।

कण्ठबिल में नाद को उत्पन्न कर कण्ठ आदि स्थानों में शब्द को व्यक्त करता है, श्रोत्र का विषय बनाता है। जो कि मन के अन्दर निहित था।[१] **ताम्**=उस **द्योतमानाम्**=द्योतमान, **स्वर्यम्**=स्वर्गमयित्री, स्वर्ग के लिए हितकारिणी, **मनीषाम्**= मनोगत आत्मेच्छा को अर्थात् आत्मेच्छा से जनित वाणी को **कवयः**=ऋषि आदि मेधावी, ज्ञानी जन **ऋतस्य**=ज्ञान के **पदे**=स्थान में **नि पान्ति**=निश्चय से, भलीभाँति रक्षा करते हैं अर्थात् अध्यापन से उसकी रक्षा करते हैं।[२]

ऐतरेय ब्राह्मण में भी कहा गया है कि वाणी (शब्द) का प्रवर्त्तक मन है—**'मनसा वा इषिता वाग्वदति'** (ऐ०ब्रा० २.२८)। अर्थात् मन से प्रेरित होकर ही वाणी बोलती है।

शब्दोत्पादन विषय को प्रतिपादित करनेवाले ऊपर के सभी वचनों का सार यह है कि—पहले किसी विषय की अभिव्यक्ति की इच्छा, कुछ कहने की इच्छा आत्मा में होती है, जिसे **'ऐन्द्री वाक्'** कहते हैं (इन्द्र=आत्मा)। तदनन्तर आत्मा स्वगत विषयों के प्रकटीकरण के लिए स्ववृत्तिभूत बुद्धि से अर्थ (विषय) का विचार (सामान्य रूप से ग्रहण) करती है। तत्पश्चात् उस अर्थ को प्राप्त कर उसी बुद्धि से उस सामान्य रूप से गृहीत अर्थ का निरूपण (दर्शन) करती है। तब उस अर्थ के वाचक शब्द व वाक्य को बुद्धि से ही विचारती है। इसके पश्चात् उस विचारित, निर्णीत शब्द व वाक्य के उच्चारणार्थ मन को प्रेरित करती है। आत्मेच्छा से प्रेरित या युक्त वह मन कोष्ठाग्नि को प्रेरित करता है। वह अग्नि (आग्नेयी वाक्) तत्समीपस्थ व नाभिस्थ व्यान वायु[३] को सक्रिय करता है। यह व्यान वायु (वायव्या वाक्) उदर में स्थित सभी अवयवों (आँत आदि) को अन्दर की ओर नोदन करता है। फलतः फेफड़ों में पूरित वायु बाहर की ओर निकलता है[४],

१. मन्त्र में बुद्धि और अग्नि के व्यापारों का उल्लेख नहीं है।
२. 'अध्यापनेन नितरां रक्षन्ति' इति सायणः। ऋ० १०.१७७.२
३. यो व्यानः सा वाक् (छा०उ० १.३.३)।
४. यहाँ यह विशेषतः ध्यातव्य है कि 'शरीरात् समुच्चरन्', 'मारुतस्तूरसि चरन्', 'तत्र नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितः प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रामन्......' आदि वचनों से प्रायः यह भ्रान्ति होती है कि अग्निप्रेरित वायु ही नाभिप्रदेश से कण्ठादि अवयवों में आकर शब्द को उत्पन्न करता है। पर यह यथार्थता से बहुत दूर है। क्योंकि श्वासनलिका का सम्बन्ध केवल फेफड़ों एवं तत्रस्थ वायु से ही है, न कि उदर

जो कि उदान वायु कहा जाता है। यही उदान वायु ऊपर उठता हुआ कण्ठ (स्वरयन्त्र) में विकृत होकर नाद को उत्पन्न करता है। वही नाद कण्ठ, तालु आदि स्थानों में विभक्त होकर क्, च् आदि शब्दों (व्यक्तध्वनियों) को उत्पन्न करता है।[1]

ऊपर वर्णित शिक्षा के श्लोकद्वय में एवं ऋक्मन्त्र में वाक् के तीन रूपों व भेदों का वर्णन भी झलकता है। वे भेद हैं परापश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी। इनका स्वरूप निम्नप्रकार हैं—

१. शब्द पहले अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था अर्थात् अव्यक्तावस्था में पहले आत्मा में स्थित रहता है। जो कि प्राणवृत्तियों से विहीन, लोकव्यवहारातीत, अपभ्रंश आदि दोषों से रहित, विशुद्ध ज्ञान मात्र है, **नित्य है,**[2] कारक, प्रकृति प्रत्यय आदि विभागों से अतिक्रान्त होने से व्याकरण-शास्त्र से परे है, केवल योगियों के द्वारा ही अधिगम्य है। इसे ही 'पश्यन्ती' या 'परापश्यन्ती' कहते हैं।[3]

२. मध्यमा वाक् बुद्धिस्थ है। इसका उपादान कारण बुद्धि है। यह अन्तःसन्निविष्ट अर्थात् मन आदि करणस्थ नहीं है, सूक्ष्मप्राणवृत्तिजन्य है। वर्णात्मक क्रम को ग्रहण करती हुई सी होती है अर्थात् इस क्रमविशिष्ट शब्द का उच्चारण करूँगा—इस प्रकार का बुद्धि में जो शब्दाकार बनता है, यही

व उदरस्थ वायु से भी। अतः उदरस्थ वायु श्वासनलिका में आ ही नहीं सकता। जो उदरस्थ वायु डकार आदि के रूप में मुख में आता है, वह भोजन-नलिका से आता है, न कि श्वासनलिका से। और वह वायु उच्चारणार्थ सर्वथा अनुपयुक्त है। वर्णोच्चारण के लिए उपयुक्त वायु तो केवल फेफड़ों में पूरित एवं श्वासनलिका से आगत वायु ही है, अन्य नहीं। अत एव हमने शारीरिक यथार्थ प्रक्रिया के आधार पर व्याख्यान किया है। जिसे शिक्षाभाष्यभूमिका (शब्दोत्पत्तिरहस्य) में भी देखा जा सकता है।

१. किमिदमुच्चारणं नामेति? विवक्षाजनितेन प्रयत्नेन कोष्ठ्यस्य वायोः प्रेरितस्य कण्ठताल्वदिप्रतिघातः, यथास्थानं प्रतिघाताद् वर्णाभिव्यक्तिः (वात्स्यायनभाष्यम्, न्याय० २.२.१८)।
२. वाग्वै समुद्रो न वै वाक् क्षीयते, न समुद्रः क्षीयते (ऐ०ब्रा० ५.१६)।
३. पश्यन्तीरूपमनपभ्रंशमसङ्कीर्णं लोकव्यवहारातीतम्। तस्या एव वाचो व्याकरणेन साधुत्वज्ञानलभ्येन वा शब्दपूर्वेण योगेनाधिगम्यत इत्येकेषामागमः।
—वृत्तिः वा०प०ब्रह्म० १३३

मध्यमा वाक् है।[1] जो कि केवल वक्ता के द्वारा ही अधिगम्य है।

३. वैखरी वाक् स्थूलप्राणवृत्तिज है, ताल्वादि अवयवस्थ है, दूसरों के द्वारा ज्ञेय है अर्थात् श्रोत्र से ग्राह्य है तथा विशिष्ट आनुपूर्वी के रूप में स्पष्टतया श्रूयमाण होती है। **जो कि अनित्य है।**[2]

शब्द एवं अर्थ के कार्यकारणभाव में भी संशय उत्पन्न होता है और इस विषय की चर्चा शास्त्रों में यथावसर पर्याप्त की गई है। इसका भी समाधान यहाँ किया गया है कि '**आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्०**'। अर्थ पहले विद्यमान रहता है, तत्पश्चात् तदनुकूल शब्द का प्रयोग किया जाता है। अर्थात् शब्द अर्थनिमित्तक है, न कि अर्थ शब्दनिमित्तक। अत एव भगवान् पतञ्जलि ने भी कहा है—'**अर्थनिमित्तक एव शब्दः**' (म०भा० १.१.४६)।

महाभाष्यकार ने शब्द का लक्षण इस प्रकार किया है—

श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः (म०भा० अ इ उ ण्)—(प्रयोगेणाभिज्वलितः) जो वक्ता के द्वारा प्रयुक्त होने पर ध्वनित (प्रकट) होता है, (आकाशदेशः) जो आकाश में व्याप्त होनेवाला है, (श्रोत्रोपलब्धिः) श्रोता के श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा जो गृहीत होता है और जिसका अर्थ (बुद्धिनिर्ग्राह्यः) श्रोता की बुद्धि द्वारा निश्चित रूप से गृहीत होता है, वही शब्द कहलाता है अर्थात् ये सभी लक्षण जिसमें घटित होते हैं, वही शब्द है।[3]

शब्द ज्ञानात्मा है अर्थात् ज्ञान ही शब्द है, जो कि आत्मा में विद्यमान रहता है। वही शब्द बुद्धि में आकर क्रमविशेषता को प्राप्त होता है और वाणी (स्थान, करण, आदि के प्रयत्नों) के द्वारा प्रकट होता है। तत्पश्चात् आकाश में स्थित वायु के माध्यम से तरंगों के रूप में श्रोता के श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा गृहीत होता है। श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा गृहीत उस ध्वनिरूप शब्द का अर्थ (अभिप्राय) श्रोता की बुद्धि में प्रस्फुटित होता है। वही अर्थ (शब्द) श्रोता के आत्मा में विज्ञात हो जाता है। यही शब्द का सम्पूर्ण स्वरूप है।[4] शब्द

१. मध्यमा त्वन्तःसन्निवेशिनी परिगृहीतक्रमेव बुद्धिमात्रोपादाना। सा तु सूक्ष्मप्राणवृत्त्यनुगता०। —वृत्तिः-वा०प०ब्रह्म० १३३
२. परैः संवेद्यं यस्याः श्रोत्रविषयत्वेन प्रतिनियतं श्रुतिरूपं सा वैखरी।
—वृत्तिः वा०प०ब्रह्म० १३३
३. पृष्ठ १९२-१९३ भी यहाँ विशेषतया द्रष्टव्य हैं।
४. यहाँ योगदर्शन ३.१७ सूत्र का व्यासभाष्य भी विशेषतया द्रष्टव्य है।

का एक (आद्य) रूप वक्ता के आत्मा व बुद्धि में रहता है तो दूसरा (अन्त्य) रूप श्रोता के आत्मा व बुद्धि में रहता है। ये दोनों ही रूप आन्तरिक हैं। इन दोनों के बीच की स्थिति में विद्यमान शब्द केवल ध्वनिरूप है, अभिव्यञ्जक मात्र है। आन्तरिक शब्द ही यथार्थतः शब्द है—

यदन्तः शब्दतत्त्वं तु नादैरेकं प्रकाशितम्।
तदाहुरपरे शब्दं.......(वा०प० २.३०)

शब्दतत्त्व तो वही है, जो अन्तःस्थित है, जो कि नाद से ही प्रकाशित होता है, उसे ही शब्द कहा जाता है।

शब्द के अन्तरिक इन दो रूपों (वक्तृगत एवं श्रोतृगतों) का उल्लेख भर्तृहरि ने अन्यत्र भी किया—

द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते॥ (वा०प० १.४४)

शब्दविद् विद्वान् शब्द के दो रूपों को जानते हैं। एक वह है जो ध्वनिरूप शब्द का निमित्तभूत है अर्थात् वक्ता की बुद्धि में स्थित है, दूसरा वह है जो श्रोता की बुद्धि में अर्थरूप में प्रकट होता है। इसी को अन्यत्र कहा गया है—''**बुद्ध्यर्थादेव बुद्ध्यर्थे**'', ''**बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते**'' (वा०प० ३.३३, १.८४)।

यही भाव प्रकृत प्रसंग में भी ग्राह्य है—''**आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान्**'' और ''**प्रयोगेणाभिज्वलितः**'' शब्दों में वक्ता की बुद्धि में स्थित शब्द का वर्णन है एवं ''**श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः**'' में श्रोता की बुद्धिस्थ शब्द का वर्णन है। शब्द के इन आन्तरिक दो रूपों में ही शब्दों का सम्पूर्ण शब्दत्व निहित है।[१] अन्यथा वह ध्वनि मात्र है।[२]

यहाँ वैदिक शब्दों के शब्दत्व को भी समझना अनुचित नहीं होगा। वैदिक शब्दों का एक रूप परमात्मा में स्थित है, उसे परमात्मा ने मानवों के कल्याण निमित्त प्रकट किया। जो कि ध्वनिरूप है। उसका दूसरा रूप यदि मानव की बुद्धि द्वारा गृहीत हो जाए तो उसका शब्दत्व पूर्ण हो जाता है। अन्यथा वे शब्द केवल ध्वनि के रूप में ही रह जाते हैं अर्थात् वैदिक शब्दों में सम्पूर्ण वेदत्व नहीं रहता। इसलिए महावैयाकरण नागेश ने कहा कि—

१. जिसे स्फोट कहा जाता है।
२. वैखरी शब्द।

''**वेदत्वं शब्दतदर्थोभयवृत्ति**'' (उद्योत-म०भा० पस्प० आगमः खल्वपि)। निरुक्तकार महर्षि यास्क ने भी कहा है कि—

यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥ (निरु० १.१८)

जो (कर्णपरम्परया) श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा तो गृहीत हो गया है, पर बुद्धि में उसका अर्थ अज्ञात है, वह केवल ध्वनिरूप में ही प्रकट होता है। ऐसा शब्द वैसे ही व्यर्थ हो जाता है, जैसे कि अग्निसम्पर्क के विना सूखी लकड़ी में विद्यमान अग्नि निष्प्रयोजक है। इसलिए शब्द, अर्थ और उनके यथोचित सम्बन्ध के ज्ञान में ही शब्दों का सम्पूर्ण शब्दत्व निहित है।

इतना ही नहीं वक्ता के अभिप्राय के अनुकूल अर्थ के ग्रहण करने में ही शब्दों का शब्दत्व है—

योऽसौ येनोपकारेण प्रयोक्तॄणां विवक्षितः।
अर्थस्य सर्वशक्तित्वात् स तथैव व्यवस्थितः॥ (वा०प० २.४३०)

यद्यपि शब्द अनेकार्थक होते हैं, पुनरपि प्रयोक्ता की विवक्षा के अनुकूल अर्थ में ही उसकी सम्पूर्ण शक्ति (वाच्यता) विद्यमान रहती है। उसी प्रकार वैदिक शब्दों में भी ईश्वर के अभिप्रायों के अनुकूल अर्थ के ग्रहण करने में ही वेदत्व है, भिन्न अभिप्रायों में नहीं।

२. तमक्षरं ब्रह्म परं पवित्रं गुहाशयं सम्यगुशन्ति विप्राः।
स श्रेयसा चाभ्युदयेन चैव सम्यक् प्रयुक्तः पुरुषं युनक्ति॥

तम्=उस आकाश और वायु से उत्पन्न **गुहाशयम्**[१]=बुद्धि में स्थित **अक्षरम्**=नाशरहित, नित्य और **परं पवित्रम्**=अत्यधिक शुद्ध, अपभ्रंशादि दोष रहित **ब्रह्म**=सर्वव्यापक शब्दराशि की **विप्राः**=मनीषी, मेधावी, विद्वान् जन **सम्यक्**=अच्छी प्रकार से **उशन्ति**=प्राप्ति की कामना करते हैं। **स एव**= वही बुद्धिस्थ पवित्रतम शब्द ही **सम्यक् प्रयुक्तः**=अच्छे प्रकार से प्रयोग किया हुआ **अभ्युदयेन**=इहलौकिक सुख से **च**=और **श्रेयसा**=पारलौकिक मुक्ति के सुख से **पुरुषम्**=मनुष्य को **युनक्ति**=युक्त कर देता है।

१. गुहा=बुद्धिः, आशयः=आश्रयस्थानम्। गुहायां बुद्धौ अर्थतादात्म्यीभूताः शब्दाः शेरते तिष्ठन्तीति गुहाशयः इति उपपदतत्पुरुषः। गुहा बुद्धिरेव आशयः आश्रयस्थानं यस्य स गुहाशय इति वा बहुव्रीहिः।

विशेष—आकाश सभी पञ्चमहाभूतों में सर्वप्रथम उत्पन्न होनेवाला है और उसका गुण शब्द भी सभी तन्मात्राओं में सबसे पहले उत्पन्न होने वाली तन्मात्रा है। इन दोनों में क्रमशः किसी भी महाभूत या तन्मात्रा का मिश्रण नहीं है। अतः शब्द को यहाँ '**परं पवित्रम्**' कहा गया है। आकाश के व्यापक होने से उसका गुण शब्द भी व्यापक है। शब्द के व्यापक होने से '**बृहत्त्वाद् ब्रह्म**' की निरुक्ति के अनुसार यहाँ इसे 'ब्रह्म' कहा गया है।[१] यहाँ भी बुद्धिस्थ मध्यमा तथा आस्यस्थ वैखरी वाक् का वर्णन है।

इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषयों को क्रमशः विषयसूची के रूप में प्रस्तुत करते हैं—

३. स्थानमिदं करणमिदं प्रयत्न एष द्विधाऽनिलः।
स्थानं पीडयति वृत्तिकारः प्र क्रम एषोऽथ नाभितलात्॥

इदं स्थानम्=इस वर्ण का यह स्थान है ऐसा स्थान विषय का प्रतिपादक प्रथम प्रकरण है। **इदं करणम्**=इस वर्ण का यह करण है, ऐसा करण विषय का प्रतिपादक द्वितीय प्रकरण है। **एषः द्विधा प्रयत्नः**=इस वर्ण का यह द्विविध प्रयत्न है, ऐसा द्विविध (आभ्यन्तर और बाह्य) यत्न के प्रतिपादक क्रमशः तृतीय एवं चतुर्थ प्रकरण हैं। **अनिलः स्थानं प्रपीडयति**=वर्णोत्पादक वायु स्थान को कैसे प्रपीड़ित, आघात करता है? इस विषय का प्रतिपादक है पञ्चम प्रकरण। **वृत्तिकारः**=प्राचीन आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित वर्णों के भेदों का वर्णन छठे प्रकरण में है। **एषः क्रमः**=वर्णों का यह क्रम है, ऐसा वर्णक्रम का प्रतिपादन सप्तम प्रकरण में है। **अथ नाभितलात्**='**तत्र नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितः प्राणो नाम वायुः०**' से प्रारम्भ होनेवाले विषय अर्थात् नाभितल आदि में होनेवाले प्रयत्न आदि का निरूपण अष्टम प्रकरण में है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में आठ प्रकरण हैं, ऐसा जानें।

अब वर्णों के वर्गीकरण व भेदत्व के कारण एवं वर्णों की इयत्ता (संख्या) बतलाते हैं—

४. स्थानकरणप्रयत्नपरेभ्यो वर्णास्त्रिषष्टिः।

स्थानकरणप्रयत्नपरेभ्यः=कण्ठ्यादि स्थानों के भेद से, जिह्वाग्र आदि

१. 'नेदं यदिदमुपासते' (के०उ० १.४, ७) में कहा गया है कि वाणी एवं श्रोत्र का विषयभूत शब्द ब्रह्म (परमात्मा) नहीं होता। अत एव हमने व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ का प्रतिपादन किया है।

करणों के भेद से और बाह्याभ्यन्तर यत्नों के भेद से **वर्णाः**=वर्ण **त्रिषष्टिः**= तिरसठ हैं।

विशेष—अ, इ आदि वर्णों की और कवर्ग, चवर्ग आदि की भिन्नता उनके स्थान एवं करण की भिन्नता पर आधारित है। वैसे ही अ, आ आदि ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत वर्णों का तथा क, ख, ग, घ आदि वर्गीय वर्णों का भेदत्व उनके प्रयत्नों (काल, घोषत्वाघोषत्व, अल्पप्राणत्व-महाप्राणत्व आदि) पर आश्रित है। अतः पहले वर्णों के भेदत्व का कारण स्थानादि को बताकर तत्पश्चात् स्थानादि की भिन्नता के कारण वर्ण कितने होते हैं, यह बताया गया है। इन तिरसठ वर्णों का परिचय 'शिक्षा-भाष्य-भूमिका' (५.१, पृ० १६) में दे चुके हैं। प्रकृत सूत्र की विशेष व्याख्या के लिए परिशिष्ट-२ 'वर्णान्तरत्व के सिद्धान्त' को देखें।

५. चतुःषष्टिरित्येके।

स्थान, करण और प्रयत्नों के भेद से वर्ण **चतुःषष्टिः**=चौंसठ हैं, **इति**=ऐसा **एके**=किन्हीं पूर्वाचार्यों का मत है।

विशेष—यह मत पाणिनि से पूर्ववर्त्ती आचार्यों का है, पाणिनि के मत में वर्ण तिरसठ (६३) हैं। जिनके मत में दीर्घ 'ॡ' वर्ण है अथवा 'हुँ' नासिक्य वर्ण है, उनके मत में वर्ण चौंसठ (६४) हो जाते हैं। और जो उन दोनों वर्णों को मानते हैं, उनके मत में वर्ण पैंसठ (६५) हो जाते हैं, जैसे कि वा०प्रा० में माना गया है। वर्णों की संख्या और क्रम के विषय में प्रातिशाख्यों में पर्याप्त मतभेद मिलता है। यहाँ केवल संख्या विषयक मतभेद दिखाते हैं—

ऋक्प्रातिशाख्य में ५२ वर्ण माने गये हैं। जो कि इस प्रकार हैं— ८ समानाक्षर, ४ सन्ध्यक्षर, १ अनुस्वार, १ लृकार, १ प्लुत ईकार (ई३), २५ स्पर्श, ४ अन्तस्थ, ८ ऊष्म (ऋ०प्रा० के आद्यश्लोक ९, १०; १.१, २, ५, ८, ९, १०, ३०, ३१)।

तैत्तिरीयप्रातिशाख्य में ६० वर्ण स्वीकृत हैं। वे इस प्रकार हैं— १६ स्वर, २५ स्पर्श, ४ अन्तस्थ, ६ ऊष्म, १ अनुस्वार, १ विसर्जनीय, १ ळ, १ नासिक्य, ४ यम, १ स्वरभक्ति (तै०प्रा० १.२-९, ३४; २१.१२-१३; १.१६)।

वाजसनेयप्रातिशाख्य में ६५ वर्णों का उल्लेख है। वे हैं— २३ स्वर, २५ स्पर्श, ४ अन्तस्थ, ४ ऊष्म, १ जिह्वामूलीय, १ उपध्मानीय, १ अनुस्वार, १ विसर्जनीय, १ नासिक्य, ४ यम (वा०प्रा० ८.२-२५)।

ऋक्तन्त्र को ५७ वर्ण मान्य हैं। जिनमें १४ स्वर, २५ स्पर्श, ४ अन्तस्थ, ४ ऊष्म, १ विसर्जनीय, १ जिह्वामूलीय, १ उपध्मानीय, १ अनुनासिक (हुँ), ४ यम और २ अनुस्वार (अं, आं) हैं (ऋ०त० १.२)।

६. तत्र वर्णानां केषां किं स्थानं किं करणं प्रयत्नश्च [कः], ते द्विधा विभजते।[१]

तत्र वर्णानाम्=उन तिरसठ वर्णों में **केषाम्**=किस वर्ण का **किं स्थानम्**=क्या स्थान है ? **किं करणम्**=क्या करण है **च**=और **कः प्रयत्नः** क्या प्रयत्न है ? यह आगे निरूपित किया जायेगा। **ते द्विधा विभजते**=और उस प्रयत्न को द्विविध विभक्त करके निरूपित करेंगे अर्थात् आभ्यन्तर प्रयत्न एवं बाह्ययत्न के रूप में पृथक्-पृथक् प्रकरण में प्रतिपादित करेंगे।

••●••

१. मूलपाठोऽत्र सन्दिग्धः।

१. अथ प्रथमं स्थानप्रकरणम्

१. तत्र स्थानं तावत्

तत्र-अ०प०। स्थानम्-प्र०ए०। तावत्-अ०प०। **अर्थः**—(तत्र) स्थानकरणप्रयत्नादिषु (तावत्) प्रथमम्, पूर्वम् (स्थानम्) स्थानविषय उच्यते, निरूप्यत इति भावः।

भाषार्थ—(तत्र) स्थान, करण, प्रयत्न आदि वक्तव्य विषयों में से (तावत्) पहले (स्थानम्) वर्णों की उत्पत्ति का स्थान निरूपित किया जाता है।

विशेष—'तत्र' शब्द में '**यतश्च निर्धारणम्**' (अष्टा० २.३.४१) सूत्र से बहुतों में से किसी एक का निर्धारण करने के अर्थ में सप्तमी विभक्ति हुई है। 'तावत्' शब्द यहाँ 'अन्य कार्य करने से पूर्व' के अर्थ में है अर्थात् करणादि के विचार करने से पूर्व स्थान का विचार किया जाता है। जैसे कि—'**आर्ये! इतस्तावदागम्यताम्**' (अ०शा० १) '**पुरुषोऽयं प्रातरुत्थाय यान्यस्य प्रतिशरीरं कार्याणि तानि तावत् करोति, ततः सुहृदाम्, ततः सम्बन्धिनाम्**' (म०भा० १.१.५७, पृ० ४७४)। स्थान किसे कहते हैं यह पारिभाषिक शब्दों में बताया जा चुका है। (द्र०-पा०श० ४, पृ० १८)।

२. अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः।

अकुहविसर्जनीयाः-प्र०ब०। कण्ठ्याः-प्र०ब०। **समासः**—अश्च कुश्च हश्च विसर्जनीयश्च-अकुहविसर्जनीयाः, इतरेतरद्वन्द्वः। कण्ठे भवा उत्पन्ना जाता उपलब्धा इति कण्ठ्याः। शरीरावयवाच्च (अष्टा० ४.३.५५) इति भवार्थे यत्प्रत्ययः। **अर्थः**—(अकुहविसर्जनीयाः) अवर्णः कवर्गो हकारो विसर्गश्च (कण्ठ्याः) कण्ठदेशीयाः अर्थात् कण्ठत उत्पद्यन्त उपलभ्यन्ते। कण्ठेनोच्चारणीया इति यावत्।

भाषार्थ—(अकुहविसर्जनीयाः) अवर्ण, कवर्ग, हकार और विसर्जनीय वर्ण (कण्ठ्याः) कण्ठदेशीय हैं अर्थात् कण्ठ स्थान से उच्चारणीय हैं।

विशेष—आगे छठे प्रकरण के प्रारम्भिक दो सूत्रों में अवर्ण के अठारह (१८) भेद बताये जायेंगे। जो कि लोक में प्रसिद्ध हैं। उसी लोक-प्रसिद्धि के अनुसार यहाँ 'अ' (अवर्ण) से अठारह संख्यात्मक अवर्णजाति का

ग्रहण है। 'कु' से कवर्ग अर्थात् क्, ख्, ग्, घ्, ङ् वर्णों का ग्रहण है (द्र०-पा० श० ९)। 'ह' वर्ण से यहाँ असंयुक्त हकार का ग्रहण है।[1] क्योंकि पञ्चम तथा अन्तस्थ वर्णों से संयुक्त हवर्ण का स्थान उरः माना गया है। जैसे कि—

हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तःस्थाभिश्च संयुतम्।
उरस्यं तं विजानीयात् कण्ठ्यमाहुरसंयुतम्॥ —श्लो०पा०शि० १६[2]

विसर्जनीय और विसर्ग शब्द समानार्थक हैं। इनकी निरुक्ति के लिए पारिभाषिक शब्द (१९) द्रष्टव्य है। विसर्ग का स्थान वही होता है जिसके आश्रय से इसे उच्चारित किया जाता है। जैसे कि कहा भी गया है—

अनुस्वारयमानां च नासिका स्थानमुच्यते।
अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः॥ —श्लो०पा०शि० २२

यहाँ कहा गया है कि अयोगवाहों (विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार और यम) का स्थान वही होता है, जिसके वे आश्रित रहते हैं। पर इनमें से अनुस्वार एवं यम शुद्ध नासिक्य मात्र होने के कारण इनका स्थान नासिका निश्चित है तथा जिह्वामूलीय वर्ण जिह्वामूल से ही उच्चरित होने से इसका स्थान जिह्वामूल ही है। उपध्मानीय प्रायः प, फ के ही आश्रित होने से इसका भी स्थान ओष्ठ ही रह जाता है। बचा एक विसर्ग ही ऐसा है, जो आश्रय के स्थानीय होता है। अर्थात् अवर्ण के बाद का विसर्ग (अः) कण्ठ्य है, इवर्ण के बाद (इः) तालव्य, उवर्ण के बाद (उः) ओष्ठ्य, ए और ओ के बाद क्रमशः कण्ठ्यतालव्य तथा कण्ठ्योष्ठ्य, ऐ और औ के पश्चात् क्रमशः तालव्य और ओष्ठ्य हैं। जैसे—वेदः, कविः, गुरुः, कवेः, गुरोः, रैः, गौः आदि। इस प्रकार विविधरूप से उच्चरित होने के कारण ही इसे विसर्जनीय व विसर्ग कहते हैं—'**विविधरूपेण सर्जनीय उच्चारणीय इति विसर्गः**'। लघुमाध्यन्दिनीय शिक्षा में कहा भी गया है—

देवो वः सविता चात्र हकारसदृशो भवेत्॥
देवीस्तिस्रो विसर्गस्तु हिकारसदृशो भवेत्।
आखुस्ते पशुरित्यादौ हुकारसदृशो भवेत्॥

१. अवर्णश्च विसर्गश्च हकारश्चापि केवलः।
कण्ठ्या वर्णाः स्मृताः......(व०र०प्र०शिक्षा-३३)
२. तु०-लोमशीशिक्षा-९; व०र०प्र०शिक्षा-२६।

विसर्गश्चाग्नेरित्यादौ हेकारसदृशो भवेत्।
विसर्गो बाह्वोरित्यादौ होकारसदृशो भवेत्॥
अथ स्वैर्दक्षैरित्यादौ हिकारसदृशो भवेत्।
विसर्गो द्यौष्पितेत्यादौ हुकारसदृशो भवेत्॥
हकारो नैव मन्तव्य इति शास्त्रव्यवस्थितिः।
फणिनिश्वाससदृशो विसर्गो भवति ध्रुवम्॥
—ल०मा०शि० १८.२२

सूत्रकार ने जो विसर्ग को कण्ठ्य कहा है, वह केवल शुद्ध विसर्ग की दृष्टि से है। क्योंकि केवल (अनाश्रित) विसर्ग कण्ठ स्थानीय है। जैसे कि कहा भी गया है—

अवर्णश्च विसर्गश्च हकारश्चापि केवलः।
कण्ठ्या वर्णाः स्मृताः....॥ (व०र०प्र०शि० ३३)

सूत्र का निष्कृष्टार्थ—अठारह प्रकार के अवर्णों का, पञ्चवर्णात्मक कवर्ग का, केवल हकार का अथवा पञ्चम या अन्तस्थों से भिन्न वर्णों से संयुक्त हवर्ण का और केवल विसर्ग वा अकारोत्तरवर्ती विसर्ग का स्थान कण्ठ है।

अकार एक शुद्ध घोष ध्वनि है। इसके उच्चारण में केवल स्वर-यन्त्र का ही उपयोग होता है अर्थात् इसके उच्चारण में अन्य किसी मुखीय अवयवों का वा स्थानों का उपयोग नहीं होता। जैसे कि महाभाष्यकार ने कहा है—'**बाह्यं ह्यास्यात् स्थानमवर्णस्य**' (१.१.४; पृ० २४३)। इसीलिए इसे सभी आबालवृद्ध व्यक्ति अनायास ही बोलते हैं। और सभी व्यञ्जन स्वरों की करणता (सहायता) से बोले जाते हैं, तो सभी स्वर अकार की सहायता से बोले जाते हैं। जैसे कि ऋक्प्रातिशाख्य में कहा गया है—'**अकारस्य करणावस्थयान्यान् स्वरान् ब्रूयात्**' (१४.६५)। अत एव विविध क्षेत्रों व शास्त्रों में विविधरूप से अकार की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की गई है। अस्तु।

प्रकृत सूत्र पाणिनि का सिद्धान्त सूत्र है। सभी आचार्य पाणिनि के सैद्धान्तिक सूत्रों का ही आदर करते हैं और उन्हें ही प्रामाणिक मानकर अपने-अपने ग्रन्थों में उद्धृत करते हैं। अतः सैद्धान्तिक सूत्र विशेषतया स्मर्तव्य हैं। आगे भी सैद्धान्तिक सूत्रों को सूचित करते जायेंगे।

अकार, कवर्ग आदि के स्थान विषयक स्वमत का प्रदर्शन कर अब

अन्य आचार्यों का मत भी दिखाया जाता है।

३. हविसर्जनीयावुरस्यावेकेषाम्।

हविसर्जनीयौ-प्र०द्वि०। उरस्यौ-प्र०द्वि०। एकेषाम्-ष०ब०। **समासः**—हश्च विसर्जनीयश्चेति हविसर्जनीयौ-इतरेतरद्वन्द्वः। उरसि भवः उरस्यः, तौ उरस्यौ-पूर्ववद् यत्प्रत्ययः। **अर्थः**—(एकेषाम्) केषाञ्चिद् आचार्याणां मतेन (हविसर्जनीयौ) हवर्णः विसर्गश्च (उरस्यौ) उरःस्थानकौ विद्येते।

भाषार्थ—(एकेषाम्) किन्हीं आचार्यों के मतानुसार (हविसर्जनीयौ) हकार और विसर्ग (उरस्यौ) उरःस्थानीय हैं अर्थात् उरःस्थान से भी इनका उच्चारण किया जा सकता है।

विशेष—यहाँ 'हकार' से पञ्चम और अन्तस्थ वर्णों से संयुक्त हवर्ण का ग्रहण है (द्र०-१.२ की व्याख्या)। '**भिन्नार्थका अन्यतर एकस्त्वोऽन्येतरावपि**' (अमर० ३.१.८२) अर्थात् अन्यतर, एक, त्व, अन्य और इतर शब्द भिन्नार्थक हैं। तो यहाँ भी 'एक' शब्द का अर्थ[1] भिन्न वा अन्य है। अतः 'एकेषाम्' का अर्थ 'पाणिनि से भिन्न आचार्यों का' है। अर्थात् पाणिनि से पूर्ववर्त्ती कुछ आचार्य शौनक (ऋ०प्रा० १.४०) और शाकटायन (ऋ०तं० ३) पूर्वसूत्रोक्त अकारादि वर्णों में से हकार और विसर्ग का स्थान कण्ठ न मानकर उरःस्थान मानते हैं। उन आचार्यों के सम्मान के लिए और शिक्षाशास्त्र के अध्येताओं के ज्ञानवर्धन के लिए अन्य आचार्यों के मत का भी यहाँ उल्लेख किया गया है। अथवा किन्हीं देशों वा प्रान्तों में इन वर्णों का उच्चारण उरःस्थान से किया जाता रहा हो और तद्देशीय आचार्यों का भी मत वैसा ही रहा हो, तो उसी का यहाँ उल्लेख है। ऐसे ही आगे के मतान्तर-प्रदर्शनों का भी अभिप्राय समझ लिया जावे।

४. जिह्वामूलीयो जिह्व्यः।

जिह्वामूलीयः-प्र०ए०। जिह्व्यः-प्र०ए०। **समासः**—जिह्वाया मूलम् जिह्वामूलम्-षष्ठीतत्पुरुषः। तस्मिन् जिह्वामूले भवः=उत्पन्नो जिह्वामूलीयः—'जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः' (अष्टा० ४.३.६२) इति छप्रत्ययः। जिह्वाशब्दाद् भवार्थे 'शरीरावयवाच्च' (अष्टा० ४.३.५५) इति यति प्रत्यये सति जिह्व्य इति सिध्यति। **अर्थः**—(जिह्वामूलीयः) ᳵक, ᳵख चेति स्वरूपको जिह्वा-

१. एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा। साधारणे समानेऽल्पसंख्यायां च प्रवर्तते॥

मूलीयसंज्ञको वर्णः (जिह्व्यः) जिह्वास्थानीयो भवति अर्थात् जिह्वादेशीयो भवति। जिह्वामूलेन कण्ठदेश उच्चारणीय इति यावद्।

भाषार्थ—(जिह्वामूलीयः) जिह्वामूलीय संज्ञक ᳵक, ᳵख वर्ण (जिह्व्यः) जिह्वास्थानीय है अर्थात् इसका उच्चारण जिह्वामूल से करना चाहिये।

विशेष—यहाँ ऊपर से 'एकेषाम्' शब्द की अनुवृत्ति नहीं आती है। इसके दो कारण हैं। १. जिह्वामूलीय वर्ण के स्थान का कथन सिद्धान्ततः अन्यत्र कहीं नहीं है। २. इस सूत्र से पूर्व और पर के सूत्रों में 'एकेषाम्' शब्द पठित है, अर्थात् प्रकृत सूत्र में 'एकेषाम्' शब्द अनभीष्ट है (**तु०-उभयोर्विभाषयोर्मध्ये यो विधिः स नित्यः**)। अतः यह सूत्र पाणिनि का अपना सैद्धान्तिक सूत्र है।

यहाँ 'जिह्व्य' शब्द का अर्थ 'जिह्वामूल' में लक्षणा करनी चाहिये। जिह्वामूल एक चलायमान अवयव होने के कारण और स्पर्श करने का साधन होने के कारण इसे 'स्थान' न मानकर 'करण' मानना अधिक उचित है।[1] जहाँ-जहाँ स्थान के रूप में 'जिह्व्य' वा 'जिह्वामूल' का उल्लेख है, वहाँ-वहाँ जिह्वामूल के द्वारा स्पर्शनीय स्थान का ग्रहण करना चाहिये। जो कि कण्ठ (कोमल तालु) ही होता है।[2] अतः कण्ठ्य एवं जिह्वामूलीय शब्द समानार्थक ही हुये। इनमें इतना ही भेद है कि एक में स्थान की प्रधानता है और दूसरे में साधन (करण) की प्रधानता है। कण्ठ (कोमलतालु) और जिह्वामूल अवयव अत्यधिक समीप में होने के कारण ही कण्ठ्य एवं जिह्वामूलीय स्थानों में एकार्थता आयी है।[3]

अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः (१.२) सूत्र से कण्ठ्य वर्णों को बताकर अग्रिम पाँच सूत्रों में (कण्ठ्यानास्यमात्रनित्येके-१.७ तक) कण्ठ्य वर्णों के

१. तै०प्रा० में 'जिह्वामूल' को करण ही माना गया है—'हनुमूले जिह्वामूलेन कवर्गे स्पर्शयति' (२.३५)। अपि च द्र०-२.३ की टिप्पणी; पृ० ११७।

२. कण्ठपदं कण्ठस्थानतत्समीपजिह्वामूलस्थानोभयपरम् (नागेश-लघुशब्देन्दुशेखर)। अपि च द्र०-२.२, ८ का शिक्षातत्त्वालोकभाष्य।

३. ''तत्सामीप्यात् ताच्छब्द्यम्, तत्साहचर्यात् ताच्छब्द्यम्'' अर्थात् सामीप्य या साहचर्य से भिन्न-भिन्न अर्थ वाले शब्द भी गौणरूप से अभिन्नार्थक हो जाते हैं। तद्यथा—''तत्र नासिका मुखसाहचार्यान्मुखशब्देनोच्यते।......तत्र सामीप्यान्मुखं च तन्नासिका चेत्युभाभ्याम् [मुखनासिकयोः] अन्तरालं [स्थानं] व्यपदिश्यते'' (प्रदीपः—म०भा० १.१.८)।

विषय में अन्य आचार्यों के मत प्रदर्शित किये गये हैं। कण्ठ्य विषयक इन सूत्रों के मध्य में प्रकृत सूत्र से 'जिह्व्य' स्थान के कथन से भी प्रमाणित होता है कि 'जिह्व्य' से 'कण्ठ्य' अर्थ भी लिया जा सकता है। यह आचार्य का स्पष्ट संकेत है। अन्यथा जिह्वामूलीय वर्ण का स्थान अन्यत्र भी बता सकते थे।

५. कवर्गावर्णानुस्वारजिह्वामूलीया जिह्व्या एकेषाम्।

कवर्गावर्णानुस्वारजिह्वामूलीयाः-प्र०ब०। जिह्व्याः-प्र०ब०। एकेषाम्-ष०ब०। **समासः**—कवर्गश्चावर्णश्चानुस्वारश्च जिह्वामूलीयश्चेति कवर्गा-वर्णानुस्वारजिह्वामूलीयाः-इतरेतरद्वन्द्वः। **अर्थः**—(एकेषाम्) कतिपया-चार्याणां मते (कवर्गावर्णानुस्वारजिह्वामूलीयाः) कवर्गीयाः कादयः पञ्च वर्णाः, अष्टादशभेदात्मकावर्णः, अनुस्वारसंज्ञकः 'अं' इति वर्णः, जिह्वा-मूलीयसंज्ञकः '≍' इति च वर्णः (जिह्व्याः) जिह्वास्थानीया भवन्ति, जिह्वामूलदेशेनोच्चारणीया इति भावः।

भाषार्थ—(एकेषाम्) कुछ आचार्यों के मत में (कवर्गावर्णानुस्वार-जिह्वामूलीयाः) कवर्गीय कादि पाँच वर्ण, अठारह प्रकार के अवर्ण, अनुस्वार-संज्ञक 'अं' यह वर्ण और जिह्वामूलीयसंज्ञक '≍' यह वर्ण (जिह्व्याः) जिह्वास्थानीय हैं अर्थात् जिह्वा के मूलभाग से इन्हें बोलना चाहिये।

विशेष—पाणिनि के सैद्धान्तिक सूत्रों के अनुसार कवर्ग और अवर्ण का स्थान कण्ठ है (१.२) तथा अनुस्वार का नासिका (१.१६), जिह्वामूलीय का जिह्वामूल (१.४) है। तो जिह्वामूलीय वर्ण के स्थान के विषय में अन्य आचार्यों एवं पाणिनि का मत समान ही है। भेद केवल कवर्ग, अवर्ण और अनुस्वार के स्थानों में है। अन्य आचार्यों के मत से जिह्व्यवर्णों के संकलन की दृष्टि से यहाँ पुनः जिह्वामूलीय का पाठ है। न कि मतभेद के प्रदर्शनार्थ।

६. सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके।

सर्वमुखस्थानम्-प्र०ए०। अवर्णम्-प्र०ए०। इति-अ०प०। एके-प्र०ब०। **समासः**—सर्वञ्चादो मुखञ्च सर्वमुखम्, सर्वमुखं स्थानं यस्यावर्णस्य तत् सर्वमुखस्थानम्-कर्मधारयगर्भबहुव्रीहिः। **अर्थः**—(अवर्णम्) अष्टादश-संख्यात्मकम् अवर्णम् (सर्वमुखस्थानम्) सर्वमुखस्थानीयम् अस्ति (इति) एवं (एके) केचनाचार्या मन्यन्ते। सर्वेषु स्थानेषु अवर्णमुच्चारयितुं शक्यत इति भावः। '**किं पुनरास्यम् [मुखम्]? ओष्ठात् प्रभृति प्राक्काकलकात्**' (म०भा० १.१.९)।

भाषार्थ—(अवर्णम्) अष्टादशभेदात्मक अवर्ण (सर्वमुखस्थानम्) सर्वमुखस्थानीय है (इति) ऐसा (एके) कुछ आचार्य मानते हैं।

विशेष—यहाँ आचार्य ने वर्णशब्द का नपुंसक लिङ्ग में निर्देश किया है। पूर्वसूत्र से यहाँ 'एकेषाम्' शब्द की अनुवृत्ति आ सकती थी। पुनः 'एके' पाठ करने का विशेष प्रयोजन नहीं दीखता। अष्टाध्यायी के सूत्रों में विद्यमान वैज्ञानिक विशिष्ट शैली शिक्षा के सूत्रों में नहीं दीखती। अग्रिम सूत्र में भी पुनः 'एके' का पाठ किया गया है। उसका भी कोई प्रयोजन दृग्गोचर नहीं होता।

ओष्ठ से लेकर काकलक (स्वरयन्त्र के मुख) तक के भाग को आस्य [मुख] कहते हैं। सर्वमुखस्थान का तात्पर्य मुख में विद्यमान कण्ठ, तालु आदि किसी भी स्थान से अवर्ण का उच्चारण किया जा सकता है, ऐसा किन्हीं आचार्यों का मत है। जैसे कि 'पण्डित' शब्द में विद्यमान आद्य अवर्ण को प्रायः सभी व्यक्ति कण्ठ से बोलते हुये 'पण्डित' के रूप में उच्चारण करते हैं। पर कुछ प्रान्तीय व्यक्ति उसी अवर्ण को ओष्ठ स्थान से बोलते हुये 'पोण्डित' के सदृश उच्चारण करते हैं। वैसे ही कुछ प्रान्त के लोग तालु से बोलते हुए 'पिण्डित' के सदृश बोलते हैं। और 'अग्नि' शब्द का उच्चारण लेटिन् भाषा में 'इग्निस्' के रूप में, स्लैवानिक में 'ओग्नि' के रूप में तथा पुरानी लियुएनियन में 'उङ्निस्' के रूप में होता है। ऐसे ही भिन्न-भिन्न प्रान्तों एवं देशों में भिन्न-भिन्न स्थानों से अवर्ण का उच्चारण होता है। सम्भवतः ऐसे उच्चारणभेदों के साधुत्व के लिये ही कुछ आचार्यों ने अवर्ण को सर्वमुखस्थानीय माना है, जिसका उल्लेख मतान्तर के ज्ञान के लिए पाणिनि ने यहाँ किया है। पर यहाँ यह ध्यातव्य है कि यह पाणिनीय मत नहीं है। अन्यथा व्याकरण में अनेक दोष आवेंगे। जैसे कि 'दध्यत्र' [दधि+अत्र] में अत्र के आद्य अवण को तालु स्थानीय मानेंगे तो यणादेश के स्थान पर सवर्णदीर्घादेश [दधीत्र] रूप दोष आ जाएगा।

७. कण्ठ्यानास्यमात्रानित्येके।

कण्ठ्यान्-द्वि०ब०। आस्यमात्रान्-द्वि०ब०। इति-अ०प०। एके-प्र०ब०। कण्ठे भवाः कण्ठ्याः, तान् कण्ठ्यान्। **अर्थः**—(इति) एवमेव (एके) केचनाचार्याः (कण्ठ्यान्) अ-कु-ह-विसर्जनीयान् कण्ठ्यान् वर्णान् (आस्यमात्रान्) मुखमात्रान्, सर्वमुखस्थानान् मन्यन्ते। सर्वमुखस्थानीयास्ते सर्व इति यावत्।

भाषार्थ—(इति) इसी प्रकार (एके) कुछ आचार्य (कण्ठ्यान्) अवर्ण, कवर्ग आदि कण्ठ्य वर्णों को (आस्यमात्रान्) सम्पूर्ण मुख स्थानीय मानते हैं।

विशेष—पूर्व सूत्र में केवल अवर्ण को ही सर्वमुखस्थानीय मानने का पक्ष था। पर प्रकृत सूत्र में सम्पूर्ण कण्ठ्य वर्णों को ही सर्वमुखस्थानीय मानने के पक्ष का उल्लेख है।

८. इचुयशास्तालव्याः।

इचुयशाः-प्र०ब०। तालव्याः-प्र०ब०। **समासः**—इश्च चुश्च यश्च शश्चेति इचुयशाः-इतरेतरयोगद्वन्द्वः। तालुनि भवाः तालव्याः-शरीरावयवाच्च (अष्टा० ४.३.५५) इति यत्-प्रत्ययः। **अर्थः**—(इचुयशाः) अष्टादश-भेदात्मक इवर्णः, पञ्चवर्णात्मकश्चवर्गः, सानुनासिकनिरनुनासिकभेदात्मकं यकारद्वयम्, शकारश्च (तालव्याः) तालुदेशीया इति ज्ञेयाः। तालुस्थानत एत उच्चारणीया इति भावः।

भाषार्थ—(इचुयशाः) अठारह प्रकार के इवर्ण, चवर्गीय पाँच (च्, छ्, ज्, झ्, ञ्) वर्ण, सानुनासिक एवं निरनुनासिक यवर्ण (यँ, य्) और शकार, ये सभी वर्ण (तालव्याः) तालुस्थानीय हैं, अर्थात् इन्हें तालुस्थान से बोलना चाहिए।

विशेषः—यह पाणिनि का सैद्धान्तिक सूत्र है। मूर्धा से पूर्ववर्त्ती और दन्तमूल का उपरला कठोर भाग तालु कहलाता है। यद्यपि मुख के अन्दर विद्यमान सम्पूर्ण उपरिभाग तालु कहलाता है—'**तरन्ति निःसरन्ति वर्णा यत इति तालु**'। पुनरपि कण्ठ, मूर्धा आदि विभागों के कारण अर्थात् कुछ भागों का अपवादभूत कण्ठ आदि संज्ञाकरण के कारण, उनसे भिन्न व अवशिष्ट भाग (स्थान) ही तालु कहलाता है। इसी का यहाँ ग्रहण है, न कि ऊपर के सम्पूर्ण भाग का। आधुनिक भाषाविद् इसे कठोरतालु कहते हैं।

९. ऋटुरषा मूर्धन्याः।

ऋटुरषाः-प्र०ब०। मूर्धन्याः-प्र०ब०। **समासः**—आ च टुश्च रश्च षश्च इति ऋटुरषाः-इतरेतरद्वन्द्वः। मूर्ध्नि भवा मूर्धन्याः-शरीरावयवाच्च (अष्टा० ४.३.५५)। **अर्थः**—(ऋटुरषाः) अष्टादशभेदात्मक ऋकारः, पञ्चवर्णात्मकष्टवर्गः, रेफः, षकारश्च (मूर्धन्याः) मूर्धदेशीया इत्यवगन्तव्याः। मूर्धस्थानत एत उच्चारणीया इति भावः।

भाषार्थ—(ऋटुरषाः) अठारह प्रकार के ऋवर्ण, टवर्गस्थ ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण् ये पाँचों वर्ण, रेफ और षकार ये सभी वर्ण (मूर्धन्याः) मूर्धस्थानीय हैं अर्थात् मूर्धा से इनका उच्चारण करना चाहिये।

विशेष—यह भी पाणिनि का सैद्धान्तिक सूत्र है। तालु (कठोरतालु) और कण्ठ (कोमल तालु) के मध्य भाग को मूर्धा कहते हैं। ऋकार एवं लृकार के स्वरूप, मात्रा, उच्चारण तथा काल के विषय में प्राचीन काल से ही पर्याप्त मतभेद रहें हैं। उदाहरण के लिए ऋवर्ण का उच्चारण रि, रु, र, रे आदि के रूप में होता रहा है और आज भी होता है। जैसे कि पाली भाषा में 'ऋ' के स्थान में 'अ' का उच्चारण होता है—गृहम्=गहं, नृत्यम्=नच्चं। 'ऋ' के स्थान में 'इ' का उच्चारण—ऋणम्=इणं, ऋषि=इसि[1]। वैसे ही 'उ' का उच्चारण—ऋतु=उतु, ऋषभ=उसभो। वैसे ही प्राकृतभाषा में भी देखा जा सकता है—मृत्तिः=मट्टी; वृत्तम्=वट्टम्। ऋषिः=इसी, रिसी; ऋक्षः=रिक्खो, रिच्छो। ऋतुः=उऊ, रिऊ ; ऋजुः=उज्जू, रिज्जु। निवृत्तः= णिवुत्तो, णिवत्तो, बृहस्पतिः=बहप्फई, बिहप्फई, बुहप्फई आदि। और आजकल का उच्चारण देखा जाए तो उत्तरभारत आदि में प्रायः 'रि' के रूप में उच्चारण होता है, आन्ध्रप्रदेश में 'रु' के रूप में और कर्नाटक में 'रु' एवं 'र'[2] के रूप में होता है। अर्थात् यहाँ इसके रेफ श्रुति के साथ अ, इ, उ, ए आदि के सदृश ध्वनियों का मतभेद है। और भी अनेक मतभेद हैं। यथा—पहले रेफ ध्वनि बोला जाय और बाद में 'अ' आदि स्वर अथवा पहले 'अ' आदि स्वर बोला जाय और बाद में रेफ ध्वनि। वैसे ही इनकी मात्राओं के विषय में भी अर्थात् कितनी मात्रा में रेफ बोला जाय और कितनी मात्रा में स्वर। इस प्रकार अनेक मतभेद हैं। जिन्हें आगे के प्रस्तार में दिखाया जायेगा। इससे यही प्रतीत होता है कि प्राचीन काल से ही इसका उच्चारण, मात्रा आदि का कोई एक सुनिश्चित, निर्णीत मत नहीं बन पाया है। यहाँ तक कि कुछ लोग इसे अच् भी नहीं मानते थे—'**न च ऋकार लृकारो वाऽजस्ति**' (म०भा० १.१.९)। यथार्थतः यह एक वर्णान्तरों से अमिश्रित स्वतन्त्र स्वर है।[3] हाँ, इसमें आधी मात्रा से कम मात्रिक रेफ सदृश ध्वनि

१. संस्कृत के इन पर्यायशब्दों को भी देखें—तृफला-त्रिफला, कृमिः-क्रिमिः।
२. तु० मृक्ष संघाते, म्रक्ष इत्येके (धातु० भ्वा० ४४४, ४४५)।
३. ऋकारस्य लृकारस्य चाच्त्वं वक्ष्यामि। तच्चावश्यं वक्तव्यम्। प्लुतो यथा स्यात् (म०भा०१.१.९)।

अवश्य सुनाई देती है। यह रेफ-श्रुति व्यञ्जनों के समान अर्धमात्रिक न होने के कारण, अल्पकालिक होने के कारण व्यञ्जनभूत स्वतन्त्र रेफ के समान इसका स्पष्ट श्रवण नहीं होता है।[१] अतः इसका वर्णान्तर के रूप में ग्रहण नहीं होता है।[२] अत एव वैयाकरण लोग 'ऋ' के स्थान पर 'अण्' आदेश होने पर एक अतिरिक्त रेफ का विधान करते हैं।[३] यदि रेफ-ध्वनि वर्णान्तर के रूप में गृहीत होती तो अतिरिक्त रेफ का विधान ही नहीं करते। इस रेफ ध्वनि का वर्णान्तर के रूप में ग्रहण न होने की सिद्धि होने पर भी 'ऋ' के उच्चारण की सन्दिग्धता तो बनी ही रहती है। पुनरपि इतना तो कहा ही जा सकता है कि 'ऋ' का 'रि' रूप उच्चारण अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित, मान्य एवं प्रामाणिक है। इसके निम्न हेतु हैं—

१. सम्पूर्ण उत्तरभारत में 'रि' रूप उच्चारण की परम्परा का होना।

२. 'कृष्ण' आदि शब्दों में विद्यमान 'ऋ' वर्ण 'ri' (Krishna) के रूप में लिखा जाता है। सभी अर्थात् सारे संसार के भाषाभाषियों की इस सर्वसम्मत मान्यता से सिद्ध है कि 'रि' रूप उच्चारण सर्वाधिक प्रचलित तथा मान्य है।

१. ऋलृवर्णे रेफलकारौ संश्लिष्टावश्रुतिधरावेकवर्णौ (वा०प्रा० ४.१४८)। ऋकारे लृकारे च यथासंख्यं रेफलकारौ कण्ठ्याणुमात्रयोर्मध्येऽर्धमात्रिकौ संश्लिष्टौ= एकीभूतौ, अश्रुतिधरौ=अविद्यमानपृथक्श्रुतिधरौ एकवर्णौ=एकश्रुतिभूतौ भवतः (तत्रैव-उवटः)।

२. न हि वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते (म०भा० ८.४.१)।

३. तथाहि वैयाकरणा अपि 'उरण् रपरः' इति सूत्रे ऋकारे रेफमधिकं विदधति, लृकारे लकारं च (उवटानन्तभट्टौ-वा०प्रा० ४.१४८)।

ऋवर्ण के अंश, मात्रा और प्रमाण

क्रम	अंश	मात्रा	प्रमाण	वचन
१	शुद्ध ऋकार स्वर में अंश कल्पना नहीं हैं	ह्रस्व-१ दीर्घ-२ प्लुत-३	अष्टा० १.२.२७ सि०च० १.१	ऊकालोऽज्झस्वदीर्घप्लुतः। अइउऋलृ समानाः
२	ऋकार	२½	प्रदीप-६.१.१०१ प्रदीप-१.१.९	अर्धतृतीयमात्रत्वाद्वा। येषां तु मतमर्धतृतीयमात्रावेताविति।
३	र्+स्वर		वा०प्रा० ४.१४८	ऋलृवर्णे रेफलकारौ संश्लिष्टा-वश्रुतिधरावेकवर्णौ।
४	,, ,,		अ०प्रा० १.३७	संस्पृष्टरेफमृवर्णम्।
५	,, ,,		अष्टा० ८.२.१८ म०भा०एओङ् ऐऔच्	कृपो रो लः यत्तद्रेफात्परं भक्तेः, तेन व्यव-हितत्वाद्०।
६	,, ,,		प्रपञ्चसार-तन्त्रम् ३.६४	लृवर्णऋवर्णयोर्व्यक्तिर्लरोः सम्यक् प्रदृश्यते
७	,, ,,	१/२+१/२=१	टिप्पणी, अ०प्रा० १.३७, प्रदीप ८.४.१	ऋवर्णे स्वरमात्रा या तस्यां मध्येऽर्धमात्रया। रेफो भवति संस्पृष्टो यथाङ्गुल्या नखं तथा॥ सूत्रे मणिरिवेत्येके तृणे कृमि-रिवेति च। येषां दर्शनम् अर्ध-मात्राकालो रेफ ऋकारे.....।
८	,, ,,	१/८+७/८=१	तन्त्रसार आ० ३, पृ० १२	अतः अस्फुटत्वादेव श्रुतिमात्रं रलयोः न तु व्यञ्जनवत् स्थितिः।
९	,, ,,	१/८+७/८=१	म०भा० ८.४.१	योऽसौ ऋकारे रेफः
१०	र्+स्वर	१/४+३/४=१	प्रदीप ८.४.१	येषामपि दर्शनं मात्राचतुर्थभागो रेफ ऋकारे.....।
११	र्+स्वर (युगपत्)	१/२+१/२=१	टिप्पणी, अ० प्रा० १.३७	

१२	स्वर+र्	२	ना०शि० २.६.७	स्वरभक्तिर्द्विधा प्रोक्ता ऋकारो रेफ एव च। स्वरोदा व्यञ्जनोदा च विहिताक्षरचिन्तकैः ॥
१३	स्वर+र्+ स्वर्/ स्वर+र्		ऋ०प्रा० १३.३४, ३५	रेफोऽस्त्यृकारे च परस्य चार्धे पूर्वे ह्रसीयांस्तु न वेतरेषाम्। मध्ये स तस्यैव लकारभावे धातौ स्वरः कल्पयताव्लृकारः ॥
१४	स्वर+र्+ स्वर[1]	१/४+१/२+१/४=१	त्रि०र०, तै०प्रा० १.१५	मात्रिकस्य ऋकारस्यादिरणुमात्रा स्वरभागः, मध्ये रेफ अर्धमात्रा, शेषा अणुमात्रा स्वरभागः, एत-दृकारस्वरूपम्।
१५	,, ,,	१/२+१+१/२=२	सि०कौ० ८५	आद्यस्य मध्ये द्वौ रेफौ तयोरेका मात्रा, अभितोऽज्भक्तेरपरा।
१६	र्+अ		लो०शि० ६.४	रेफस्य च ऋकारस्य स्वर-भक्तेस्तथैव च। अवर्णवत् प्रयोगः स्यात्।
१७	अ+र्	१/४+३/४=१	अ०सं० १६.५३	एकत्रिभागयोर्ऋद्ध्या अरयोर्ऋ-स्मृतो बुधैः। अलयोश्च तथा लृत्वम्।
१८	अ+र्+अ	१/४+१/२+१/४=१	उवट, वा०प्रा० ४.१४८	ऋकारे लृकारे च यथासंख्यं रेफलकारौ कण्ठ्याणुमात्रयोर्म-ध्येऽर्धमात्रिकौ संश्लिष्टौ एकी-भूतौ अविद्यमानपृथक्श्रुतिधरौ एकश्रुतिभूतौ भवतः।

१. 'र्+स्वर' के पक्ष में 'कृषीष्ट' का कृधातु संयोगादि बनेगा,उससे वह 'ऋतश्च संयोगादेः' (७.२.४३) का प्रत्युदाहरण नहीं बन पायेगा। और 'स्वर+र्' के पक्ष में 'अकृत' शब्द में 'ह्रस्वादङ्गाद्' (८.२.२७) से सिच् का लुक् नहीं हो पायेगा। अतः 'स्वर+र्+स्वर्' पक्ष ही व्याकरणसम्मत समीचीनतम पक्ष है। यदि स्वर के मात्रापाद को एक बिन्दु के रूप में प्रदर्शित किया जाए तो ह्रस्व एवं दीर्घ ऋवर्ण में स्वर तथा रेफश्रुति का कालविभाग इस प्रकार होगा 'ऋ—•र्•=१ मात्रा; ॠ—•र्•••••=२ मात्रा।' वैसे ही प्लुत में भी समझना चाहिये।

१९	र्+इ		शिवसूत्र-विमर्शिनी २.७	
२०	र्+उ		ऋ०प्रा० १४.३८ शिवसूत्रवि०, जगदीशचन्द्र-टिप्पणी २.७	स्वरौ कुर्वन्त्योष्ठ्यनिभौ सरेफौ।
२१	र्+ए		केशवरामकृत० शिक्षा-११	ऋकारस्य च संयुक्तासंयुक्तस्यापि सर्वतः। सैकारोच्चारणं कुर्यात्।

१०. रेफो दन्तमूलीय एकेषाम्।

रेफः-प्र०ए०। दन्तमूलीयः-प्र०ए०। एकेषाम्-ष०ब०। **समासः**—दन्तानां मूलम् इति दन्तमूलम्-षष्ठीतत्पुरुषः। दन्तमूले भवो दन्तमूलीयः= दन्तमूलस्थानीयः। गहादिभ्यश्च (अष्टा० ४.२.१३८) इति छप्रत्ययः। **अर्थः**—(रेफः) र-वर्णः (दन्तमूलीयः) ऊर्ध्वदन्तमूलस्थानीयोऽस्तीति (एकेषाम्) केषाञ्चिदाचार्याणां मतम्।

भाषार्थ—(रेफः) र वर्ण (दन्तमूलीयः) दन्तमूलस्थानीय है अर्थात् ऊर्ध्व दाँतों के मूल भाग से उच्चारणीय है, ऐसा (एकेषाम्) किन्हीं आचार्यों का मत है।

विशेष—अकार से युक्त 'र्' वर्ण से 'इफ' प्रत्यय अथवा 'र्' से 'एफ' प्रत्यय होकर 'रेफ' शब्द बनता है। विशेष के लिए पारिभाषिक 'रेफ' शब्द (१८) द्रष्टव्य है। यहाँ 'एकेषाम्' शब्द से ऋग्वेदप्रातिशाख्यकार आचार्य शौनक और उनके शिष्य वाजसनेयप्रातिशाख्यकार आचार्य कात्यायन आदि का ग्रहण है। क्योंकि यह उन्हीं का मत है। यथा—'**सकाररेफलकाराश्च [दन्तमूलीयाः]**' (ऋ०प्रा० १.४५), '**रो दन्तमूले**' (वा०प्रा० १.६८)। दाँत और दन्तमूल का तात्पर्य सर्वत्र ऊपर के दाँत एवं दन्तमूल ही ग्राह्य हैं। यतो हि निचले दाँतों का दन्तमूल से कोई भी वर्ण बोला नहीं जाता। बल्कि निचले दाँत और दन्तमूल वर्णोच्चारण में करण बनते हैं, न कि स्थान।

११. दन्तमूलस्तु तवर्गः।

दन्तमूलः-प्र०ए०। तु-अ०प०। तवर्गः-प्र०ए०। **समासः**-दन्तानां मूलं यस्य [तवर्गस्य], सः दन्तमूलः-बहुव्रीहिः। एकेषामित्यनुवर्तते। **अर्थः**—

(तवर्गः) पञ्चवर्णात्मकस्तवर्गः (तु) अपि (दन्तमूलः) दन्तमूलस्थानीयोऽस्तीति (एकेषाम्) एकेषामाचार्याणां मतम्।

भाषार्थ—(तवर्गः) त्, थ्, द्, ध्, न् इन पाँच वर्णों से युक्त तवर्ग (तु) भी (दन्तमूलः) दन्तमूलस्थानीय है अर्थात् ऊपर के दन्तमूल से बोलने योग्य है, (एकेषाम्) ऐसा किन्हीं आचार्यों का मत है।

१२. लृतुलसा दन्त्याः।

लृतुलसाः-प्र०ब०। दन्त्याः-प्र०ब०। **समासः**—लृ च तुश्च लश्च सश्च इति लृतुलसाः-इतरेतरद्वन्द्वः। दन्तेषु भवा दन्त्याः-शरीरावयवाच्च (४.३.५५) इति यत्-प्रत्ययः। **अर्थः**—(लृतुलसाः) द्वादशभेदात्मकस्स्वरसंज्ञक लृकारः, पञ्चवर्णात्मकस्तवर्गः, सानुनासिकनिरनुनासिक इति भेदद्वयात्मको लकारः, सकारश्च (दन्त्याः) दन्तस्थानीयाः। दन्तैः=उपरितनदन्तमूलस्थानेन एते वर्णा वक्तव्या इति भावः।

भाषार्थ—(लृतुलसाः) बारह प्रकार के लृवर्ण, त्, थ्, द्, ध् और न् इन पाँच वर्णों से युक्त तवर्ग, सानुनासिक (लँ) एवं निरनुनासिक (ल्) रूप दोनों लकार एवं सकार (दन्त्याः) दाँतों से बोलने योग्य हैं।

विशेष—यह भी पाणिनि का सिद्धान्त सूत्र है। ऋवर्ण के समान ही लृवर्ण के स्वरूप, मात्रा तथा उच्चारण आदि का विषय जानें (द्र०-सूत्र १.९ पर लिखित विशेष)। यहाँ 'दन्त' शब्द से दन्तमूल अर्थ लेना अनुचित न होगा। क्योंकि भग्नदन्त व्यक्ति भी इन वर्णों को बोलता है। अत एव तै०प्रा० २.३८ में तवर्ग का स्थान दन्तमूल ही माना है—**'जिह्वाग्रेण तवर्गे दन्तमूलेषु'**। वैसे ही ऋ०प्रा० १.४४ में भी दन्तमूल ही माना गया है। त्, थ्, द्, और ध् वर्णों को दन्त्य मान भी लें, तो भी नकार को दन्तमूल मानना ही होगा। यतोहि नकार का उच्चारण स्पष्टरूप से दन्तमूल से ही होता है और यह सर्वानुभवसिद्ध है। नकार को दन्तमूल मानकर शेषों को दन्त्य मानना उचित न होगा। अतः सूत्रस्थ 'दन्त्य' शब्द को 'दन्तमूलीय' के अर्थ में लक्षणा करना उचित होगा।[1]

१३. वकारो दन्तोष्ठ्यः।

वकारः-प्र०ए०। दन्तोष्ठ्यः-प्र०ए०। **समासः**—दन्ताश्च ओष्ठौ च

१. दन्तशब्देन दन्तमूलप्रदेशो विवक्षितः (बा०म० १०)।

दन्तोष्ठम्-समाहारद्वन्द्वः। द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् (अष्टा० २.४.२) इत्येकवद्भावः। स नपुंसकम् (अष्टा० २.४.१७) इति नपुंसकलिङ्गः। ओत्वोष्ठयोः समासे वा पररूपं वक्तव्यम् (वा० ६.१.९४) इति पररूपम्। दन्तोष्ठे भवो दन्तोष्ठ्यः-शरीरावयवाच्च (अष्टा० ४.३.५५) इति यत्प्रत्ययः। **अर्थः**—(वकारः) सानुनासिकनिरनुनासिकभेदात्मको वकारः (दन्तोष्ठ्यः) दन्तस्थानीय ओष्ठकरणश्च भवति। उपरितनदन्तानाम् अधस्तनोष्ठस्य च सम्मिलितयत्नेन वक्तव्योऽयं वर्ण इति भावः।

भाषार्थ—(वकारः) सानुनासिक [वँ] और निरनुनासिक [व्] भेदात्मक वकार (दन्तोष्ठ्यः) ऊपर के दाँतों के स्थान में तथा नीचे के ओष्ठरूपी करण से उच्चारण करने योग्य है।

विशेष—यह भी पाणिनि का सैद्धान्तिक सूत्र है। यहाँ 'दन्त' शब्द से ऊपर के दाँतों का अग्रभाग और 'ओष्ठ' शब्द से नीचे का ओष्ठ अर्थ लेना चाहिये। क्योंकि इन्हीं दोनों के सम्मिलित प्रयत्न से इस वर्ण की उत्पत्ति होती है। तो वकार का उच्चारण स्थान दन्तस्थान मात्र है, नीचे का ओष्ठ तो करण है। क्योंकि उच्चारण में स्थिर रहनेवाले को स्थान एवं अस्थिर अवयव को करण माना जाता है, ऐसा पहले कह चुके हैं (द्र०-पा० श० ४, ५)।

यहाँ स्थानप्रकरण में करण का उल्लेख पाणिनि ने क्यों किया? यह प्रश्न उदित होता है। क्योंकि अन्यत्र कहीं भी स्थान के साथ-साथ करण का उल्लेख नहीं किया। इसका समाधान यह है कि यदि यहाँ **'वकारो दन्त्यः'** इतना ही पाठ करते तो वकार के करण का उल्लेख कहीं न होने के कारण **'शेषाः स्वस्थानकरणाः'** (२.८) से वकार का करण दाँत ही होंगे, जबकि इसका करण अधरोष्ठ है। इसके लिए करण प्रकरण में पृथक् सूत्र न बनाकर यहीं अर्थात् स्थानप्रकरण में ही इसके करण का संकेत कर दिया गया है। अब इसका करण संकेतित, उक्त होने के कारण अर्थात् शेष न होने के कारण[1] **'शेषाः स्वस्थान०'** (२.८) की प्रवृत्ति नहीं होगी। निष्कर्षतः यहाँ यह कह सकते हैं कि सिद्धान्ततः वकार दन्तोष्ठ्य (उभयस्थानीय) नहीं है, अपितु केवल दन्त्य (दन्तस्थानीय) है।

स्थान के साथ-साथ करण के उल्लेख का कारण यह भी है कि—यदि वकार का स्थान केवल दन्त है, ओष्ठ नहीं है, तो 'वृञ् वरणे' (स्वा०

१. 'उक्तादन्यः शेषः' इत्युक्तत्वाद्।

८), 'वृञ् आवरणे' (चु० २३७) धातुओं के सनन्तरूप 'वुवूर्षति ऋत्विजम्, प्रावुवूर्षति कम्बलम्' उपपन्न नहीं हो पायेंगे। क्योंकि इनमें 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (७.१.१०२) से उत्व तब सिद्ध होगा, जब ऋवर्ण ओष्ठ्यपूर्वक हो। जबकि 'वृ' धातु में ऋवर्ण से पूर्व विद्यमान वकार का स्थान ओष्ठ न होकर केवल दन्त है। पुनः यहाँ उत्व कैसे सिद्ध होगा ? इसी के समाधान के लिए आचार्य ने प्रकृत सूत्र में स्थान के साथ ही करण (ओष्ठ) का उल्लेख किया है। जिससे स्थान के साहचर्य से करण (ओष्ठ) भी गौण रूप से स्थान के ग्रहण से गृहीत हो सके।[1] आचार्य का यह यत्न व्याकरण की उपपत्ति के लिए है। वकार का स्थान केवल दन्त मानने से 'अदुह्वहि, अधुक्षावहि' इन शब्दों में ''लुग्वा दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये'' (७.३.७३) सूत्र से वैकल्पिक 'क्स' का लुक् भी निस्सन्दिग्ध सिद्ध हो जायेगा। यहाँ अन्यतरव्यपदेश का आश्रय लेकर ''दन्त्योष्ठ्योऽपि वकारो दन्त्य इति गृह्यते'' (काशिका ७.३.७३) कहने की आवश्यकता भी नहीं पड़ेगी।

यहाँ और एक संशय उत्पन्न होता है कि वकार यदि केवल दन्तस्थानीय (दन्त्य) है, तो पूर्वसूत्र में ही वकार का पाठ करना चाहिये था अर्थात् **'लृतुलवसा दन्त्याः'** ऐसा सूत्रपाठ होना चाहिये था। पर वैसा न करके पृथक् सूत्र क्यों बनाया गया है ? इसका समाधान यह है कि पूर्वसूत्र में निर्दिष्ट 'लृ' आदि वर्णों का करण जिह्वा है। जिसका उल्लेख अग्रिम प्रकरण में किया गया है—**'जिह्व्यतालव्यमूर्धन्यदन्त्यानां जिह्वाकरणम्, जिह्वाग्रेण दन्त्यानाम्'** (२.२, ७)। जबकि वकार का करण अधरोष्ठ है। जिसका उल्लेख यहीं प्रकृत सूत्र में किया गया है। इस करणभेद के प्रदर्शनार्थ ही पृथक् सूत्र बनाया गया है।

प्रायः सभी प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाग्रन्थों में वकार का स्थान ओष्ठ या दन्तोष्ठ ही माना गया है। पुनरपि हमारे कथन की पुष्टि प्रत्यक्ष अनुभव के साथ-साथ तै०प्रा० से भी होती है, जो कि उचित भी है। वहाँ कहा गया है कि **'ओष्ठान्ताभ्यां दन्तैर्वकारे'** (तै०प्रा० २.४३)। इसकी व्याख्या 'त्रिभाष्यरत्न' में लिखी गयी है—**'वकारे कार्ये अधरोष्ठान्ताभ्याम्**

१. चतुर्भिः प्रकारैरतस्मिन् 'सः' इत्येतद्भवति (अतस्मिन् तद्बुद्धिर्भवतीति यावत्)— १. तात्स्थ्यात्, २. ताद्धर्म्यात्, ३. तत्सामीप्यात्, ४. तत्साहचर्याद् इति (म०भा० ४.१.४८)।

उत्तरदन्ताग्रैः सह स्पर्शयेत्। 'दन्तैः' इति स्थाननिर्देशः, 'ओष्ठान्ताभ्याम्' इति करणनिर्देशः।' यहाँ स्पष्ट रूप से वकार का स्थान 'उत्तरदन्ताग्र' और करण 'अधरोष्ठ' माना गया है।

कुछ लोग[1] वकार के उच्चारण में दोनों ओष्ठों को व्यापृत करते हैं अर्थात् अधरोष्ठ का स्पर्श उत्तरोष्ठ से करते हैं। फलस्वरूप वकार उच्चरित न होकर, बकार उच्चरित होता है। यह एक दोष है, इसे दूर करने का यत्न करना चाहिये।

१४. सृक्किणी स्थानमेकेषाम्।

सृक्किणी-प्र०द्वि०। स्थानम्-प्र०ए०। एकेषाम्-ष०ब०। 'वकारः' इत्यनुवर्तते, षष्ठ्यन्तेन च तस्य विपरिणामः। **अर्थः**—(वकारस्य) वकारस्य (स्थानम्) उच्चारणस्थानम् (सृक्किणी) सृक्किणी भवत इति (एकेषाम्) केषाञ्चिदाचार्याणां मतम्।

भाषार्थ—(वकारस्य) वकार का (स्थानम्) उच्चारण स्थान (सृक्किणी) सृक्कि संज्ञक स्थान हैं, ऐसा (एकेषाम्) किन्हीं आचार्यों का मत है।

विशेष—**'सृजतः लालादीनीति सृक्किणी=ओष्ठप्रान्तभागौ, ओष्ठ-पर्यन्तभागौ'।** लालादि (=लारादि) का जो सर्जन करते हैं, उन्हें सृक्कि कहते हैं। **'प्रान्तावोष्ठस्य सृक्किणी'** (अमर० २.६.९१)। ओष्ठप्रान्त के अर्थ में इसके अनेक प्रयोग मिलते हैं। यथा—**'भयात्संस्तभितभुजः सृक्किणी लेलिहन् मुहुः'** (म०भारत० ३.१२५.२)। इसके अनेक समरूप वाले समानार्थक शब्द भी मिलते हैं। जैसे—सृक्कः, सृक्कम्, सृक्वम्, सृक्वन् (नपुं०), सृक्कन् (नपुं०), सृक्कि (नपुं०), सृक्किन् (नपुं०), सृक्विन् (नपुं०), सृक्कणी, सृक्किणी, सृक्वणी, सृक्विणी, सृक्वि आदि।

अंग्रेजी में दो प्रकार के वशब्द (व-ध्वनि) देखे जाते हैं। वे हैं— V और W। इनमें से 'W' रूपी व-ध्वनि का उच्चारण सृक्कि भाग (दोनों ओष्ठों के प्रान्त भागों) से ही होता है, जैसे कि World शब्द का उच्चारण अंग्रेज लोग करते हैं।

१. अर्थात् जो वकार का स्थान केवल ओष्ठ मानते हैं, वे।

१५. उपूपध्मानीया ओष्ठ्याः।

उपूपध्मानीयाः-प्र०ब०। ओष्ठ्याः-प्र०ब०। **समासः**—उश्च पुश्च उपध्मानीयश्च इति उपूपध्मानीयाः-इतरेतरद्वन्द्वः। **अर्थः**—(उपूपध्मानीयाः) अष्टादशप्रकारा उवर्णाः पादिपञ्चवर्णात्मकः पवर्गः उपध्मानीय-संज्ञकश्च (ᳵ) वर्णः एते सर्वे वर्णाः (ओष्ठ्याः) ओष्ठस्थानीयाः। उपरितनोष्ठप्रभवा इत्यर्थः।

भाषार्थ—(उपूपध्मानीयाः) अठारह प्रकार के उवर्ण, पु=पवर्ग अर्थात् प्, फ्, ब्, भ्, म् ये पाँच वर्ण और उपध्मानीय संज्ञक (ᳵ) वर्ण ये सभी वर्ण (ओष्ठ्याः) ओष्ठस्थानीय अर्थात् ऊपर के ओठ से उच्चारणीय हैं।

विशेष—यह भी पाणिनि का सैद्धान्तिक सूत्र है। इन ओष्ठ्य वर्णों के उच्चारण में दोनों ओष्ठ प्रयत्नशील रहते हैं। पुनरपि ऊपर के ओष्ठ को स्थान के रूप में और नीचे के ओष्ठ को करण के रूप में ही सभी आचार्यों ने मान्यता दी है। इसके लिए पा०श० ४, ५ और '**शेषाः स्वस्थानकरणाः**' (२.८) सूत्र की व्याख्या द्रष्टव्य है। उपध्मानीय के लिए पा०श० २१ द्रष्टव्य है।

१६. अनुस्वारयमा नासिक्याः।

अनुस्वारयमाः-प्र०ब०। नासिक्याः-प्र०ब०। **समासः**—अनुस्वारश्च यमाश्च इति अनुस्वारयमाः-इतरेतरद्वन्द्वः। नासिकायां भवा नासिक्याः-शरीरावयवाच्च (अष्टा० ४.३.५५) इति यत्प्रत्ययः। **अर्थः**—(अनुस्वार-यमाः) ह्रस्वदीर्घगुरुभेदात्मकः अनुस्वारसंज्ञकः वर्णः [अं], चत्वारश्च यमसंज्ञाः वर्णाः (नासिक्याः) नासिकास्थानीयाः। नासिकयोच्चारणीया इति भावः।

भाषार्थ—(अनुस्वारयमाः) ह्रस्व, दीर्घ और गुरु भेदात्मक अनुस्वार संज्ञक 'अं' वर्ण तथा कुँ, खुँ, गुँ, घुँ ये चार यम (नासिक्याः) नासिकास्थानीय हैं अर्थात् नासिका से उच्चारणीय हैं।

विशेष—यह भी पाणिनि का सिद्धान्त सूत्र है। अनुस्वार की चर्चा पहले पारिभाषिक शब्दों में की जा चुकी है (द्र०-पा०श० २२) और यमों की विशेष चर्चा आगे परिशिष्ट-३ में की जायेगी।

अब आगे के दो सूत्रों में अनुस्वार एवं यमों के स्थानविषयक अन्य आचार्यों के मत क्रमशः दिखलाते हैं—

१७. कण्ठनासिक्यमनुस्वारमेके।

कण्ठनासिक्यम्-द्वि०ए०। अनुस्वारम्-द्वि०ए०। एके-प्र०ब०। **समासः**—कण्ठश्च नासिका चेति कण्ठनासिकम्-समाहारद्वन्द्वः। द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् (अष्टा० २.४.२) इत्येकवद्भावः, स नपुंसकम् (अष्टा० २.४.१७) इति नपुंसकत्वम्। कण्ठनासिके भवः कण्ठनासिक्यः [अनु-स्वारः], तं कण्ठनासिक्यम्। **अर्थः**—(एके) केचनाचार्याः (अनुस्वारम्) अनुस्वारसंज्ञकं ह्रस्वदीर्घगुरुप्रकारकं वर्णं (कण्ठनासिक्यम्) कण्ठ-नासिकास्थानीयं मन्यन्ते।

भाषार्थ—(एके) कुछ आचार्य (अनुस्वारम्) ह्रस्व, दीर्घ और गुरु भेद से विद्यमान अनुस्वार को (कण्ठनासिक्यम्) कण्ठ्य और नासिक्य मानते हैं अर्थात् कण्ठ एवं नासिका दोनों से उच्चारणीय मानते हैं।

१८. यमाश्च नासिक्यजिह्वामूलीया एकेषाम्।

यमाः-प्र०ब०। च-अ०प०। नासिक्यजिह्वामूलीयाः-प्र०ब०। एकेषाम्-ष०ब०। नासिकायां भवा नासिक्याः-शरीरावयवाच्च (अष्टा० ४.३.५५) इति यत्प्रत्ययः। जिह्वामूले भवा जिह्वामूलीयाः-जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः (अष्टा० ४.३.६२) इति छ-प्रत्ययः। **समासः**—नासिक्याश्चामी जिह्वामूलीयाश्च इति नासिक्यजिह्वामूलीयाः-कर्मधारयः। **अर्थः**—(यमाः) कुँ खुँ इत्येव-मादयश्चत्वारो यमसंज्ञका वर्णाः (च) तु (नासिक्य-जिह्वामूलीयाः) नासिकाजिह्वामूलस्थानीया इति (एकेषाम्) अन्येषां केषाञ्चिद् आचार्याणां मतम् इदम्।

भाषार्थ—(यमाः) कुँ खुँ आदि चार यम (च) तो (नासिक्यजिह्वा-मूलीयाः) नासिका और जिह्वामूल स्थानीय हैं अर्थात् दोनों स्थानों से उच्चारणीय हैं, ऐसा (एकेषाम्) अन्य आचार्यों का मत है।

विशेष—पाणिनि के मत में यमों का स्थान केवल नासिका है। पर पाणिनि से भिन्न कुछ आचार्यों का मत है कि यमों का उच्चारण स्थान नासिका के साथ-साथ जिह्वामूल भी है। इन आचार्यों ने एक अतिरिक्त स्थान जिह्वामूल क्यों माना है ? इसका कारण 'यम-विवेचन' के अवसर पर लिखेंगे (द्र०-परिशिष्ट-३, यमों का स्थान-११.१ पृ० २२१)।

१९. ए ऐ कण्ठतालव्यौ।

ए ऐ-लुप्तविभक्तिकनिर्देशः। कण्ठतालव्यौ-प्र०द्वि०। **समासः**—कण्ठश्च

तालु च इति कण्ठतालु-समाहारद्वन्द्वः। द्वन्द्वश्च प्राणि० (अष्टा० २.४.२) इत्येकवद्भावः। स नपुंसकम् (अष्टा० २.४.१७) इति नपुंसकत्वम्। कण्ठतालुनि भवौ कण्ठतालव्यौ-शरीरावयवाच्च (अष्टा० ४.३.५५) इति यत्प्रत्ययः। **अर्थः**—(ए ऐ) द्वादशप्रभेदात्मकौ सन्ध्यक्षरसंज्ञकौ ए, ऐ चेत्येतौ वर्णौ (कण्ठतालव्यौ) कण्ठतालुस्थानीयौ। उभाभ्यामपि स्थानाभ्यां वक्तव्याविति भावः।

भाषार्थ—(ए ऐ) बारह-बारह प्रकार के ए और ऐ ये दोनों वर्ण (कण्ठतालव्यौ) कण्ठ तथा तालु स्थानीय हैं। अर्थात् इन दोनों से बोलने योग्य हैं।

विशेष—यह भी पाणिनि का सैद्धान्तिक सूत्र है। सभी प्रातिशाख्यकारों ने 'ए, ऐ' वर्णों का स्थान केवल तालु और 'ओ, औ' वर्णों का स्थान केवल ओष्ठ माने हैं। महाभाष्य के व्याख्याकार कैयट एवं नागेश ने भी ऐसा ही माना है। जैसे कि—'**तत्र तालव्य एकारः, ओष्ठ्य ओकारः इति तयोः स्थाने इकारोकारावेव भविष्यतः**' (प्रदीपः-एओङ्)। '**तालव्य एवेत्यर्थः**' (उद्योतः-तत्रैव)। '**एकारस्य तालव्यस्य तालव्य इकारः, ओकारस्य चौष्ठ्यस्यौष्ठ्य उकारो भविष्यतीत्यर्थः**' (प्रदीपः-१.१.४८), '**एङोः शुद्धतालव्यत्वमेव**' (उद्योतः-एओङ्)। इन एकारादि चार वर्णों की विशेष चर्चा आगे १.२२ सूत्र पर करेंगे।

२०. ओ औ कण्ठोष्ठ्यौ।

ओ औ इति लुप्तविभक्तिकनिर्देशः। कण्ठोष्ठ्यौ-प्र०द्वि०। **समासः**—कण्ठश्च ओष्ठौ च कण्ठोष्ठम्-समाहारद्वन्द्वः। पूर्ववद् एकवद्भावो नपुंसकलिङ्गश्च। ''ओत्वोष्ठयोः समासे वा पररूपं वक्तव्यम्'' (वा० ६.१.९४) इति पररूपम्। कण्ठोष्ठे भवौ कण्ठोष्ठ्यौ। पूर्ववद् यत्प्रत्ययः। **अर्थः**—(ओ औ) ओ औ चेत्येतौ सन्ध्याक्षरसंज्ञकौ द्वादशप्रभेदात्मकौ वर्णौ (कण्ठोष्ठ्यौ) कण्ठोष्ठस्थानीयौ। एताभ्यामुभाभ्यां स्थानाभ्यामुच्चारणीयाविति यावत्।

भाषार्थ—(ओ औ) बारह-बारह प्रकार के 'ओ' और 'औ' ये दोनों सन्ध्यक्षरसंज्ञक वर्ण (कण्ठोष्ठ्यौ) कण्ठ और ओष्ठ स्थानों से उच्चारणीय हैं।

विशेष—यह भी पाणिनि का सिद्धान्त सूत्र है। इन दो वर्णों का भी

स्थान सभी प्रातिशाख्यकार तथा कैयट और नागेश ने ओष्ठ मात्र माना है (द्र०-१.१९ का विशेष व्याख्यान)। यहाँ ओष्ठ शब्द से स्थानभूत ऊपर का ओष्ठ ही ग्राह्य है।

२१. ङञणनमाः स्वस्थाननासिकास्थानाः।

ङञणनमाः-प्र०ब०। स्वस्थाननासिकास्थानाः-प्र०ब०। **समासः**—ङश्च ञश्च णश्च नश्च मश्चेति ङञणनमाः-इतरेतरद्वन्द्वः। स्वं स्थानं येषां ते स्वस्थानाः। नासिका स्थानं येषां ते नासिकास्थानाः-उभयत्र बहुव्रीहिः। स्वस्थानाश्च नासिकास्थानाश्चेति स्वस्थाननासिकास्थानाः-इतरेतरद्वन्द्वः। आहत्य बहुव्रीहिगर्भेतरेतरद्वन्द्वसमासः। **अर्थः**—(ङञणनमाः) ङ्, ञ्, ण्, न्, म् चेत्येते अनुनासिकसंज्ञका वर्गोत्तमाः वर्णाः (स्वस्थाननासिकास्थानाः) स्वकीयस्थानीयाः सन्तो नासिकास्थानीयाश्च भवन्ति। ङकारः कण्ठनासिक्यो ञकारस्तालुनासिक्यो णकारो मूर्धनासिक्यो नकारो दन्तमूलनासिक्यो मकारश्चोष्ठनासिक्य इति भावः।

भाषार्थ—(ङञणनमाः) प्रत्येक वर्ग के अन्तिम अनुनासिकसंज्ञक ङ्, ञ्, ण्, न् और म् ये पाँच वर्ण (स्वस्थाननासिकास्थानाः) कण्ठ, तालु आदि अपने-अपने स्थान के साथ-साथ नासिकास्थानवाले भी हैं अर्थात् ङकार कण्ठनासिक्य, ञकार तालुनासिक्य, णकार मूर्धनासिक्य, नकार दन्तमूलनासिक्य और मकार ओष्ठनासिक्य हैं।

विशेष—यह भी पाणिनि का सिद्धान्त सूत्र है। यहाँ 'ङ' आदि वर्णों में अकार उच्चारणार्थ है। सूत्र १.१२ के विशेष व्याख्यान में लिखा गया था कि नकार का स्थान दन्तमूल है। अतः यहाँ दन्तमूलनासिक्य लिख दिया है।

२२. द्विवर्णानि सन्ध्यक्षराणि।

द्विवर्णानि-प्र०ब०। सन्ध्यक्षराणि-प्र०ब०। **समासः**-द्वौ वर्णौ यस्य तत् द्विवर्णम्, तानि द्विवर्णानि-बहुव्रीहिः। **अर्थः**—(सन्ध्यक्षराणि) ए, ऐ, ओ, औ इत्येतानि सन्ध्यक्षरसंज्ञकानि अक्षराणि (द्विवर्णानि) द्विस्वरयुक्तानि, द्विस्वरात्मकानि। द्वयोर्द्वयोः स्वरवर्णयोः मेलनेन सम्पन्नानि इति भावः।

भाषार्थ—(सन्ध्यक्षराणि) सन्ध्यक्षरसंज्ञक ए, ऐ, ओ, औ ये चार वर्ण (द्विवर्णानि) दो-दो स्वरों के सम्मेलन (सन्धि) से निष्पन्न (उत्पन्न) वर्ण हैं।

विशेष—यह भी पाणिनि का ही सूत्र है। सन्ध्यक्षर शब्द पूर्वाचार्यों

की संज्ञा है।[1] इसका वर्णन पारिभाषिक शब्दों के प्रकरण में किया जा चुका है और किन-किन वर्णों से ये सन्ध्यक्षर निष्पन्न होते हैं, यह भी बताया जा चुका है (द्र०-पा० श० २६)। इन सन्ध्यक्षरों में 'ऐ' और 'औ' का उच्चारण क्रमशः 'अई' और 'अउ' के रूप में होता है। अर्थात् ऐकार और औकार का सन्ध्यक्षरत्व (दो वर्णों का सम्मेलन) तिलतण्डुल के मिश्रण के समान स्पष्ट प्रतीत होता है।[2] परन्तु एकार तथा ओकार के उच्चारण से वैसा स्पष्ट सन्ध्यक्षरत्व की प्रतीति नहीं होती है। अतः ऐकार और औकार की अपेक्षा एकार तथा ओकार का सन्ध्यक्षरत्व क्षीरोदक के मिश्रण के तुल्य होने से भिन्न है।[3] इस भिन्नता के कारण ही सम्भवतः महर्षि पाणिनि ने प्रत्याहार सूत्रों में ए, ओ वर्णों का उपदेश एकसाथ किया है और ऐ, औ वर्णों का एकसाथ **(एओङ्, ऐऔच्)**। तैत्तिरीयप्रातिशाख्य में भी ए, ओ वर्ण एक साथ उपदिष्ट हैं (तै०प्रा० २.२३-२४) एवं ऐ, औ वर्ण एकसाथ (तै०प्रा० २.२६, २८, २९)। तै०प्रा० की व्याख्या वैदिकाभरण में इस ओर संकेत भी किया गया है कि—'**यद्यप्येकारादीनां चतुर्णामपि सन्ध्यक्षराणाम् एवं द्विस्वरात्मकत्वं समानम्। तथापि एदोतोः प्रश्लिष्टावयवत्वात्प्रकारान्तरमेवोक्तम्**' (२.२९)।

ए, ओ वर्णों में अ+इ, अ+उ वर्णों का क्षीरोदकमिश्रणवत् सर्वथा सम्मिश्रण होने के कारण इनकी मात्रा को बताना कठिन है कि कितनी मात्रा में अवर्ण, कितनी मात्रा में इवर्ण और उवर्ण को बोलना चाहिये। परन्तु ऐ, औ वर्णों में अकारादि का सम्मिश्रण तिलतण्डुलवत् होने से सन्ध्यक्षरत्व स्पष्ट प्रतीत होता है। अतः उनकी मात्रा बताई जा सकती है। इसलिये तै०प्रा० में कहा गया है कि—'**अकारार्धमैकारौकारयोरादिः, इकारोऽध्यर्धः पूर्वस्य शेषः, उकारस्तूत्तरस्य**' (२.२६, २८, २९)। अर्थात् ऐ में 'अ+इ' वर्ण क्रमशः ½+१½[=२] मात्रायें तथा औकार में 'अ+उ' वर्ण क्रमशः ½+१½[=२] मात्रायें रहती हैं [तु० **एचोश्चोत्तरभूयस्त्वात्**-म०भा० १.१.४८]।

आधुनिक भाषाविद् विद्वानों का मानना है कि इन सन्ध्यक्षरों का शुद्ध उच्चारण लुप्त हो गया है। क्योंकि उनका कहना है कि पहले इन सभी सन्ध्यक्षरों

---

१. सन्ध्यक्षराणि इत्यन्वर्था पूर्वाचार्यसंज्ञा (प्रदीपः, म०भा०एओङ्)।
२. मात्रासंसर्गादवरे पृथक्श्रुती (ऋ०प्रा० १३.४१)।
३. मात्रासंसर्गादवरेऽपृथक्श्रुती (ऋ०प्रा० १३.४०)।

का सन्ध्यक्षरत्व स्पष्टतया उच्चारित होता था। अर्थात् ए, ओ वर्णों का उच्चारण क्रमशः अइ, अउ के रूप में होता था तथा ऐ, औ वर्णों का क्रमशः आई, आऊ के रूप में होता था।[1] पर सम्प्रति ऐ, औ वर्णों का उच्चारण लुप्त होकर ए, ओ वर्णों का उच्चारण (अइ, अउ) इनमें आ गया है। एवं ए, ओ वर्णों का उच्चारण लुप्त होकर एक नया उच्चारण ही इनमें आ गया है।[2]

पाणिनि के लघुपाठ की शिक्षा में प्रकृत सूत्र इस प्रकार है—'**द्वे द्वे वर्णे सन्ध्यक्षराणामारम्भके भवत इति**' (१.२५) अर्थात् दो-दो स्वर वर्ण सन्ध्यक्षरों के आरम्भक=उत्पादक होते हैं।

२३. सरेफ ऋवर्णः।

सरेफः-प्र०ए०। ऋवर्णः-प्र०ए०। **समासः**-रेफेण सहित इति सरेफः—बहुव्रीहिः। आ चासौ वर्णश्चेति ऋवर्णः-कर्मधारयः। **अर्थः**—(ऋवर्णः) ऋकारः (सरेफः) रेफेण [रेफश्रुत्या] सहितो विद्यत इति ज्ञेयम्।

भाषार्थ—(ऋवर्णः) ऋकार (सरेफः) रेफ अर्थात् रेफश्रुति के साथ रहता है, ऐसा जानें।

विशेष—विशेष व्याख्यान के लिये द्रष्टव्य-१.९। इस सूत्र के बाद '**सलकार लृवर्णः**' सूत्र भी अपेक्षित है।

२४. [इति] संयुक्ताः वर्णाः।

[इति-अ०प०]। संयुक्ताः-प्र०ब०। वर्णाः-प्र०ब०। **अर्थः**-[(इति) एवम्] (संयुक्ताः) वर्णान्तरैः संयुक्ता (वर्णाः) वर्णा वर्णिताः।

भाषार्थ—[(इति) इस प्रकार] (संयुक्ताः) वर्णान्तरों से संयुक्त, सम्मिश्रित (वर्णाः) वर्ण वर्णित हैं। अर्थात् संयुक्त वर्णों का वर्णन समाप्त हो गया है।

विशेषः—वर्णान्तरों से संयुक्त वा मिश्रित का तात्पर्य उन वर्णों की ध्वनि जैसी ध्वनियों से संयुक्त वा मिश्रित जानना चाहिये। क्योंकि आचार्यों का निर्णीत सिद्धान्त है कि एक वर्ण में वर्णान्तर नहीं रहते।

---

१. यह मत 'एचोऽयवायावः' (अष्टा० ६.१.७५) सूत्र से विहित एच्-स्थानीय अय्, अव्, आय्, आव् आदेशों से भी सिद्ध होता है।
२. यह नूतन उच्चारण सम्भवतः प्राकृत भाषा की देन है।

२५. एवमेतानि स्थानानि।

एवम्-अ०प०। एतानि-प्र०ब०। स्थानानि-प्र०ब०। **अर्थः**—(एतानि) अनुपदमेव प्रत्यक्षतो ज्ञातानि (स्थानानि) सर्वाणि वर्णोत्पादकस्थानानि, वर्णोच्चारणस्थानानि (एवम्) इत्थम् समाप्तानि। **'तत्र स्थानं तावत्'** (१.१) इति प्रतिज्ञातं स्थानप्रकरणं समाप्तमिति यावद्।

भाषार्थ—(एतानि) ये सभी अर्थात् अभी तक ज्ञात सभी (स्थानानि) वर्णों के उच्चारण स्थान (एवम्) इस प्रकार समाप्त हुये हैं। अर्थात् **'तत्र स्थानं तावत्'** कहकर जो स्थान प्रकरण प्रारम्भ किया गया था, वह सम्प्रति समाप्त हो गया है।

॥ इति प्रथमं स्थानप्रकरणम् ॥

वाणी की महिमा

वाचा वै वेदाः सन्धीयन्ते, वाचा छन्दांसि, वाचा मित्राणि संदधति, वाचा सर्वाणि भूतान्यथो वागेवेदं सर्वमिति

(ऐ०आ० ३.१.६)।

वाणी से ही सभी वेद जाने जाते हैं, गायत्र्यादि छन्द पढ़े जाते हैं, मनुष्य ही नहीं, अपितु सभी हिंस्र प्राणी भी प्रिय एवं मधुर वाणी से मित्र हो जाते हैं। वाणी से ही इहलोक और परलोक सिद्ध होते हैं।

(द्र०-सायणभाष्य)

••●••

वाचो वा इदं सर्वं प्रभवति (शत०ब्रा० १.३.२.१६)

वाणी से ही सम्पूर्ण लौकिक कार्य सम्पन्न होते हैं।

२. अथ द्वितीयं करणप्रकरणम्

१. करणमपि।

करणम्-प्र०ए०। अपि-अ०प०। **अर्थः**—स्थानप्रकरणं समाप्य सम्प्रति (करणम्) वर्णोच्चारणाय साधकतमभूतं करणं=साधनम् (अपि) च उच्यते, उपदिश्यते।

भाषार्थ—स्थानप्रकरण को समाप्त कर अब क्रमप्राप्त (करणम्) वर्णोच्चारण के लिये अत्यन्त आवश्यक साधन, करण का प्रकरण भी कहा जाता है, उपदिष्ट किया जाता है।

विशेष—'स्थानमिदं करणमिदं' (शि०भू० ३) से निर्दिष्ट ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषयों में से पहले वर्णोच्चारण के लिए आवश्यक स्थान विषय को कह कर, अब क्रमप्राप्त साधकतमभूत करण अर्थात् वर्णों के उच्चारण में जिनकी अत्यन्त आवश्यकता है, जिनके विना उच्चारण सम्भव ही नहीं है, उन करणों (साधनों) का वर्णन इस द्वितीय प्रकरण में किया जाता है।

करण किसे कहते हैं और वे कितने हैं? यह विषय पहले ही बताया जा चुका है (द्र०पा०श० ५)। सभी करणों में जिह्वा अत्यधिक प्रधान एवं प्रमुख करण है। यतोहि अधिकांश वर्ण इसी से उच्चरित होते हैं। अत एव पहले उसी का वर्णन करते हैं कि जिह्वा किन-किन वर्णों का करण बनती है—

२. जिह्व्यतालव्यमूर्धन्यदन्त्यानां जिह्वा करणम्।

जिह्व्यतालव्यमूर्धन्यदन्त्यानाम्-ष०ब०। जिह्वा-प्र०ए०। करणम्-प्र०ए०। **समासः**—जिह्व्याश्च तालव्याश्च मूर्धन्याश्च दन्त्याश्चेति जिह्व्यतालव्यमूर्धन्यदन्त्याः, तेषां जिह्व्यतालव्यमूर्धन्यदन्त्यानाम्-इतरेतरद्वन्द्वः। जिह्वादिषु सर्वत्र शरीरावयवत्वात् 'तत्र भव' इत्येतस्मिन्नर्थे पूर्ववद् यत् प्रत्ययः। **अर्थः**—(जिह्व्यतालव्यमूर्धन्यदन्त्यानाम्) जिह्व्यानाम्=कण्ठ्यानाम्= कण्ठस्थानीयानां जिह्वामूलस्थानीयानाञ्च, तालुस्थानीयानाम्, मूर्धस्था-नीयानाम्, दन्तस्थानीयानाञ्च वर्णानाम् (करणम्) उच्चारणे प्रधानं प्रमुखञ्च साधनं (जिह्वा) जिह्वा अस्तीति विज्ञेयम्।

भाषार्थ—(जिह्व्यतालव्यमूर्धन्यदन्त्यानाम्) कण्ठस्थानीय और

जिह्वामूलस्थानीय, तालुस्थानीय, मूर्धस्थानीय और दन्तस्थानीय वर्णों के (करणम्) उच्चारण में प्रधान एवं प्रमुख साधन (जिह्वा) जिह्वा है।

विशेष—वर्णों का विभाजन स्थानों की दृष्टि से ही किया जाता है, न कि करण की दृष्टि से। यथा—कण्ठ्य, तालव्य आदि। प्रकृत सूत्र में भी तालव्य आदि स्थान विभागों का ही उल्लेख है। अतः 'जिह्व्य' शब्द भी स्थान विभाग का ही द्योतक होना चाहिये। परन्तु उसका अर्थ 'जिह्वास्थानीय' नहीं हो सकता। क्योंकि जिह्वा किसी भी वर्ण का स्थान नहीं है और न ही किसी आचार्य ने इसे स्थान के रूप में माना है, अपितु सभी आचार्यों ने इसे केवल करण के रूप में ही माना है। 'जिह्व्य' का अर्थ 'जिह्वा से उच्चारणीय' भी नहीं कर सकते, क्योंकि तालव्य आदि वर्ण भी जिह्वा से ही उच्चरित होते हैं। इस प्रकार इस शब्द का मुख्य (अभिधा) अर्थ घटित न होने पर गौण (लक्षणा) अर्थ स्वीकार करना होगा। सो वह अर्थ क्या होगा, उसे दिखाते हैं। 'जिह्व्य' का अर्थ 'जिह्वामूलीय, जिह्वामूलस्थानीय' करना कुछ उचित होगा। यतोहि आचार्यों ने जिह्वामूल को भी स्थान के रूप में माना है। परन्तु प्रकृत सूत्र में '**जिह्वा करणम्**' ऐसा कहा गया है, तो इसका तात्पर्य जिह्वा के मूलभाग से लेकर अग्रभाग तक का सम्पूर्ण भाग ही करण कहाता है, न कि तदेकदेश को छोड़कर। जिह्वामूल अन्य करणों (जिह्वा-भागों) के समान चलायमान एवं वर्णोच्चारण में साधन के रूप में सक्रिय होने से करण ही कहा जा सकता है, न कि स्थान। यदि उसे स्थान मान भी लें, तो तद्देशीय वर्णों के उच्चारण में अन्य किसी करण के न होने से, केवल स्थानमात्र से वे (जिह्वामूलीय) वर्ण उच्चरित नहीं हो सकते। अतः जिह्वामूलीय शब्द का भी अर्थ लक्षणा से 'कण्ठ्य' मानना होगा। क्योंकि जिह्वामूल का स्पर्श कण्ठ में ही होता है। इसलिए आचार्य पाणिनि ने कवर्ग को कण्ठ्य माना है, जबकि प्रायः सभी प्रातिशाख्यकारों ने जिह्वामूलीय माना है। अतः पाणिनीय सूत्रों में जहाँ कहीं भी स्थानद्योतनार्थ जिह्व्य वा जिह्वामूलीय शब्द आ जावें तो उनका अभिधार्थ त्यागकर लक्षणार्थ 'कण्ठ्य' का ग्रहण करना युक्ततर होगा[१]। जैसे कि प्रकृत सूत्रार्थ में किया गया है। ध्यान रहे 'कोमलतालु' को 'कण्ठ' मानकर ही 'कण्ठ्य' शब्द का प्रयोग होता है।[२]

१. द्र०-१.४ एवं २.८ की व्याख्या।

२. आधुनिक भाषाविद् 'कण्ठ्य' वर्णों को 'कोमलतालव्य' कहते हैं।

जिह्व्यादि वर्णों के उच्चारण में जिह्वा का कौन-कौन सा भाग सक्रिय वा क्रियाशील होता है, उसका अब क्रमशः वर्णन किया जाता है—

३. जिह्वामूलेन[१] जिह्व्यानाम्।

जिह्वामूलेन-तृ०ए०। जिह्व्यानाम्-ष०ब०। **समासः**—जिह्वाया मूलम् इति जिह्वामूलम्, तेन जिह्वामूलेन-षष्ठी तत्पुरुषः। **अर्थः**—(जिह्व्यानाम्) कण्ठस्थानीयानाम् अ-कु-ह-विसर्जनीयानां जिह्वामूलस्थानीयानां ≍क, ≍ख इत्येवमादीनाञ्च वर्णानाम् उच्चारणम् (जिह्वामूलेन) जिह्वाया मूलभागेन स्पर्शयित्वा कर्तव्यम्।

भाषार्थ—(जिह्व्यानाम्) अ, कवर्ग आदि कण्ठ्य वर्णों का और ≍क आदि जिह्वामूलीय वर्णों का उच्चारण (जिह्वामूलेन) जिह्वा के मूलभाग से स्पर्श कर के करना चाहिये।

विशेष—'जिह्व्य' वा 'जिह्वामूलीय' शब्दों का अर्थ 'कण्ठ्य' करना चाहिये, ऐसा पूर्वसूत्र की व्याख्या में लिख चुके हैं। पर यहाँ जिह्वामूलीय शब्द का प्रयोग एक पारिभाषिक शब्द के रूप में भी किया गया है। क्योंकि '≍' इस वर्ण की संज्ञा ही जिह्वामूलीय है। वाजसनेय प्रातिशाख्य (१.८४) में कण्ठ्य वर्णों का करण जिह्वामध्य बताया गया है—'**कण्ठ्या मध्येन**'। परन्तु पाणिनि के मत से कण्ठ्यों का करण जिह्वामूल ही है।

अब क्रमप्राप्त तालव्य वर्णों का करण बतलाते हैं—

४. जिह्वामध्येन तालव्यानाम्।

जिह्वामध्येन-तृ०ए०। तालव्यानाम्-ष०ब०। **समासः**-जिह्वाया मध्य इति जिह्वामध्यः, तेन जिह्वामध्येन-षष्ठीतत्पुरुषः। **अर्थः**—(तालव्यानाम्) तालुस्थानीयानाम् इ-चु-य-शानां वर्णानामुच्चारणम् (जिह्वामध्येन) जिह्वाया मध्यभागेन कर्त्तव्यम्। तालुस्थानीयानामुपकरणं जिह्वामध्यभाग इति यावत्।

भाषार्थ—(तालव्यानाम्) तालुस्थानीय इवर्ण, चवर्ग, य् और श् वर्णों का उच्चारण (जिह्वामध्येन) जिह्वा के मध्य भाग से करना चाहिये।

अब तालव्यों के पश्चात् मूर्धन्यवर्णों का करण बतलाते हैं—

५. जिह्वोपाग्रेण मूर्धन्यानाम्।

जिह्वोपाग्रेण-तृ०ए०। मूर्धन्यानाम्-ष०ब०। **समासः**—अग्रस्य समीपम्

१. इस तृतीयाविभक्ति के निर्देश से भी स्पष्ट है कि जिह्वामूल करण है, न कि स्थान।

इति उपाग्रम्-अव्ययीभावः। जिह्वाया उपाग्रम् इति जिह्वोपाग्रम्-तत्पुरुषः। आहत्य अव्ययीभावगर्भतत्पुरुषः, तेन जिह्वोपाग्रेण। **अर्थः**—(मूर्धन्यानाम्) मूर्धस्थानिनाम् ऋ-टु-र-षाणां वर्णानामुच्चारणम् (जिह्वोपाग्रेण) जिह्वाग्रपृष्ठ-वर्त्तिभागेन कर्तव्यम्। मूर्धस्थानिनां वर्णानां साधनमूर्ध्वजिह्वोपाग्रभाग इति भावः।

भाषार्थ—(मूर्धन्यानाम्) मूर्धा स्थान से उच्चार्यमाण ऋवर्ण, टवर्ग, रेफ और षकार इन वर्णों का उच्चारण (जिह्वोपाग्रेण) जिह्वाग्र के ठीक पिछले भाग से करना चाहिए। अर्थात् मूर्धन्य वर्णों का करण ऊर्ध्व जिह्वोपाग्र है (द्र० चित्र-३, २९; पृ० ६१, ७८)।

६. जिह्वाग्राधः करणं वा।

जिह्वाग्राधः-प्र०ए०। करणम्-प्र०ए०। वा-अ०प०। **समासः**—जिह्वाया अग्रम् इति जिह्वाग्रम्-षष्ठीतत्पुरुषः। जिह्वाग्रस्य अधः इति जिह्वाग्राधः—षष्ठीतत्पुरुषः। **अर्थः**—(वा) अथवा (मूर्धन्यानाम्) पूर्वोक्त मूर्धस्थानिनां वर्णानां (करणम्) साधकतमम् (जिह्वाग्राधः) जिह्वाग्रस्य अधस्तनो भागः। मूर्धन्यवर्णानां करणं निम्नजिह्वोपाग्रोऽपीति यावत्।

भाषार्थ—(वा) अथवा (मूर्धन्यानाम्) पूर्वोक्त मूर्धन्य वर्णों का (करणम्) उपकरण (जिह्वाग्राधः) जिह्वाग्र का निचला भाग है। अर्थात् मूर्धन्य वर्णों का करण निम्नजिह्वोपाग्र (जिह्वाग्राध) भी है।

विशेष—जिह्वा को मुख के अन्दर की ओर मोड़कर जिह्वाग्र के निचले भाग को ऊपर मूर्धा स्थान में स्पर्श करके मूर्धन्य वर्णों को बोलना चाहिये। इसे ही अन्यत्र इस प्रकार कहा गया है—**'जिह्वाग्रेण प्रतिवेष्ट्य मूर्धनि टवर्गे'** (तै०प्रा० २.३७)। **'जिह्वायाः प्रतिवेष्ट्याग्रमेतेषां करणं स्मृतम्'** (व०र०प्र० शि० २९)।

७. जिह्वाग्रेण दन्त्यानाम्।

जिह्वाग्रेण-तृ०ए०। दन्त्यानाम्-ष०ब०। **समासः**—जिह्वाया अग्रम् इति जिह्वाग्रम्, तेन जिह्वाग्रेण-षष्ठीतत्पुरुषः। **अर्थः**—(दन्त्यानाम्) लृ-तु-ल-सानां दन्त्यानां वर्णानाम् उच्चारणम् (जिह्वाग्रेण) जिह्वाया अग्रिमभागेन कर्तव्यम्। दन्त्यानां जिह्वाग्रभागः करणम् इति यावत्।

भाषार्थ—(दन्त्यानाम्) लृवर्ण, तवर्ग, लकार और सकार इन दन्त्य वर्णों का उच्चारण (जिह्वाग्रेण) जिह्वा के अग्रभाग से करना चाहिये। अर्थात्

दन्त्य वर्णों का करण जिह्वाग्रभाग है।

अभी तक जिह्व्य=कण्ठ्य, तालव्य, मूर्धन्य और दन्त्य वर्णों के उच्चारणार्थ उपयुक्त जिह्वावयवविशेषों का वर्णन किया गया है। अब अवशिष्ट ओष्ठ्य और नासिक्य वर्णों के करण का उल्लेख करते हैं—

८. शेषाः स्वस्थानकरणाः।

शेषाः-प्र०ब०। स्वस्थानकरणाः-प्र०ब०। **समासः**—स्वं स्थानम् एव करणं येषां ते स्वस्थानकरणाः—बहुव्रीहिः। शेषः=उक्तादन्यःशेषः। **अर्थः**—(शेषाः) अवशिष्टभूता उवर्ण-पवर्ग-उपध्मानीया ओष्ठ्या वर्णाः अनुस्वार-यमादयश्च नासिक्या वर्णाः (स्वस्थानकरणाः) स्वस्थानकरणकाः। स्वं स्वं स्थानमेव तेषां करणं साधनमिति यावत्। अनुस्वारयमादय इत्यत्रादिशब्देन **'हुँ इति नासिक्यः'** (वा०प्रा० ८.२३) इति परिभाषितो वर्णो ग्राह्यः।

भाषार्थ—(शेषाः) अवशिष्टभूत उवर्ण, पवर्ग तथा उपध्मानीय ओष्ठ्य वर्ण और अनुस्वार यमादि नासिक्य वर्ण (स्वस्थान-करणाः) स्वस्थान करण वाले हैं अर्थात् क्रमशः उनका करण ओष्ठ एवं नासिका है।

विशेष—ओष्ठ्य वर्णों का करण अधरोष्ठ है और स्थान उत्तरोष्ठ है। कहा भी गया है—**'ओष्ठ्यानाम् अधरोष्ठम्'** (च०अ० १.२५)। शुद्ध नासिक्य वर्णों के उच्चारण में नासिका के अतिरिक्त अन्य किसी अवयव का व्यापार नहीं होता है। अतः इनका करण भी नासिका ही है अर्थात् इनका स्थान और करण नासिका है। वाजसनेय प्रातिशाख्य में कुछ विशेष उल्लेख मिलता है कि नासिक्य (नासिकास्थानीय) वर्णों का करण नासिका का मूल भाग है। यथा—**'नासिकामूलेन यमाः'** (वा०प्रा० १.८२), **'यमानुस्वा-रनासिक्या नासामूलभवा दशा'** (व०र०प्र०शि० ३४)। अवशिष्ट वर्णों में अर्थात् शेष शब्द से सभी आचार्यों ने केवल ओष्ठ्य एवं नासिक्य वर्णों का ही ग्रहण किया है।[१] अर्थात् यहाँ किसी भी आचार्य ने शेष शब्द से कण्ठ्यों का ग्रहण नहीं किया। इससे भी स्पष्ट है कि २.२ और २.३ सूत्रों में प्रयुक्त जिह्व्य शब्द से कण्ठ्यों का ग्रहण मानते थे या अभीष्ट था। अन्यथा **'कण्ठ्याः कण्ठकरणाः'** अथवा **'कण्ठेन कण्ठ्यानाम्'** के रूप में उपदेश मिलना चाहिये था, अथवा 'शेष' शब्द से 'कण्ठ्यों' का भी ग्रहण होना चाहिये था।

वकार का करण अधरोष्ठ है। इसे **'वकारो दन्तोष्ठ्यः'** (१.१३) पर

१. 'समानस्थानकरणा नासिक्यौष्ठ्याः' (वा०प्रा० १.८०, व०र०प्र०शि० ३२)।

ही बता चुके हैं। सन्ध्यक्षरों में 'ए, ऐ' वर्ण तालव्यान्तर्गत होने से या तालव्यता का आधिक्य होने से[1] इनका करण 'जिह्वामध्य' है तथा 'ओ, औ' वर्ण ओष्ठ्यों में निहित होने से या ओष्ठ्यता का आधिक्य होने से[1] इनका करण अधरोष्ठ है। अनुनासिक अर्थात् प्रत्येक वर्ग के पञ्चम वर्णों का अपने-अपने करण के साथ-साथ नासिका भी करण होगा।[2]

प्रकृत सूत्र के भाव को इस प्रकार समझ सकते हैं—

१. ओष्ठ्या अधरोष्ठकरणाः (अथवा) **अधरोष्ठेन ओष्ठ्यानाम्।**

२. नासिक्या नासिकामूलकरणाः (अथवा) **नासिकामूलेन नासिक्यानाम्।**

इस प्रकरण में वर्णित विषय को अग्रिम प्रस्तार में दिखाते हैं—

वर्ण क्रम सं०	सूत्र	स्थान	वर्ण	करण
१	२.३	जिह्व्य (कण्ठ्य, जिह्वामूलीय)	अ, कु, ह, :, ᳵक, ᳵख	जिह्वामूल
२	२.४	तालव्य	इ, चु, य, श (ए, ऐ)	जिह्वामध्य
३	२.५ २.६	मूर्धन्य	ऋ, टु, र, ष	उर्ध्वजिह्वोपाग्र निम्नजिह्वोपाग्र
४	२.७	दन्त्य	लृ, तु, ल, स	जिह्वाग्र
५	१.१३		व	अधरोष्ठ
५	२.८	उत्तरोष्ठ्य	उ, पु, ᳵप, ᳵफ, (ओ, औ)	अधरोष्ठ
		नासिक्य	अं, कुँ, खुँ, गुँ, घुँ, हुँ	नासामूल

१. द्रष्टव्य—१, १९ और १.२२ सूत्रों का विशेष व्याख्यान।

२. मुखनासिकाकरणोऽनुनासिक इति स्मृतः (व०र०प्र०शि० ३४)।
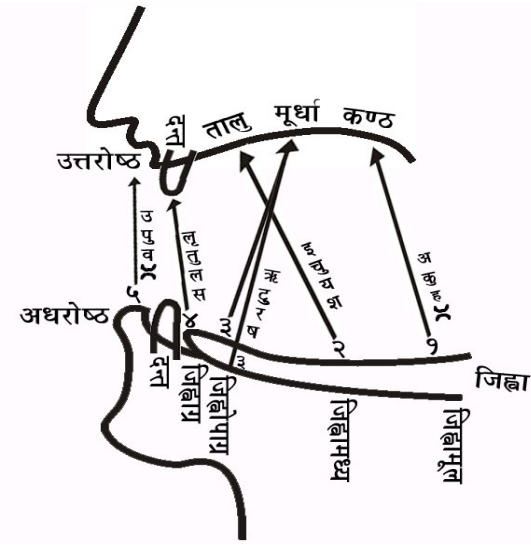
(चित्र—४७)

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि स्पर्श संज्ञक वर्णों का जो वर्गात्मक क्रम (कु, चु, टु, तु, पु) है, वह करणों के क्रम पर आधारित है, न कि स्थानों के क्रम पर। करणों का क्रम अन्दर से अर्थात् जिह्वा के मूल भाग से प्रारम्भ होकर जिह्वाग्र के साथ-साथ अधरोष्ठ पर समाप्त होता है। और वैसे ही स्वरों में जो शुद्ध स्वर (अ, इ, उ) हैं, जो किसी भी वर्ण (ध्वनि) से मिश्रित नहीं हैं, उनका क्रम भी क्रमशः करणों के क्रमानुसार ही है। उनमें कोई क्रम व्यत्यास नहीं है। हाँ, मध्य के दो भागों को लांघकर आगे बढ़ा गया है, पर आगे पीछे नहीं किया गया। तथा अन्तस्थ (य्, र्, ल्, व्) वर्णों और ऊष्म (श्, ष्, स्) वर्णों का क्रम भी करणों के क्रमानुसार ही है। केवल हकार में क्रम-व्यत्यास देखा जाता है। करणों के क्रमानुसार ऊष्मों का क्रम यह बनता है—ह्, श्, ष्, स्। यही क्रम ऋक्प्रातिशाख्य (१.१०) में एवं ऋक्तन्त्र (१.२) में उपलब्ध होता है। पर प्रचलित क्रम में हवर्ण अन्त में रहता है। इसका कारण यह है कि वर्ग्य वर्णों के क्रम में यह देखा जाता है कि अघोष वर्ण पहले और घोष वर्ण बाद में आते हैं। जैसे कि 'क ख-ग घ ङ; च छ-ज झ ञ आदि। अतः यहाँ भी अघोष (श्, ष्, स्) पहले और घोष (ह्) बाद में रखा गया है।

९. इत्येतत् करणम्।

इति-अ०प०। एतत्-प्र०ए०। करणम्-प्र०ए०। **अर्थः**—(एतत्) साम्प्रतमेवाधीतम् एतत् (करणम्) करणविषयप्रतिपादकं प्रकरणम् (इति) एवं समाप्तिमगात्।

भाषार्थ—(एतत्) अभी तक अधीत यह (करण) करणविषय का प्रतिपादक प्रकरण (इति) इस प्रकार समाप्त हुआ।

॥इति द्वितीयं करणप्रकरणम्॥

कुशल वाणी की प्रार्थना

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे॥ (अथर्व० १.१.१)

तीन वचनों से युक्त सात विभक्तियाँ (२१ वचन) ही वाणी के विविध रूपों को धारण करती हुई विचरती हैं। वाणी का स्वामी परमात्मा हमें वाणी के इन इक्कीस वचनों के अर्थप्रकाशन-सामर्थ्य मुझ में धारण करावे। अर्थात् मैं इनके अर्थप्रकाशन-सामर्थ्य को जानकर वाग्व्यवहार में कुशल होऊँ।

३. अथ तृतीयम् अन्तःप्रयत्नप्रकरणम्

'स्थानमिदं करणमिदं प्रयत्न एष द्विविधः' (शि०भू० ३) से सूचित विषयों में से स्थान और करण विषयों को बताकर अब क्रमप्राप्त आभ्यन्तरप्रयत्न की विवक्षा से सूत्रप्रणयन प्रारम्भ करते हैं—

१. प्रयत्नो द्विविधः।

प्रयत्नः-प्र०ए०। द्विविधः-प्र०ए०। **अर्थः**—(प्रयत्नः) यत्नः (द्विविधः) द्विप्रकारकोऽस्ति।

भाषार्थ—(प्रयत्नः) यत्न (द्विविधः) दो प्रकार के हैं।

विशेष—वर्णनिष्पत्ति के लिए किये गये व्यापार को प्रयत्न (यत्न) कहते हैं।

तद्द्विविधत्वं वर्णयति—

२. आभ्यन्तरो बाह्यश्च।

आभ्यन्तरः-प्र०ए०। बाह्यः-प्र०ए०। च-अ०प०। **अर्थः**-(आभ्यन्तरः) आभ्यन्तरयत्नः (बाह्यः च) बाह्ययत्नश्चेति प्रयत्नस्य द्विविधत्वम्।

भाषार्थ—वे (आभ्यन्तरः) आभ्यन्तरयत्न (बाह्यःच) और बाह्ययत्न हैं।

विशेष—आभ्यन्तर प्रयत्न को ही मुखप्रयत्न, आस्यप्रयत्न, अन्तःप्रयत्न, प्रयत्न, करण और प्रदान[1] कहते हैं। 'आस्य' का विवरण देते हुये महाभाष्यकार लिखते हैं कि **'ओष्ठात् प्रभृति प्राक्काकलकात्'** (म०भा० १.१.९)। अर्थात् ओष्ठ से लेकर काकलक[2] से पूर्व अवयव तक के भाग को आस्य (मुख) कहते हैं। इस आस्यभाग में होने वाले प्रयत्न को आस्यप्रयत्न अथवा आभ्यन्तरप्रयत्न कहते हैं। इस भाग से भिन्न भागों [काकलक=स्वरयन्त्रमुख, उरः, फुप्फुस, नाभि आदि] में होने वाले यत्न को बाह्ययत्न कहते हैं।

लोक में यत्न और प्रयत्न शब्द समानार्थक हैं। इसी लोकप्रसिद्धि के

---

१. करणं प्रदानमित्यनर्थान्तरमाहुः (उवटः-ऋ०प्रा० १३.८)।

२. 'काकलकं नाम ग्रीवायामुन्नतप्रदेशः' (प्रदीपः-तत्रैव)—ग्रीवा के उन्नत प्रदेश अर्थात् स्वरयन्त्र के मुख (खुले भाग) को काकलक कहते हैं।

अनुसार पूर्वसूत्र में दोनों यत्नों (आभ्यन्तर+बाह्य) के लिए प्रयत्न शब्द का प्रयोग किया गया है। ऐसा ही अन्यत्र भी कहीं-कहीं देखा जाता है। परन्तु 'प्रयत्न' शब्द का प्रयोग केवल आभ्यन्तरयत्न के लिए ही प्राय: होता है।[1] क्योंकि प्रयत्न का निर्वचन किया जाता है—'**प्राक्तनो यत्न:**[2] **प्रकृष्टो वा यत्न: प्रयत्न:**' अर्थात् वर्णोत्पत्ति से ठीक पूर्व में होनेवाला यत्न प्रयत्न कहलाता है अथवा प्रकृष्ट=उत्कृष्ट यत्न प्रयत्न कहलाता है। वर्णोत्पत्ति में पहले बाह्ययत्न (नाभि से काकलकदेश तक के यत्न) होते हैं। फलत: नाद उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् आभ्यन्तरयत्न (आस्ययत्न) के कारण उस नाद से वर्ण उत्पन्न होता है। अत: वर्णोत्पत्ति से प्राक्तन होने से आस्ययत्न प्रयत्न कहलाता है। और वर्णोत्पत्ति का साक्षात् कारण बनने से यह आभ्यन्तरयत्न प्रकृष्ट=उत्कृष्ट यत्न है, इसीलिये भी यह प्रयत्न कहलाता है। आभ्यन्तर और बाह्य यत्नों के लिए केवल यत्न शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिए। वैसे ही बाह्ययत्न के लिए भी प्रयत्न शब्द का प्रयोग न कर केवल यत्न शब्द का प्रयोग करना चाहिये। जिससे कि भ्रान्ति न होवे। यदि दोनों यत्नों के लिए वा बाह्ययत्न के लिए भी प्रयत्न शब्द प्रयुक्त होता है तो उसे भाक्त वा लोक प्रसिद्ध दार्शनिक संज्ञा समझनी चाहिए (द्र० ७.५, ६ सूत्रों का विशेष भाष्य)।

३. स्वस्थान आभ्यन्तरस्तावत्।

स्वस्थाने-स०ए०। आभ्यन्तर:-प्र०ए०। तावत्-अ०प०। **समास:**-स्वस्य स्थानमिति स्वस्थानम्, तस्मिन् स्वस्थाने—षष्ठीतत्पुरुष:। **अर्थ:**—(तावत्) बाह्ययत्नोपदेशात् पूर्वं (स्वस्थाने) वर्णानां स्व-स्व-उद्भवस्थाने [आस्ये] जायमान: (आभ्यन्तर:) आभ्यन्तरयत्न उपदिश्यते।

भाषार्थ—(तावत्) बाह्ययत्न के उपदेश से पूर्व (स्वस्थाने) वर्णों के अपने-अपने उद्भवस्थान [मुख] में होने वाले (आभ्यन्तर:) आभ्यन्तर यत्न का उपदेश किया जाता है।

१. यथा—'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' (अष्टा० १.१.९)-जिन वर्णों का आस्य (=स्थान) एवं प्रयत्न (=आभ्यन्तरयत्न) तुल्य हैं, वे सवर्ण संज्ञक होते हैं। अपि च 'व्योर्लघुप्रयत्नतर: शाकटायनस्य' (अष्टा० ८.३.१८)।

२. 'प्राक्तनो यत्न: प्रयत्न:' निर्वचन से कुछ लोग भ्रमित होते हैं कि वर्णोत्पत्ति में पहले आभ्यन्तर यत्न होते हैं और बाद में बाह्ययत्न। पर यह उचित नहीं है। (विशेष विवरण के लिए ८.८ सूत्र का विशेष व्याख्यान द्रष्टव्य है)।

विशेष—आभ्यन्तरयत्न पांच प्रकार का है—१. स्पृष्टता, २. ईषत्स्पृष्टता, ३. ईषद्विवृतता, ४. विवृतता, ५. संवृतता।

४. स्पृष्टकरणा: स्पर्शा:।

स्पृष्टकरणा:-प्र०ब०। स्पर्शा:-प्र०ब०। **समास:**—स्पृष्टं करणम्=प्रयत्नो येषां ते स्पृष्टकरणा:[1]—बहुव्रीहि:। जिह्वा वाधरोष्ठो वा यदा स्थानानि पूर्णतया स्पृशत: तदा सा स्पृष्टतोच्यते (द्र० ८.२)। **अर्थ:**—(स्पर्शा:) स्पर्शसंज्ञका: कादिर्मावसाना: पञ्चविंशतिर्वर्णा: (स्पृष्टकरणा:) स्पृष्टाभ्यन्तरप्रयत्नका:।

भाषार्थ—(स्पर्शा:) 'क्' से 'म्' तक के स्पर्शसंज्ञक २५ वर्ण (स्पृष्टकरणा:) स्पृष्ट प्रयत्न वाले हैं।

विशेष—स्पर्श वर्णों के उच्चारण में जिह्वा वा अधरोष्ठ कण्ठ आदि स्थानों का स्पर्श करके निष्क्रम्यमाण वायु को क्षणभर के लिए पूर्ण रूप से रोक देते हैं, पुन: स्थान से पृथक् होकर वायु को बाहर निकलने देते हैं। इसी व्यापार=आभ्यन्तर प्रयत्न को यहाँ स्पृष्टकरण कहा गया है। यहाँ 'करण' शब्द आभ्यन्तरप्रयत्न का वाचक है। '**क्रियत इति करणम्=प्रयत्न:**'[2] (उवट:-ऋ०प्रा० ६.२७) अर्थात् जो किया जाता है, प्रयत्न होता है, उसे करण (आभ्यन्तर प्रयत्न) कहते हैं। इस आभ्यन्तरप्रयत्न के लिये 'करण' शब्द म०भाष्य में भी प्रयुक्त हुआ है—'**तेभ्यस्तत्तत्स्थानकरणनादानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिका: शब्दा उपदिश्यन्ते**' (पस्प० पृ० ५१), '**करणम्=आभ्यन्तरप्रयत्न:**' (उद्योत-वहीं)। अपि च द्र०गो०ब्रा० १.१.२४; २७।

५. ईषत्स्पृष्टकरणा अन्तस्था:।

ईषत्स्पृष्टकरणा:-प्र०ब०। अन्तस्था:-प्र०ब०। **समास:**-ईषत् स्पृष्टं करणं येषां ते ईषत्स्पृष्टकरणा:-त्रिपदबहुव्रीहि:। ईषच्छब्द: स्वल्पवाचक:। तथा चामर:—'**किञ्चिदीषन्मनागल्पे**' (३.४.८)। जिह्वा वाधरोष्ठो वा यदा स्थानं किञ्चित् सामीप्येन स्पृशत:, तदा सा ईषत्स्पृष्टतोच्यते (द्र० ८.३)। **अर्थ:**—(अन्तस्था:) य्, र्, ल्, व् इत्येत अन्तस्थसंज्ञा वर्णा: (ईषत्स्पृष्टकरणा:) किञ्चित्स्पृष्टप्रयत्ना:।

भाषार्थ—(अन्तस्था:) य्, र्, ल् और व् ये चार अन्तस्थसंज्ञक वर्ण

१. स्पृष्टतानुगतं करणं कृति: येषां ते स्पृष्टकरणा: (न्यास: १.१.९)

२. करणं कृतिरुच्चारणप्रकार: (न्यास: १.१.९)।

(ईषत्स्पृष्टकरणाः) स्वल्प स्पृष्ट प्रयत्न वाले हैं। अर्थात् स्वल्प स्पर्श रूपी आभ्यन्तर प्रयत्न वाले हैं।

विशेष—अन्तःस्थों के उच्चारण में जिह्वा वा अधरोष्ठ उन-उन स्थानों से न तो स्पर्श वर्णों के तुल्य पूर्ण स्पर्श ही करते हैं और न ही उन-उन स्थानों से दूर ही रहते हैं, अपितु थोड़ा सा स्पर्श करते हुये, निष्क्रम्यमाण वायु को संकीर्ण मार्ग से निरन्तर निकलने देते हैं। इसी आस्यप्रयत्न को यहाँ ईषत्स्पृष्टकरण कहा गया है।

६. ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः।

ईषद्विवृतकरणाः-प्र०ब०। ऊष्माणः-प्र०ब०। **समासः**—ईषत् विवृतं करणं येषां ते ईषद्विवृतकरणाः-त्रिपदबहुव्रीहिः। जिह्वा वाधरोष्ठो वा यदा स्थानं किञ्चिद् दूरेण स्पृशतः तदा सा ईषद्विवृततोच्यते (द्र० ८.४)। **अर्थः**—(ऊष्माणः) ऊष्मसंज्ञकाः शषसा वर्णाः (ईषद्विवृतकरणाः) किञ्चिद्-विवृतप्रयत्नकाः।

भाषार्थ—(ऊष्माणः) ऊष्मसंज्ञक श्, ष्, स् ये तीनों वर्ण (ईषद्विवृत-करणाः) थोड़े दूर से स्पर्श करने रूपी आभ्यन्तरप्रयत्न वाले हैं।

विशेष—ऊष्म वर्णों के उच्चारण में जिह्वा तालु आदि स्थानों से स्पर्श न करती हुई और स्वरों के उच्चारण के समान नितान्त दूर न रहती हुई थोड़ी दूर पर स्थित होकर वेग से निष्क्रम्यमाण वायु को कुछ संकीर्ण मार्ग से बाहर निकलने देती है। इसी आभ्यन्तरप्रयत्न को यहाँ ईषद्विवृतकरण कहा गया है। यह कथन केवल प्रारम्भिक तीन ऊष्मों अर्थात् श्, ष्, स् के लिए ही समझना चाहिये। क्योंकि हवर्ण के लिए अग्रिम सूत्र है (विशेष व्याख्यान आगे देखें)।

७. विवृतकरणा वा।

विवृतकरणाः-प्र०ब०। वा०-अ०प०। **समासः**-विवृतं करणं येषां ते विवृतकरणाः-बहुव्रीहिः। उपरित ऊष्माण इत्यनुवर्तते। जिह्वा वाधरोष्ठो वा यदा स्थानं दूरेण स्पृशतः तदा सा विवृततोच्यते (द्र० ८.४)। **अर्थः**—(ऊष्माणः) ऊष्मसंज्ञको हवर्णः (विवृतकरणाः) विवृताभ्यान्तरप्रयत्नकः (वा) एव वर्तते। अवधारणे वापदम्। बहुवचनञ्चाविवक्षितम्।

भाषार्थ—(ऊष्माणः) ऊष्मसंज्ञक हवर्ण (विवृतकरणाः) विवृतप्रयत्न वाला (वा) ही है।

विशेष—हकार और स्वरों के उच्चारण में जिह्वा अपनी सामान्य स्थिति में नीचे ही रहती है। स्पर्श करने हेतु ऊपर नहीं उठती है अर्थात् स्थानों से सर्वथा दूर रहती है। दूर रहती हुई ही निष्क्रम्यमाण वायु को निर्बाध गति से बाहर जाने देती है। इस प्रकार हकार एवं स्वरों के उच्चारण में सहयोग करती है। इसी मुखप्रयत्न (आभ्यन्तरप्रयत्न) को यहाँ विवृतकरण कहा गया है। यह विवृतप्रयत्न केवल हकार में ही सम्भव है, न कि श्, ष् और स् में। अतः यहाँ सूत्रस्थ 'वा' शब्द विकल्पार्थ वा अप्यर्थक नहीं है, अपितु अवधारणार्थक (एवार्थक) है। क्योंकि पूर्वसूत्रोक्त ईषद्विवृतत्व केवल श्, ष्, स् में ही देखा जाता है और ईषद्विवृतप्रयत्न से अर्थात् श् आदि के तुल्य हकार का उच्चारण सम्भव ही नहीं है। वैसे ही प्रकृत सूत्रोक्त विवृतप्रयत्न हकार में दृष्टिगोचर होता है, तद्भिन्न शादि में सम्भव ही नहीं है अर्थात् शादि का उच्चारण हकार या स्वरों के सदृश नहीं हो सकता। अतः पूर्वसूत्र में ऊष्मशब्द से केवल श्, ष्, स् वर्णों का ही ग्रहण करना चाहिये एवं प्रकृत सूत्र में हकार मात्र का।[१] यहाँ हकार मात्र का ग्रहण होने से सूत्रस्थ बहुवचन को तो अविवक्षित ही मानना होगा।[२]

८. विवृतकरणाः स्वराः।

विवृतकरणाः-प्र०ब०। स्वराः-प्र०ब०। **समासः**-पूर्ववद् बहुव्रीहिः। **अर्थः**—(स्वराः) अकारादयः स्वराः (विवृतकरणाः) विवृतप्रयत्नकाः सन्ति।

भाषार्थ—(स्वराः) अकारादि स्वर वर्ण (विवृतप्रयत्नाः) विवृत प्रयत्नवाले हैं।

विशेष—अग्रिम सूत्र ३.१२ में ह्रस्व अकार को संवृतप्रयत्नक कहा जायेगा और ३.९ में ए, ओ वर्णों का विवृततर एवं ३.१० में ऐ, औ वर्णों तथा ३.११. में दीर्घ आकार को विवृततम कहा जायेगा। ऋ, लृ वर्णों में रेफ एवं लकार श्रुति होने के कारण इनमें ईषत्स्पृष्टकरणत्व भी रहता है (३.५)। अतः प्रकृत सूत्र में अवशिष्ट स्वरों (अठारह-अठारह प्रकार के इवर्ण एवं उवर्ण) का ही विवृतकरणत्व बताया जा रहा है, न कि सभी स्वरों का।

१. श्, ष्, स् और ह् वर्णों का यह भेद केवल अन्तःप्रयत्नों में ही नहीं है, अपितु बाह्यत्नों में भी है—द्र० ४.२, ४, ११, १२।

२. उक्त व्याख्यान सर्वानुभवसिद्ध व्यवहार एवं यथार्थता पर आधृत है। इससे व्याकरण की प्रक्रिया में भी कोई दोष नहीं आता। विशेष जिज्ञासु 'माधवीया-धातुवृत्ति' की 'भवितासि' विषयक पंक्तियों का अवलोकन करें (मा०धा० पृ० १७)।

अर्थात् अवर्ण को छोड़कर शुद्धस्वरों का ही कथन प्रकृत सूत्र में है।

९. तेभ्य ए ओ विवृततरौ।

तेभ्यः-पं०ब०। ए, ओ इति लुप्तविभक्तिकौ। विवृततरौ-प्र०द्वि०। ते सर्वे विवृताः, अयमेषु अतिशयेन विवृत इति विवृततरः, तौ विवृततरौ—'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ' (अष्टा० ५.३.५७) इति तरप्-प्रत्ययः। **अर्थः**—(तेभ्यः) उक्तस्वरवर्णेभ्यः (ए ओ) ए ओ इत्येतौ सन्ध्यक्षरसंज्ञौ स्वरौ (विवृततरौ) अतिशयेन विवृतौ भवतः।

भाषार्थ—(तेभ्यः) उन स्वर वर्णों की अपेक्षा से (ए, ओ) ए, ओ ये दोनों सन्ध्यक्षर वर्ण (विवृततरौ) अधिक विवृत होते हैं।

विशेष—मूल शुद्ध स्वरों (इ, उ) के उच्चारण की अपेक्षा ए, ओ वर्णों के उच्चारण में स्थान और करणों के मध्य में अधिक विवृतत्व (दूरी) होता है, इसे ही यहाँ विवृततर प्रयत्न कहा गया है।

१०. ताभ्यामै औ।

ताभ्याम्-पं०द्वि०। ऐ औ-इति लुप्तविभक्तिकौ। विवृततरावित्यनुवर्तते। **अर्थः**—(ताभ्याम्) ए-ओभ्याम् (ऐ औ) ऐ, औ चेत्येतौ वर्णौ (विवृततरौ) अतिशयेन विवृतौ भवतः।

भाषार्थ—(ताभ्याम्) 'ए, ओ' इन दोनों वर्णों की अपेक्षा (ऐ औ) 'ऐ, औ' ये दोनों वर्ण (विवृततरौ) अधिक विवृततर हैं।

विशेष—'ए, ओ' इन वर्णों के उच्चारण की अपेक्षा 'ऐ, औ' इनके उच्चारण में स्थान एवं करण में और भी अधिक दूरी होती है। इवर्णादि की अपेक्षा से 'ए, ओ' विवृततर हैं तो 'ऐ, औ' विवृततम हैं। अतः इस प्रयत्नभेद से ही ए-ऐ तथा ओ-औ वर्णों की परस्पर सवर्णसंज्ञा नहीं होती है—'**प्रयत्न-भेदादेव एडैचोः परस्परं सावर्ण्याभावः। एङो विवृततरत्वात् ऐचां विवृततमत्वादिति बोध्यम्**' (उद्योतः-म०भा० एओङ्०)।

११. ताभ्यामप्याकारः।

ताभ्याम्-पं०द्वि०। अपि-अ०प०। आकारः-प्र०ए०। विवृततरावित्यनु-वर्तते, तच्चैकवचनान्तेन विपरिणम्यते। **अर्थः**—(ताभ्याम्) ऐ औ इत्येताभ्याम् (अपि) अपि (आकारः) आवर्णो विवृततरः। ताभ्यामप्यधिको विवृतकरण इति यावत्।

भाषार्थ—(आकारः) आवर्ण (ताभ्याम्) ऐकार, औकार से (अपि) भी (विवृततरः) अधिक विवृत है।

१२. संवृतस्त्वकारः।

संवृतः-प्र०ए०। तु-अ०प०। अकारः-प्र०ए०। तु-इति अव्ययपदं '**विवृतकरणाः स्वराः**' (३.८) इति कथनव्यावृत्त्यर्थम्। **अर्थः**—(अकारः) षट्प्रभेदात्मको ह्रस्वावर्णः (तु) तु (संवृतः) संवृतप्रयत्नः।

भाषार्थः—(अकारः) छः प्रकार का ह्रस्व अवर्ण (तु) तो (संवृतः) संवृतप्रयत्नवाला है।

१३. इत्येषोऽन्तःप्रयत्नः।

इति-अ०प०। एषः-प्र०ए०। अन्तःप्रयत्नः-प्र०ए०। **अर्थः**—(इति) एवं प्रकारेण (एषः) '**प्रयत्नो द्विविधः**' (३.१) इत्युपक्रम्य वर्णित एषः (अन्तःप्रयत्नः) मुखस्याभ्यन्तरे क्रियमाणस्य प्रयत्नस्य विषयः समाप्तिं गतः।

भाषार्थ—(इति) इस प्रकार (एषः) 'प्रयत्नो द्विविधः' (३.१) सूत्र से प्रारम्भ कर वर्णित यह (अन्तःप्रयत्नः) मुख के अन्दर किये जानेवाले आभ्यन्तर प्रयत्न का विषय समाप्त हो गया है।

विशेष—यहाँ अयोगवाहों का आभ्यन्तर प्रयत्न कहीं बताया नहीं गया। अतः प्रातिशाख्यों के मतानुसार उनका भी आभ्यन्तर प्रयत्न यहाँ दिया जा रहा है।

स्वरानुस्वारोष्मणामस्पृष्टं स्थितम् (ऋ०प्रा० १३.११)

अर्थः—स्वर, अनुस्वार और ऊष्म (ह, श, ष, स, अः, ≍क, ≍प, अं) वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न अस्पृष्ट स्थित है। अर्थात् इनके उच्चारण में स्थान और करणों का स्पर्श नहीं होता, बल्कि स्थित अर्थात् निष्क्रिय होते हैं।

ऋक्प्रातिशाख्य में ह आदि आठ वर्णों की ऊष्म संज्ञा है। जिनमें विसर्गादि चार अयोगवाह भी सम्मिलित हैं। अतः विसर्ग; जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और अनुस्वार इन चार अयोगवाहों का आभ्यन्तर प्रयत्न 'अस्पृष्ट स्थित' है। शेष चार अयोगवाहों (यमों) के आभ्यन्तर प्रयत्न का उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। क्योंकि यमों के उच्चारण में आस्यप्रयत्न होते ही नहीं है। (द्र०-तृतीय परिशिष्ट, पृ० २२२-२२३)।

॥ इति तृतीयम् अन्तःप्रयत्नप्रकरणम्॥

४. अथ चतुर्थं बाह्ययत्नप्रकरणम्

१. अथ बाह्याः प्रयत्नाः।

अथ-अ०प०। बाह्याः-प्र०ब०। प्रयत्नाः-प्र०ब०। **अर्थः**—(अथ) अन्तःप्रयत्ननिरूपणानन्तरमिदानीम् (बाह्याःप्रयत्नाः) बाह्या यत्ना निरूप्यन्ते।

भाषार्थ—(अथ) अन्तःप्रयत्न के निरूपण के पश्चात् अब (बाह्याःप्रयत्नाः) बाह्य यत्न निरूपित किये जाते हैं।

विशेष—बाह्ययत्न के विवरणार्थ ३.२ सूत्र का विशेष व्याख्यान द्रष्टव्य है। बाह्ययत्न १२ प्रकार के हैं। वे हैं—विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त स्वरित और काल।

२. वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शषसविसर्जनीयजिह्वामूलीयोप-ध्मानीया यमौ च प्रथमद्वितीयौ विवृतकण्ठाः श्वासानु-प्रदाना अघोषाः।

वर्गाणाम्-ष०ब०। प्रथमद्वितीयाः-प्र०ब०। शषस······ध्मानीयाः-प्र० ब०। यमौ-प्र०द्वि०। च-अ०प०। प्रथमद्वितीयौ-प्र०द्वि०। विवृतकण्ठाः-प्र०ब०। श्वासानुप्रदानाः-प्र०ब०। अघोषाः-प्र०ब०। **समासः**—प्रथमाश्च द्वितीयाश्चेति प्रथमद्वितीयाः। शश्च षश्च सश्च विसर्जनीयश्च जिह्वामूलीय-श्चोपध्मानीयश्च इति शषसविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयाः। प्रथमश्च द्वितीयश्चेति प्रथमद्वितीयौ-सर्वत्रेतरेतरद्वन्द्वः। विवृतः कण्ठः=काकलको येषां ते विवृतकण्ठाः। श्वासोऽनुप्रदानं=मूलकारणं येषां ते श्वासानुप्रदानाः। न विद्यते घोषो येषाम् उच्चारणे त अघोषाः-त्रिष्वपि बहुव्रीहिः। **अर्थः**—(वर्गाणाम्) कवर्ग-चवर्ग-टवर्ग-तवर्ग-पवर्गाणां (प्रथमद्वितीयाः) क्, च्, ट्, त्, प् इत्येते पञ्च प्रथमवर्णाः, ख्, छ्, ठ्, थ्, फ् इत्येते च पञ्च द्वितीयवर्णाः तथा च (शषसविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयाः) श्, ष्, स्, :, ᳲक, ᳲप, इत्येते वर्णाः (यमौ च प्रथमद्वितीयौ) कुँ इति प्रथमयमः, खुँ इति द्वितीययमश्च (विवृतकण्ठाः) विस्तृतस्वरयन्त्रमुखोद्भवाः (श्वासानुप्रदानाः) श्वास-प्रकृतिकाः (अघोषाः) घोषध्वनिरहिता भवन्ति। एते त्रयो बाह्ययत्नाः सन्त्युक्तानां वर्णानामिति यावत्।

भाषार्थ—(वर्गाणाम्) कवर्ग, चवर्ग आदि पाँचों वर्गों के (प्रथम-द्वितीयाः) प्रथम वर्ण क्, च्, ट्, त्, प् एवं द्वितीय वर्ण ख्, छ्, ठ्, थ्, फ् (शषसविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयाः) श्, ष्, स्, विसर्जनीय [:], जिह्वामूलीय [ᳲक], उपध्मानीय [ᳲप], (यमौ च प्रथमद्वितीयौ) प्रथम यम [कुँ] और द्वितीय यम [खुँ], ये सभी अठारह वर्ण (विवृतकण्ठाः) विस्तृत स्वरयन्त्र के मुख से उत्पन्न होने वाले हैं, (श्वासानुप्रदानाः) प्रधानतया श्वास से उत्पन्न होने वाले हैं और (अघोषाः) घोषध्वनि रहित हैं। अर्थात् उक्त सभी वर्ण इन तीनों बाह्ययत्नों से युक्त हैं।

विशेष—स्वरयन्त्र के खुले भाग को ही काकल, काकलक, कण्ठ, कण्ठबिल, स्वरयन्त्रमुख आदि कहते हैं। जब यह कण्ठबिल अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत होगा, तब इसे विस्तृतकण्ठ या विवृतकण्ठ कहते हैं। इस स्थिति से उच्चरित वर्णों को भी विस्तृतकण्ठ या विवृतकण्ठ कहते हैं। वर्णोच्चारण के लिये वायु जब विवृतकण्ठ से निकल रही होती है, तब स्वरयन्त्र के ओष्ठों (फलकों) में घर्षण अपेक्षा कृत कम होता है। यतोहि वायु का निर्गमन मार्ग निर्बाधित है। घर्षण के न्यून होने से नाद भी न्यून ही उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में उच्चरित वर्णों को श्वासानुप्रदान कहते हैं। क्योंकि यहाँ श्वास की मात्रा अधिक है और नाद की मात्रा कम। अतः इन दोनों से उत्पन्न वर्णों को छत्रिन्याय अथवा मल्लग्रामन्याय से श्वासानुप्रदान कहते हैं। इन श्वासानुप्रदान वर्णों के उच्चारण में नाद कम होने के कारण घोष ध्वनि नहीं होती अर्थात् वे वर्ण अघोष हैं। क, ख आदि प्रथम, द्वितीय वर्णों की उच्चारण-प्रक्रिया वर्णों के उच्चरित होते ही झटिति समाप्त होती है। जब कि ग, घ आदि तृतीय, चतुर्थ वर्णों की उच्चारण-प्रक्रिया इन वर्णों के उच्चरित होने के पश्चात् भी समाप्त नहीं होती, अपितु कुछ गम्भीर ध्वनि निःसृत होती है। इसे ही शिक्षाविद् घोष कहते हैं। ये घोष वर्ण दूरस्थ व्यक्ति को अपेक्षा कृत अधिक स्पष्ट सुनाई देते हैं। प्रकृत सूत्रोक्त क, ख आदि वर्णों में यह घोष ध्वनि न होने से इन्हें अघोष कहते हैं।

३. वर्ग्ययमानां प्रथमा अल्पप्राणा इतरे सर्वे महाप्राणाः।

वर्ग्ययमानाम्-ष०ब०। प्रथमाः-प्र०ब०। अल्पप्राणाः-प्र०ब०। इतरे-प्र०ब०। सर्वे-प्र०ब०। महाप्राणाः-प्र०ब०। वर्गे भवा वर्ग्याः-दिगादिभ्यो यत् (अष्टा० ४.३.५४) इति यत्-प्रत्ययः। **समासः**—वर्ग्याश्च यमाश्चेति वर्ग्ययमाः, तेषां वर्ग्ययमानाम्-इतरेतरद्वन्द्वः। अल्पःप्राणः [उत्पादकः] येषां

त अल्पप्राणाः। महान् प्राणः [उत्पादकः] येषां ते महाप्राणाः-बहुव्रीहिरुभयत्र। **अर्थः**—(वर्ग्ययमानाम्) वर्ग्येषु=वर्गस्थवर्णेषु यमेषु=यमसंज्ञकवर्णेषु च (प्रथमाः) क-च-ट-त-पाः कुँ इति च प्रथमसंज्ञकाः (अल्पप्राणाः) अल्पप्राणयत्नवन्तः। अल्पप्राणोद्भवा इति यावद्। (इतरे) प्रथमातिरिक्ताः ख-छ-ठ-थ-फाः खुँ इति च द्वितीयसंज्ञकाः तथा च श-ष-स-विसर्जनीय-जिह्वामूलीय-उपध्मानीयाः, एते (सर्वे) सर्वे वर्णास्तु (महाप्राणाः) महाप्राणवन्तः। अधिकप्राणोद्भवा इति भावः।

भाषार्थ—(वर्ग्ययमानाम्) वर्गस्थ वर्णों और यमसंज्ञक वर्णों में से (प्रथमाः) प्रथमसंज्ञक क्, च्, ट्, त्, प् और कुँ ये वर्ण (अल्पप्राणाः) अल्पप्राणयत्नवाले हैं अर्थात् अल्पप्राण से उत्पन्न होने वाले हैं। (इतरे) प्रथमातिरिक्त द्वितीयसंज्ञक वर्ण ख्, छ्, ठ्, थ्, फ् तथा खुँ एवं श्, ष्, स्, विसर्ग [:], जिह्वामूलीय (ᳵक), उपध्मानीय (ᳵप), ये (सर्वे) सभी वर्ण (महाप्राणाः) महाप्राणयत्नवाले हैं अर्थात् महाप्राण से उत्पन्न होने वाले हैं।

विशेष—प्रथम, द्वितीय आदि शब्द क्, ख् आदि की संज्ञायें हैं, ऐसा पारिभाषिक शब्दों (संख्या १०-१४) में कहा जा चुका है। इसकी विशेष चर्चा 'यम-विवेचन' शीर्षक तृतीय परिशिष्ट (पृ० २११-२१३) में की जाएगी। पूर्वसूत्र में वर्णित वर्णों को ही लक्षित कर यहाँ 'प्रथमाः' एवं 'इतरे' शब्दों का प्रयोग किया गया है। अतः 'इतरे' शब्द से प्रथमातिरिक्त अर्थात् अल्पप्राणयत्नक वर्णों से भिन्न वर्ण, जो कि पूर्वसूत्र में कहे गये हैं, उन्हीं का ग्रहण है, न कि ग्, घ् आदि सभी वर्णों का ग्रहण। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि '**वर्ग्ययमानाम्**' का अन्वय (सम्बन्ध) '**प्रथमा अल्पप्राणाः**' के साथ ही है, न कि '**इतरे सर्वे**.....' के साथ भी। अन्यथा श्, ष् आदि वर्णों का महाप्राणत्व अविहित ही रह जायेगा। क्योंकि श् आदि न तो वर्ग्य हैं, न ही यम। ऐसा ही '**वर्ग्ययमानां तृतीया**.....' (४.५) सूत्र में भी समझ लिया जावे। उभयत्र ही 'वर्ग्ययमानाम्' में जो षष्ठी है, वह निर्धारण में है।

४. वर्गाणां तृतीयचतुर्था अन्तस्था हकारानुस्वारौ यमौ च तृतीयचतुर्थौ नासिक्यश्च संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तश्च।

वर्गाणाम्-ष०ब०। तृतीयचतुर्थाः-प्र०ब०। अन्तस्थाः-प्र०ब०। हकारानुस्वारौ-प्र०द्वि०। यमौ-प्र०द्वि०। च-अ०प०। तृतीयचतुर्थौ-प्र०द्वि०।

नासिक्यः-प्र०ए०। च-अ०प०। संवृतकण्ठाः-प्र०ब०। नादानुप्रदानाः-प्र०ब०। घोषवन्तः-प्र०ब०। च-अ०प०। **समासः**—तृतीयाश्च चतुर्थाश्च इति तृतीयचतुर्थाः। हकारश्चानुस्वारश्चेति हकारानुस्वारौ। तृतीयश्च चतुर्थश्चेति तृतीयचतुर्थौ-सर्वत्रेतरेतरद्वन्द्वः। संवृतः कण्ठो येषां ते संवृतकण्ठाः। नादोऽनुप्रदानं=मूलकारणं येषां ते नादानुप्रदानाः-उभयत्र बहुव्रीहिः। घोषोऽस्ति येषां [उच्चारणे], ते घोषवन्तः—तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् (अष्टा० ५.२.९४) इति मतुप्-प्रत्ययः। नासिकायां भवो नासिक्यः—शरीरावयवाच्च (अष्टा० ४.३.५५) इति यत्प्रत्ययः। **अर्थः**—(वर्गाणाम्) कवर्ग-चवर्ग-टवर्ग-तवर्ग-पवर्गाणाम् (तृतीयचतुर्थाः) तृतीयसंज्ञा ग-ज-ड-द-बाश्चतुर्थसंज्ञाश्च घ-झ-ढ-ध-भाः (अन्तस्थाः) अन्तस्थसंज्ञका य-र-ल-वाः (हकारानुस्वारौ) हकारः अनुस्वारः (अं) च (यमौ च तृतीयचतुर्थौ) तथा च 'गुँ' इति तृतीययमः, 'घुँ' इति च चतुर्थयमः (नासिक्यः च) हुँ इति नासिक्यसंज्ञको वर्णश्च (संवृतकण्ठाः) संवृतकाकलप्रभवाः (नादानुप्रदानाः) नादजन्याः (घोषवन्तः च) घोषध्वनियुक्ताः। एते त्रयो बाह्ययत्नाः सन्ति ग-ज-आदीनां वर्णानामिति यावत्।

भाषार्थ—(वर्गाणाम्) कवर्ग आदि पाँचों वर्गों के (तृतीयचतुर्थाः) तृतीय वर्ण ग्, ज्, ड्, द् और ब् एवं चतुर्थ वर्ण घ्, झ्, ढ्, ध् और भ् (अन्तस्थाः) अन्तस्थ संज्ञक य्, र्, ल् और व् (हकारानुस्वारौ) हकार तथा अनुस्वार [अं] वर्ण (यमौ च तृतीयचतुर्थौ) तृतीय संज्ञक यम 'गुँ' एवं चतुर्थ संज्ञक यम 'घुँ' (च) और (नासिक्यः) नासिक्य संज्ञक 'हुँ' वर्ण (संवृतकण्ठाः) संवृत काकलक से उत्पन्न होने वाले हैं (नादानुप्रदानाः) प्रधान रूप से नादध्वनि से उत्पन्न होने वाले हैं (च) और (घोषवन्तः) घोषवान् हैं। अर्थात् उक्त सभी वर्ण इन तीनों बाह्ययत्नों से युक्त हैं।

विशेष—जब स्वरयन्त्र का मुख (कण्ठ) संकुचित अर्थात् अपेक्षाकृत कम खुलता है, उस स्थिति में उच्चरित वर्ण संवृतकण्ठ कहलाते हैं। स्वरयन्त्र के कम खुलने के कारण बाहर निकलने वाली वायु का घर्षण अपेक्षाकृत अधिक होता है। फलतः स्वरयन्त्र के ओष्ठों में कम्पन अधिक होता है। जिससे नाद अधिक मात्रा में उत्पन्न होता है। इस नाद से उत्पन्न वर्णों को नादानुप्रदान कहते हैं। यद्यपि यहाँ नाद के साथ श्वास भी है, पुनरपि नाद के आधिक्य के कारण छत्रिन्याय वा मल्लग्रामन्याय के समान इन्हें नादानुप्रदान ही कहते हैं। नाद की अधिकता के कारण वर्ण के उच्चरित

होने के बाद भी एक गम्भीर ध्वनि नि:सृत होती है, जिसे घोष कहते हैं। इस ध्वनि से युक्त वर्णों को घोषवान् कहते हैं।

५. वर्ग्ययमानां तृतीया अन्तस्थाश्चाल्पप्राणा इतरे सर्वे महाप्राणाः।

वर्ग्ययमानाम्-ष०ब०।तृतीया:-प्र०ब०।अन्तस्था:-प्र०ब०।च-अ०प०। अल्पप्राणा:-प्र०ब०।इतरे-प्र०ब०।सर्वे—प्र०ब०।महाप्राणा:-प्र०ब०।वर्गे भवा: वर्ग्या:-दिगादिभ्यो यत् (अष्टा० ४.३.५४) इति यत्प्रत्ययः।**समासः**— वर्ग्याश्च यमाश्चेति वर्ग्ययमा:, तेषां वर्ग्ययमानाम्—इतरेतरद्वन्द्वः। अल्पः प्राणो येषां त अल्पप्राणा:।महान् प्राणो येषां ते महाप्राणा:-उभयत्र बहुव्रीहिः। **अर्थः**—(वर्ग्ययमानाम्) वर्ग्येषु=वर्गस्थवर्णेषु यमेषु=यमसंज्ञक-वर्णेषु च (तृतीया:) ग-ज-ड-द-बा: 'गुँ' इति च तृतीयसंज्ञका: (अन्तस्था:) अन्तस्थसंज्ञका य-र-ल-वा: (च) च (अल्पप्राणा:) अल्पप्राणवन्त:, अल्पप्राणोद्भवा इति यावत्।(इतरे) पूर्वसूत्रोक्ता: तृतीयान्तस्थातिरिक्ता: घ-झ-ढ-ध-भा: 'घुँ' इति च चतुर्थसंज्ञका: तथा च हकारानुस्वारनासिक्या इत्येते (सर्वे) सर्वे वर्णा: (महाप्राणा:) महाप्राणवन्त:।

भाषार्थ—(वर्ग्ययमानाम्) वर्गस्थ वर्णों और यमसंज्ञक वर्णों में से (तृतीया:) तृतीयसंज्ञक ग्, ज्, ड्, द्, ब् एवं 'गुँ' वर्ण (च) तथैव (अन्तस्था:) अन्तस्थ संज्ञक य्, र्, ल्, व् वर्ण (अल्पप्राणा:) अल्पप्राण यत्नवाले हैं।(इतरे) पूर्वसूत्र में वर्णित तृतीय वर्णों और अन्तस्थों से भिन्न चतुर्थसंज्ञक वर्ण घ्, झ्, ढ्, ध्, भ् एवं घुँ तथा हकार, अनुस्वार और नासिक्य वर्ण, ये (सर्वे) सभी (महाप्राणा:) महाप्राणयत्नवाले हैं।

६. यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः।

यथा-अ०प०। तृतीया:-प्र०ब०। तथा-अ०प०। पञ्चमा:-प्र०ब०। **अर्थः**—(तृतीया:) ग-ज-ड-द-बा: (यथा) यादृशा बाह्ययत्नवन्त: (पञ्चमा:) ङ-ञ-ण-न-मा: अपि (तथा) तादृशा एव अर्थात् संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तोऽल्पप्राणाश्च भवन्तीति ज्ञेयम्।

भाषार्थ—(तृतीया:) ग्, ज्, ड्, द्, ब् ये तृतीयसंज्ञक वर्ण (यथा) जिस प्रकार के बाह्ययत्नवाले हैं, (पञ्चमा:) ङ्, ञ्, ण्, न्, म् ये पञ्चम वर्ण भी (तथा) उसी प्रकार के बाह्ययत्नवाले हैं अर्थात् ये भी संवृतकण्ठ, नादानुप्रदान, घोषवान् और अल्पप्राण वाले हैं।

७. आनुनासिक्यमेषामधिको गुणः।

आनुनासिक्यम्-प्र०ए०। एषाम्-ष०ब०। अधिक:-प्र०ए०। गुण:-प्र०ए०। अनुनासिकस्य भाव आनुनासिक्यम्। 'पञ्चमा:' इत्यनुवर्तते, षष्ठ्यन्तेन च विपरिणम्यते। **अर्थः**—(एषाम्) उक्तानां पञ्चमवर्णानां [तृतीयेभ्य:] (आनुनासिक्यम्) अनुनासिकता (गुण:) बाह्ययत्नत्वरूपो गुण: (अधिक:) अतिरिक्तो विद्यते।

भाषार्थ—(एषाम्) पूर्वसूत्रोक्त पञ्चम वर्णों का [तृतीय वर्णों की अपेक्षा] (आनुनासिक्यम्) अनुनासिकता (गुण:) बाह्ययत्नत्व रूप गुण [धर्म] (अधिक:) अधिक है।

विशेष—मुख एवं नासिका स्थान से उच्चार्यमाण वर्णों को अनुनासिक कहते हैं—'**मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः**' (अष्टा० १.१.८)। इन दोनों के धर्म व गुण को ही आनुनासिक्य, अनुनासिकता कहते हैं। परन्तु मुखप्रयत्न आभ्यन्तरप्रयत्न के रूप में स्वीकृत होने से यहां अर्थात् इस बाह्ययत्नप्रकरण में आनुनासिक्य शब्द से केवल नासिका के यत्न (गुण वा धर्म) का ही ग्रहण करना चाहिये। जो कि बाह्ययत्न है। क्योंकि '**ओष्ठात् प्रभृति प्राक्काकलकात्**' (महा०भा० १.१.९) अर्थात् ओष्ठ से लेकर काकलक तक के भाग को आस्य (मुख) कहते हैं। इस मुख भाग से भिन्न भागों (अवयवों) में होने वाला यत्न 'बाह्ययत्न' कहलाता है। तो नासिका मुख (आस्य) क्षेत्र से भिन्न होने[१] के कारण नासिका देशीय यत्न भी बाह्ययत्न कहलाता है।

इस सूत्र का अर्थ 'पञ्चम वर्णों का स्व स्थान की अपेक्षा से नासिका स्थान अधिक है' ऐसा समझना उचित न होगा। क्योंकि यहां बाह्ययत्नों का प्रकरण चल रहा है। उसमें स्थानधर्मों का उल्लेख करना कदापि उचित नहीं हो सकता। अत: इस सूत्र से नासिका के यत्न का ग्रहण करना ही युक्ततर होगा, जैसा कि ऊपर लिखा गया है। परन्तु शुद्ध नासिक्य (अनुस्वार, यम) वर्णों के नासिक्यत्व रूप बाह्ययत्न का उल्लेख कहीं किया नहीं गया। अत: उसका भी उपसंख्यान कर लेना चाहिए।

१. यद्यपि भर्तृहरि और कैयट ने 'नासिका' को 'आस्य' के अन्तर्गत ही माना है। पुनरपि इस मत के पाणिनि एवं पतञ्जलि के आशय के विपरीत होने से नागेशादि ने उसका खण्डन किया है। इसके लिए जिज्ञासु 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' (अष्टा० १.१.९) के प्रदीप तथा उद्योत ग्रन्थों को देखें।

८. कादयो मावसानाः स्पर्शाः।

कादयः-प्र०ब०। मावसानाः-प्र०ब०। स्पर्शाः-प्र०ब०। **समासः**—कः आदिर्येषां ते कादयः। मः अवसानं येषाम्, मः अवसाने विद्यते येषां वेति मावसानाः-उभयत्र बहुव्रीहिः। **अर्थः**—(कादयः) ककारात् प्रभृति (मावसानाः) मकारपर्यन्तं विद्यमानास्सर्वे पञ्चविंशतिः वर्णाः (स्पर्शाः) स्पर्शाख्या ज्ञेयाः।

भाषार्थ—(कादयः) ककार से लेकर (मावसानाः) मकार पर्यन्त के सभी २५ वर्ण (स्पर्शाः) स्पर्श संज्ञक हैं।

विशेष—बाह्ययत्न के प्रकरण में इस संज्ञाकरण का कोई विशेष प्रयोजन नहीं दीखता, जबकि स्पृष्टयत्न आभ्यन्तर प्रयत्न है। हाँ! '**सस्थानेन द्वितीयाः**', '**हकारेण चतुर्थाः**' (४.११.१२) सूत्रों से ऊष्म वर्णों का स्पर्श वर्णों के साथ सावर्ण्य बताने के लिए, उससे पूर्व ऊष्म और स्पर्श का संज्ञाकरण किया गया प्रतीत होता है। वैसे ही प्रकरणतः अन्तस्थों का भी संज्ञाकरण किया गया है। परन्तु इनका तो यहाँ नितान्त ही प्रयोजनाभाव है।

९. यादयोऽन्तस्थाः।

यादयः-प्र०ब०। अन्तस्थाः-प्र०ब०। **समासः**—य आदिर्येषां ते यादयः-बहुव्रीहिः। **अर्थः**-(यादयः) य-र-ल-वा इति यकारादयः (अन्तस्थाः) अन्तस्थसंज्ञाः सन्ति।

भाषार्थ—(यादयः) य्, र्, ल्, व् ये यकारादि वर्ण (अन्तस्थाः) अन्तस्थ संज्ञक हैं।

१०. शादय ऊष्माणः।

शादयः-प्र०ब०। ऊष्माणः-प्र०ब०। **समासः**—श आदिर्येषां ते शादयः-बहुव्रीहिः। **अर्थः**—(शादयः) श-ष-स-हा वर्णाः (ऊष्माणः) ऊष्माख्याः सन्ति।

भाषार्थ—(शादयः) श्, ष्, स्, ह् वर्ण (ऊष्माणः) ऊष्मसंज्ञक हैं।

विशेष—अन्तस्थ और ऊष्म संज्ञाओं के विशेष विवरण हेतु द्रष्टव्य पारिभाषिक शब्द-१७, १६।

११. सस्थानेन द्वितीयाः।

सस्थानेन-तृ०ए०। द्वितीयाः-प्र०ब०। **समासः**-समानं स्थानं यस्य सः

ऊष्मसंज्ञकवर्णः सस्थानः=तुल्यः, तेन सस्थानेन। 'इत्थम्भूतलक्षणे' (अष्टा० २.३.२१) इत्यनेन तृतीयाविभक्तिः।[1] तुल्ययोगे वा तृतीया। **अर्थः**—(सस्थानेन) समानस्थानेन ऊष्मणा वर्णेन (द्वितीयाः) ख-छ-ठ-थ-फा ऊष्मतया लक्ष्यन्ते, तत्सदृशत्वात्।[2] ह-श-ष-साः ख-छ- आदीनां द्वितीयानां सस्थानाः, यथा ते ऊष्माणः तथैव द्वितीया अपीति भावः। उभयोस्तुल्यत्वं सोष्मत्वम्।

भाषार्थ—(सस्थानेन) ऊष्मत्व को प्राप्त किये हुये श-आदि ऊष्म वर्णों से (द्वितीयाः) ख्, छ्, ठ्, थ्, फ् ये वर्ण भी ऊष्म वर्ण के रूप में लक्षित होते हैं। अर्थात् श्-आदि जिस प्रकार ऊष्म बाह्ययत्न वाले हैं, वैसे ही ख् आदि द्वितीय वर्ण भी ऊष्म बाह्ययत्न वाले हैं।

विशेष—पूर्वसूत्र से श्, ष्, स्, ह् वर्णों को ऊष्मत्व प्राप्त हुआ। इस ऊष्मत्व रूप प्रकार विशेषता को प्राप्त किये हुए शादि वर्णों से ख्-आदि द्वितीय वर्णों का भी ऊष्मत्व लक्षित होता है। अर्थात् ख्-आदि द्वितीय वर्णों का ऊष्मत्व समानस्थान वाले ऊष्म वर्ण के तुल्य होगा। यथा-कण्ठ्य खकार का सस्थान ऊष्म वर्ण कण्ठ्य हकार है, तालव्य छकार का सस्थान ऊष्म वर्ण तालव्य शकार है, मूर्धन्य ठकार का सस्थान ऊष्म वर्ण मूर्धन्य षकार है और दन्त्य थकार का सस्थान ऊष्म वर्ण दन्त्य सकार है। फकार का सस्थान ऊष्मवर्ण नहीं है। अतः उस फकार का ऊष्मत्व विशेषतया वक्तव्य है।[3]

म०म०श्री युधिष्ठिर जी मीमांसक ने इस सूत्र का व्याख्यान इस प्रकार किया है—''जिन आचार्यों की 'सस्थान' संज्ञा थी, उनके यहाँ ऊष्मवर्णों का पाठक्रम '≍जिह्वामूलीय, श, ष, स, ≍उपध्मानीय, ह, : विसर्ग' ऐसा था। इसी क्रम का आश्रयण करके आपिशलि [४.९,१०] और पाणिनि [४.११, १२] ने अपने शिक्षाग्रन्थ के चतुर्थ प्रकरण में लिखा है—सस्थानेन द्वितीयाः, हकारेण चतुर्थाः। अर्थात् कवर्गादि के द्वितीय वर्ण सस्थान=अपने

---

१. अयं प्रकारः-इत्थम्, तं प्रकारविशेषं भूतः=प्राप्तः-इत्थम्भूतः। लक्षणम्=ज्ञापकम्। प्रकारविशेषं प्राप्तस्य ज्ञापके=सम्बन्धे द्योत्ये तृतीया स्यादिति तदर्थः। पूर्वसूत्रे शादीनां सोष्मत्वं विहितम्। सोष्मत्वरूपप्रकारविशेषं प्राप्तानां शादीनां लक्षणे द्योत्ये तृतीया जातेति लक्षणसमन्वयः।

२. पूर्वसूत्रमनुवर्त्य षष्ठ्यन्तेन च विपरिणम्यैवमप्यर्थः कर्तुं शक्यते यत् 'शादीनाम् ऊष्मणां सस्थानेन=तुल्यत्वेन द्वितीया लक्ष्यन्ते=ज्ञायन्त इति।

३. द्रष्टव्य-न्यास और पदमञ्जरी (१.१.५०)।

समान स्थान वाले ऊष्म वर्ण के महाप्राण से युक्त होते हैं और चतुर्थ वर्ण हकार के महाप्राण से'' [द्र०म०भा० २.४.५४, वार्तिक ८, पृ० ४३९]। यहाँ महाप्राण शब्द का तात्पर्य सोष्मत्व में समझना चाहिये।

१२. हकारेण चतुर्थाः।

हकारेण-तृ०ए०। चतुर्थाः-प्र०ब०। इहापि पूर्ववद् इत्थम्भूतलक्षणे तृतीया, तुल्यार्थयोगे वा। **अर्थः**—(हकारेण) ऊष्मत्वप्रकारविशेषभूतहवर्णेन (चतुर्थाः) कवर्गादीनां घकारादयश्चतुर्थवर्णाः सोष्मत्वेन लक्ष्यन्ते। यथा हकार ऊष्मा, तथैव चतुर्था इति यावत्। पूर्वसूत्रापवादोऽयम्।

भाषार्थ—(हकारेण) ऊष्मत्वरूप प्रकार विशेषता को प्राप्त किये हुये हवर्ण के द्वारा (चतुर्थाः) कवर्ग आदियों के घकारादि चतुर्थ वर्ण सोष्म प्रतीत=लक्षित होते हैं। अर्थात् हकार जैसा सोष्म है, वैसे ही चतुर्थ वर्ण भी सोष्म हैं। यह पूर्वसूत्र का अपवाद है।

१३. इत्येष बाह्यः प्रयत्नः।

इति-अ०प०। एषः-प्र०ए०। बाह्यः-प्र०ए०। प्रयत्नः-प्र०ए०। **अर्थः**—(एषः) अनुपदमेव प्रतिपादित एषः (बाह्यः) आस्यप्रयत्नभिन्नो बाह्यः (प्रयत्नः) यत्नः (इति) एवं प्रकारेण समाप्तिमगात्।

भाषार्थ—(एषः) अनुपद ही प्रतिपादित यह (बाह्यः) आस्यप्रयत्न से भिन्न बाह्य (प्रयत्नः) यत्न (इति) इस प्रकार समाप्त हो गया है।

॥ इति चतुर्थं बाह्ययत्नप्रकरणम् ॥

वाणी की महिमा

पतिर्वाचो अदाभ्यः —साम० १२८५

वाणी का स्वामी अजेय होता है।

••●••

गोसनिं वाचमुदेयम् —अथर्व० ३.२०.१०

गो-दूध जैसी मीठी वाणी बोलूँ।

५. अथ पञ्चमं स्थानप्रपीडनप्रकरणम्

द्विविध प्रयत्नों के निरूपण के उपरान्त अब '**स्थानमिदं**.......' (३) श्लोक में प्रतिज्ञात '**अनिलः स्थानं प्रपीडयति**' अर्थात् वर्णोत्पत्ति में वायु तत्तद् स्थानों में किस प्रकार आघात करता है? इस विषय के प्रतिपादक प्रकरण को प्रारम्भ करते हैं।

१. तत्र स्पर्शयमवर्णकारो वायुरयःपिण्डवत् स्थानमभि-पीडयति।

तत्र-अ०प०। स्पर्शयमवर्णकारः-प्र०ए०। वायुः-प्र०ए०। अयःपिण्ड-वत्-अ०प०। स्थानम्-द्वि०ए०। अभिपीडयति-क्रि०प०। **समासः**—स्पर्शाश्च यमाश्चेति स्पर्शयमाः-इतरेतरद्वन्द्वः। स्पर्शयमाश्च ते वर्णाश्चेति स्पर्शयमवर्णाः-कर्मधारयतत्पुरुषः। तान् स्पर्शयमवर्णान् करोति=उत्पादयतीति स्पर्शयम-वर्णकारः-उपपदतत्पुरुषः। कर्मण्यण् (अष्टा० ३.२.१) इत्यण्। अयसः पिण्डम्-अयःपिण्डम्-षष्ठीतत्पुरुषः। अयःपिण्डेन तुल्यम् आघातक्रिया अयःपिण्डवत्—'तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः' (अष्टा० ५.१.११४) इति वतिप्रत्ययः। **अर्थः**—(तत्र) वर्णोत्पादनार्थं क्रियमाणे प्रयत्ने (स्पर्शयम-वर्णकारः) स्पर्शाख्यानां पञ्चविंशतिवर्णानां चतुर्णाञ्च यमानाम् उत्पादकः (वायुः) प्रयत्नप्रेरित ऊर्ध्वं चरन् वायुः (स्थानम्) कण्ठादि-वर्णोच्चारणस्थानम् (अयःपिण्डवत्) लोहगोलकवत् (अभिपीडयति) आहन्ति। करप्रेरिता-योगोलकं कुड्यादिषु यथाघातं करोति तथैव वायुरपि स्पर्शयमानामुच्चारणे तत्तत्स्थान आघातं करोति इति यावद्।

भाषार्थ—(तत्र) वर्णों की उत्पत्ति के लिए क्रियमाण प्रयत्न में (स्पर्श-यमवर्णकारः) स्पर्श संज्ञक पच्चीस वर्णों का और चार यमों का उत्पादक (वायुः) प्रयत्नप्रेरित एवं ऊपर [मुख] की ओर उठता हुआ वायु (स्थानम्) कण्ठादि वर्णोच्चारणस्थान को (अयःपिण्डवत्) लोहे के गोले के समान (अभिपीडयति) आघात करता है। अर्थात् हाथ से फेंका हुआ लोहे का पिण्ड दीवारादि में जिस प्रकार का तीव्र आघात करता है, उस जैसा ही आघात वायु भी स्पर्श तथा यमों के उच्चारण में उस-उस स्थान में करता है।

विशेष—प्रकरण के आदि में 'तत्र' (उस में) शब्द के प्रयोग से उसके अर्थ में सन्देह होता है कि 'किस में'? इस प्रकार के सन्देहों की निवृत्ति के लिए तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (१.२५) में कहा गया है कि '**आसन्नं सन्देहे**'। सर्वनाम आदि शब्दों के अर्थ में सन्देह होने पर समीपवर्त्ती अर्थात् व्यवधान रहित पूर्व में विद्यमान विषय का ग्रहण करना चाहिये। यहाँ प्रकृत सूत्र से पूर्व द्विविध यत्न का विषय कथित है। अतः यहाँ 'तत्र' शब्द से उसी विषय का ग्रहण होगा। फलतः 'तत्र' का अर्थ होगा 'उस प्रयत्न में'। इस 'तत्र' शब्द के प्रयोग से यहाँ यह भी प्रतीत होता है कि यह पञ्चम प्रकरण भिन्न विषयक होता हुआ भी प्रयत्न विषयक ही है। अर्थात् यह प्रकरण भी प्रयत्न विषय के अन्तर्गत ही माना जायेगा।[१] इसीलिये पाणिनीय शिक्षा के लघुपाठ में इस प्रकरण के अन्त में '**उक्ताः स्थानकरणप्रयत्नाः**' (५.४) सूत्र मिलता है। जिससे स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि प्रयत्न विषय पञ्चम प्रकरण के अन्त में समाप्त होता है। इस वृद्धपाठ में भी वह सूत्र अपेक्षित है। स्थानों में वायु का अभिघात आस्य में ही होता है, अतः इस स्थानप्रपीडनप्रकरण को आभ्यन्तर प्रयत्न के रूप में मान सकते हैं।

२. अन्तस्थवर्णकारो वायुर्दारुपिण्डवत्।

अन्तस्थवर्णकारः-प्र०ए०। वायुः-प्र०ए०। दारुपिण्डवत्-अ०प०। **समासः**—अन्तस्थाश्च ते वर्णाश्चेति अन्तस्थवर्णाः कर्मधारयतत्पुरुषः। तान् करोतीत्यन्तस्थवर्णकारः-उपपदतत्पुरुषः। कर्मण्यण् (अष्टा० ३.२.१) इत्यण्। दारुणः पिण्डं दारुपिण्डम्-षष्ठीतत्पुरुषः। दारुपिण्डेन तुल्यम् आघातक्रियेति दारुपिण्डवत्-तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः (अष्टा० ५.१.११४) इति वतिप्रत्ययः। 'तत्र', 'स्थानम्', 'अभिपीडयति' इति चानुवर्तन्ते। **अर्थः**—(तत्र) अन्तस्थवर्णोत्पत्त्यर्थं क्रियमाणे यत्ने (अन्तस्थवर्णकारः) अन्तस्थाख्यानां य-र-ल-वानां वर्णानां जनकः (वायुः) फुप्फुसात् मुखं प्रत्यागच्छन् वायुः (स्थानम्) यकारादीनामुच्चारणस्थानम् (दारुपिण्डवत् अभिपीडयति) हस्तप्रक्षिप्तदारुपिण्डं भित्त्यादिकं यथाहन्ति तथाहन्ति।

भाषार्थ—(तत्र) अन्तस्थवर्णों की उत्पत्ति के लिए किये जानेवाले यत्न में (अन्तस्थवर्णकारः) अन्तस्थ संज्ञक य, र, ल, व वर्णों का जनक (वायुः) फेफड़े से मुख की ओर आनेवाला वायु (स्थानम्) यकारादि के उच्चारण स्थान (ताल्वादि) को (दारुपिण्डवत् अभिपीडयति) वैसे ही आघात करता है, जैसे कि हाथ से फेंका हुआ लकड़ी का गोला दीवारादि में आघात करता है।

३. ऊष्मस्वरवर्णकारो वायुरूर्णापिण्डवत्।

ऊष्मस्वरवर्णकारः-प्र०ए०। वायुः-प्र०ए०। ऊर्णापिण्डवत्-अ०प०। **समासः**—ऊष्माणश्च स्वराश्चेति ऊष्मस्वराः-इतरेतरद्वन्द्वः। ऊष्मस्वराश्च ते वर्णाश्चेति ऊष्मस्वरवर्णाः-कर्मधारयतत्पुरुषः। तान् ऊष्मस्वरवर्णान् करोतीत्यूष्मस्वरवर्णकारः-उपपदतत्पुरुषः। कर्मण्यण् (अष्टा० ३.२.१) इत्यण्। ऊर्णायाः पिण्डम् ऊर्णापिण्डम्-षष्ठीतत्पुरुषः। ऊर्णापिण्डेन तुल्यम् आहननम् इति ऊर्णापिण्डवत्-तेन तुल्यं० (अष्टा० ५.१.११४) इति वतिप्रत्ययः। 'तत्र' 'स्थानम्' 'अभिपीडयति' इति चानुवर्तन्ते। **अर्थः**—(तत्र) ऊष्मणः स्वरांश्चोच्चारयितुं क्रियमाणे यत्ने (ऊष्मस्वरवर्णकारः) ऊष्मस्वरवर्णानुकूलः (वायुः) मुखदेशं प्राप्तो वायुः (स्थानम्) ऊष्मस्वरवर्णानां कृत अनुकूलितं स्थानम् (अभिपीडयति) तथाघातं विदधाति (ऊर्णापिण्डवत्) यथा ऊर्णासंघातः।

भाषार्थ—(तत्र) ऊष्म और स्वर वर्णों को उच्चारित करने के लिए क्रियमाण यत्न में (ऊष्मस्वरवर्णकारः) ऊष्म एवं स्वर वर्णों के लिए अनुकूल= उपयुक्त (वायुः) मुख में आगत वायु (स्थानम्) ऊष्म तथा स्वर वर्णों के लिए अनुकूलित स्थान को (अभिपीडयति) वैसे ही आघात करता है; (ऊर्णापिण्डवत्) जैसे ऊन का गोला करता है।

विशेष—प्रकृत सूत्र के बाद अर्थात् इस प्रकरण के अन्त में पाणिनीय शिक्षा के लघुपाठ में '**उक्ताः स्थानकरणप्रयत्नाः**' सूत्रपाठ मिलता है। जो कि यहाँ भी अपेक्षित है।

॥ इति पञ्चमं स्थानप्रपीडनप्रकरणम्॥

---

१. 'किं पुनरास्ये भवम्? स्थानं करणं च' (म०भा०१.१.९) की व्याख्या करते हुए नागेश ने लिखा है कि 'करणपदेन वायुसंयोगोऽपि' (उद्योतः-तत्रैव)। अर्थात् करण पद से वायु का संयोग [आघात] भी 'आस्ये भवम्' है। इससे स्पष्ट है कि भाष्यकार भी वायुसंयोग को आस्य में होनेवाला यत्न (आभ्यान्तर प्रयत्न) मानते हैं।

६. अथ षष्ठं वृत्तिकारप्रकरणम्

'**अनिलः स्थानं प्रपीडयति**' प्रकरण की समाप्ति के पश्चात् अब क्रमप्राप्त '**वृत्तिकार**' प्रकरण को आरम्भ करते हैं। वृत्तिकाराः=काल-प्रमाणकारा अर्थात् काल को वर्णों का भेदक मानने वाले आचार्य। उन सब का मत यहाँ प्रदर्शित किया जा रहा है।[1] यह मत पाणिनि को भी अभीष्ट है।

१. एवं व्याख्याने वृत्तिकाराः पठन्ति-अष्टादशप्रभेदम-वर्णकुलमिति। तत् कथमुक्तम्।

एवम्-अ०प०। व्याख्याने-स०ए०। वृत्तिकाराः-प्र०ब०। पठन्ति-क्रि०प०। अष्टादशप्रभेदम्-प्र०ए०। अवर्णकुलम्-प्र०ए०। इति-अ०प०। तत्-प्र०ए०। कथम्-अ०प०। उक्तम्-प्र०ए०। **समासः**—वृत्तिं कुर्वन्तीति वृत्तिकाराः उपपदतत्पुरुषः। अष्टादश प्रभेदाः सन्ति यस्य तद् अष्टादशप्रभेदम्-बहुव्रीहिः। अश्चासौ वर्णश्चेति अवर्णः-कर्मधारयः। अवर्णस्य कुलम् इति अवर्णकुलम्-कर्मधारयगर्भषष्ठीतत्पुरुषः। **अर्थः**—(वृत्तिकाराः) वृत्त्या कालेन[1] वर्णभेदो भवतीति मन्यमाना आचार्याः (व्याख्याने) स्व-स्व व्याख्यानेषु (एवम्) इत्थम् (पठन्ति) वर्णयन्ति, यद् (अवर्णकुलम्) अवर्णसमूहः (अष्टादशप्रभेदम्) अष्टादशप्रभेदात्मकः (इति) एवम्। (तत्) तदष्टादशप्रभेदम् (कथम्) कथं भवतीति जिज्ञासायाम् (उक्तम्) गदितम् यद्—

भाषार्थ—(वृत्तिकाराः) मात्रादि कालभेद से वर्णभेद होता है, ऐसा मानने वाले आचार्य (व्याख्याने) अपने-अपने व्याख्यानों में (एवम्) इस प्रकार (पठन्ति) वर्णन करते हैं कि (अवर्णकुलम्) अवर्ण की जाति (अष्टादशप्रभेदम्) अठारह प्रकार की है (इति) ऐसा। (तत्) वह अठारह प्रकार का प्रभेद (कथम्) कैसा होता है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर (उक्तम्) कहा है कि—

१. अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम्। शिष्याणामुपदेशार्थं कुर्याद् वृत्तिं विलम्बिताम् (या०शि० ५४)॥ यहाँ कालपरिमाण विशेषों के लिए वृत्तिशब्द का प्रयोग किया गया है। प्रकृत प्रसंग में ह्रस्वादि कालप्रमाणों के लिए वृत्तिशब्द का प्रयोग है। अपि च द्रष्टव्य "वृत्तिपृथक्त्वं तु नोपपद्यते" (महाभाष्यम् १.१.६९)।

२. ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च त्रैस्वर्योपनयेन च। आनुनासिक्य-भेदाच्च संख्यातोऽष्टादशात्मकः॥ इति॥

ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वात्-पं०ए०। च-अ०प०। त्रैस्वर्योपनयेन-तृ०ए०। च-अ०प०। आनुनासिक्यभेदात्-पं०ए०। च-अ०प०। संख्यातः-अ०प०। अष्टादशात्मकः-प्र०ए०। इति-अ०प०। **समासः**—ह्रस्वश्च दीर्घश्च प्लुतश्च इति ह्रस्वदीर्घप्लुताः-इतरेतरद्वन्द्वः। तेषां भावो ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वम्। तस्माद् ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाद्। त्रयश्च ते स्वराश्चेति त्रिस्वराः-कर्मधारयः। त्रिस्वरा एव त्रैस्वर्यमिति स्वार्थे ष्यञ्। त्रैस्वर्यस्य उपनयः-त्रैस्वर्योपनयः, तेन त्रैस्वर्योपनयेन-षष्ठीतत्पुरुषः। अनुनासिकस्य भावः-आनुनासिक्यम्। तस्य भेद इति आनु-नासिक्यभेदः, तस्मात् आनुनासिक्यभेदात्-षष्ठीतत्पुरुषः। **अर्थः**—(ह्रस्व-दीर्घप्लुतत्वात्) अ, आ, अ३ इति ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत-भेदेन त्रिरात्मकोऽवर्णः। तत्रापि प्रत्येकं (त्रैस्वर्योपनयेन) उदात्तानुदात्तस्वरितैर्युक्तत्वात् नवात्मकोऽ-वर्णः। पुनश्च प्रत्येकं (आनुनासिक्यभेदात्) निरनुनासिकसानुनासिकभेदेन (अष्टादशात्मकः) अष्टादशात्मोऽवर्ण इति अवर्णः (संख्यातः) परिगणितो ज्ञेयः।

भाषार्थ—अवर्ण (ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वात्) अ, आ, अ३ इस प्रकार ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत भेद से तीन प्रकार का है और उनमें प्रत्येक वर्ण का (त्रैस्वर्योपनयेन) उदात्त, अनुदात्त, स्वरित का भेद होने से अवर्ण नौ प्रकार का होता है। उनमें भी प्रत्येक वर्ण (आनुनासिक्यभेदात्) निरनुनासिक, सानुनासिक भेद से विभक्त होकर (अष्टादशात्मकः) अवर्ण अठारह प्रकार का होता है, इस प्रकार अवर्ण (संख्यातः) परिगणित है, ऐसा जानना चाहिये।

विशेष—ये सम्पूर्ण भेद तीन प्रकार से विभक्त हैं। जैसे—

१. कालकृतभेद—**ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः** (अष्टा० १.२.२७)।

२. स्थानभागकृतभेद—**उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः, समाहारः स्वरितः** (अष्टा० १.२.२९-३१)

३. नासिकाकृतभेद—**मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः** (अष्टा० १.१.८)

स्पष्टता के लिए इन सम्पूर्ण भेदों को निम्न प्रस्तार में दिखाते हैं—

	उदात्त		अनुदात्त		स्वरित	
	निरनु०	सानु०	निरनु०	सानु०	निरनु०	सानु०
ह्रस्व	अ	अँ	अ॒	अँ॒	अ॑	अँ॑
दीर्घ	आ	आँ	आ॒	आँ॒	आ॑	आँ॑
प्लुत	अ३	अँ३	अ॒३	अँ॒३	अ॑३	अँ॑३

३. एवमिवर्णादयः।

एवम्-अ०प०। इवर्णादयः-प्र०ब०। समासः—इवर्ण आदिर्येषां त इवर्णादयः—बहुव्रीहिः। **अर्थः**—(एवम्) पूर्वोक्तप्रकारेणैव (इवर्णादयः) इकारादयोऽपि स्वरा अष्टादशप्रभेदाः सन्ति।

भाषार्थ—(एवम्) पूर्वसूत्रोक्त प्रकार के अनुसार ही (इवर्णादयः) इकारादि स्वर भी अठारह-अठारह प्रकार के हैं।[1]

४. लृवर्णस्य दीर्घा न सन्ति।

लृवर्णस्य-ष०ए०। दीर्घाः-प्र०ब०। न-अ०प०। सन्ति-क्रि०प०। **समासः**—लृ चासौ वर्णश्चेति लृवर्णः-कर्मधारयतत्पुरुषः। **अर्थः**—(लृवर्णस्य) लृकारस्य (दीर्घाः) उदात्तादिभेदोपभेदभूता दीर्घवर्णाः (न) नहि (सन्ति) वर्तन्ते।

भाषार्थ—(लृवर्णस्य) लृकार के (दीर्घाः) दीर्घ वर्ण (न) नहीं (सन्ति) होते हैं।

विशेष—"लृवर्ण के दीर्घ नहीं होते हैं" का तात्पर्य निरनुनासिक उदात्त दीर्घ लृवर्ण, सानुनासिक उदात्त दीर्घ लृवर्ण, वैसे ही निरनु० अनुदात्त दीर्घ लृवर्ण, सानु० अनुदात्त दीर्घ लृवर्ण, निरनु० स्वरित दीर्घ लृवर्ण और सानु० स्वरित दीर्घ लृवर्ण, ये छः लृवर्ण नहीं होते हैं। अवशिष्ट लृवर्ण कितने हैं ? यह अग्रिम सूत्र से कहते हैं—

१. उद्योतकार नागेश ने दीर्घ एवं प्लुत ऋकार के सानुनासिक भेदों का प्रयोग न होने से 'ऋ' वर्ण के अठारह (१८) भेदों को चिन्त्य माना है। 'दीर्घप्लुतऋकारस्य..... चानुनासिकस्यादर्शनादिदं चिन्त्यम्' (उद्योत-म०भा० १.१.५०)।

५. तं द्वादशप्रभेदमाचक्षते।

तम्—द्वि०ए०। द्वादशप्रभेदम्-द्वि०ए०। आचक्षते-क्रि०प०। **समासः**—द्वादश प्रभेदाः सन्ति यस्य स द्वादशप्रभेदः, तं द्वादशप्रभेदम्-बहुव्रीहिः। **अर्थः**—(तम्) तम् अदीर्घकम् लृवर्णम् (द्वादशप्रभेदम्) द्वादशविधम् (आचक्षते) वदन्ति।

भाषार्थ—(तम्) दीर्घरहित उस लृवर्ण को (द्वादशप्रभेदम्) बारह प्रकार वाला (आचक्षते) कहते हैं।

विशेष—प्रपूर्वसूत्र में कहा गया था कि इवर्ण आदि सभी स्वरों के १८ भेद होते हैं, परन्तु उसके अपवाद रूप में प्रकृतसूत्र से कहा जा रहा है कि लृवर्ण के १२ भेद ही होते हैं। क्योंकि पूर्वसूत्र में कहा गया है कि लृवर्ण के दीर्घ सम्बन्धित छः वर्ण नहीं होते हैं। तो अठारह प्रकार के भेदोपभेदों में से छः वर्णों के कम हो जाने पर बारह वर्ण (भेद) ही अवशिष्ट रहते हैं। अर्थात् ह्रस्व के छः भेद तथा प्लुत के छः[1]। अष्टम सूत्र में भी इसी प्रकार समझें।

६. यदृच्छाशब्देऽशक्तिजानुकरणे वा यदा दीर्घाः स्युस्त-दाष्टादशप्रभेदं ब्रुवते क्लृपक इति।

यदृच्छाशब्दे-स०ए०। अशक्तिजानुकरणे-स०ए०। वा-अ०प०। यदा-अ०प०। दीर्घाः-प्र०ए०। स्युः-क्रि०प०। तदा-अ०प०। अष्टादशप्रभेदम्-द्वि०ए०। ब्रुवते-क्रि०प०। क्लृपकः-प्र०ए०। इति-अ०प०। ऋच्छनम् इति ऋच्छा-'गुरोश्च हलः' (अष्टा० ३.३.१०३) इति 'ऋच्छ गतीन्द्रियप्रलयमूर्त्तिभावेषु' (तु० १५) धातोः अप्रत्ययः, ततष्टाप् (अष्टा० ४.१.४)। **समासः**—या चासौ ऋच्छा चेति यदृच्छा-विशेषणतत्पुरुषः [कर्मधारयः] (अष्टा० २.१.५६)। यदृच्छया स्वेच्छया उत्पन्नः शब्द इति यदृच्छाशब्दः, तस्मिन् यदृच्छाशब्दे। न शक्तिरित्यशक्तिः-नञ्तत्पुरुषः। अशक्त्या जायत इत्यशक्तिजः-उपपदसमासः। अशक्तिजस्य अनुकरणम् अशक्तिजानुकरणम्, तस्मिन् अशक्तिजानुकरणे-षष्ठीतत्पुरुषः। अष्टादश प्रभेदा विद्यन्ते यस्य स अष्टादशप्रभेदः, तम् अष्टादशप्रभेदम्-बहुव्रीहिः।

अर्थः—(यदृच्छाशब्दे) स्वेच्छयोत्पन्ने शब्दे (वा) अथवा (अशक्ति-

१. प्लुत लृकार के सानुनासिक भेद का प्रयोग न होने से लृवर्ण के द्वादश भेदों को नागेश ने चिन्त्य माना है—'प्लुतलृकारस्य चानुनासिकस्यादर्शनादिदं चिन्त्यम्' (उद्योत-म०भा० १.१.५०)।

जानुकरणे) असामर्थ्यवशाद् जातानामुच्चारितानां वा शब्दानामनुकरणे (यदा) यदा (दीर्घा:) दीर्घलृवर्णाः (स्युः) भवेयुः (तदा) तदानीम् (अष्टादशप्रभेदम्) लृवर्णम् अष्टादशप्रभेदकम् (ब्रुवते) कथयन्ति। यथा-क्लृपक इति।

भाषार्थ—(यदृच्छाशब्दे) स्वेच्छा से, विना प्रवृत्ति निमित्त के उत्पन्न शब्द में (वा) अथवा (अशक्तिजानुकरणे) असामर्थ्यवशाद् उत्पन्न व उच्चरित शब्दों के अनुकरणात्मक शब्दों में (यदा) जब (दीर्घा:) दीर्घलृवर्ण (स्युः) होंगे (तदा) तब (अष्टादशप्रभेदम्) लृवर्ण अठारह प्रकार का होता है, ऐसा आचार्य (ब्रुवते) कहते हैं। जैसे कि—क्लृपक है।

विशेष—अभीष्ट अर्थ को कहने के लिए जिस निमित्त से शब्द की प्रवृत्ति होती है, उसे शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त कहते हैं। जैसे कि—पाठकः, पाचकः आदि शब्दों की प्रवृत्ति का निमित्त पढ़ना, पकाना है। निमित्त के भेद से शब्द भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। वे प्रकार चार हैं—जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा।[१] इनमें से यदृच्छा का उल्लेख यहाँ है। सो केवल उसी का संक्षिप्त विवरण यहाँ लिखते हैं।

'यदृच्छा' का शाब्दिक अर्थ है—स्वेच्छा, स्वतन्त्रता, आकस्मिक संयोग वा घटना आदि। यदृच्छाशब्द उसे कहते हैं—जो किसी प्रवृत्ति निमित्त की अपेक्षा न रखते हुये, किसी क्रिया के सम्बन्ध की विवक्षा न रखते हुये, वक्ता के द्वारा अपनी इच्छा (स्वेच्छा) से किसी व्यक्ति वा वस्तु आदि के लिए प्रयुक्त या संकेतित है। अर्थात् स्वेच्छा से कुछ वर्णों को जोड़कर, किसी पदार्थ के लिये प्रयोग किया हुआ नाम ही 'यदृच्छाशब्द' है।[२] जैसे—डित्थः= काष्ठमयी हस्ती, डवित्थः=चर्ममय मृग और कूची, मञ्ची, टीटु, पिण्टु आदि नाम। ये शब्द रूढ़ होते हैं अर्थात् इनमें प्रकृति और प्रत्यय का विभाग नहीं होता। इसी प्रकार किसी व्यक्तिविशेष का नामभूत 'क्लृपक' शब्द भी यदृच्छा शब्द है। इसमें दीर्घ 'लॄ' वर्ण के प्रयुक्त होने से लृकार अठारह प्रकार का होता है, ऐसा प्रकृत सूत्र से कहा गया है।

अशक्ति अर्थात् अङ्गवैकल्यादिरूप असामर्थ्य[३] से उच्चरित शब्द का

१. चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः-जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः, यदृच्छा-शब्दाश्चतुर्थाः (महाभाष्य-ऋलृक्)।
२. द्र०-'ऋलृक्' सूत्रस्थ न्यास, पदमञ्जरी, महाभाष्य, प्रदीप, उद्योत आदि।
३. साधुशब्दोच्चारणशक्तेरन्या शक्तिः अशक्तिः (न्यासः-ऋलृक्)।

जो अनुकरणात्मक शब्द है, उसे 'अशक्तिजानुकरण' कहते हैं। जैसे किसी का नाम 'ऋतक' है। इसके शुद्ध उच्चारण करने में असमर्थ किसी व्यक्ति ने 'ऋतक' के स्थान पर 'लृतक' का उच्चारण किया है, जिसे 'अशक्तिज' कहते है। इस असाधु शब्द को सुनकर किसी अन्य पुरुष ने उपहास आदि के रूप में कहा कि-यह 'लृतक' ऐसा बोलता है। इस द्वितीय लृतक शब्द को 'अशक्तिजानुकरण' कहते हैं। इसी प्रकार किसी ने 'कृपक' शब्द (नाम) के स्थान पर 'क्लृपक' शब्द का उच्चारण किया और इस अशुद्ध (असाधु) शब्द का अनुकरण करते हुए किसी दूसरे ने बोला कि यह 'कृपक' न बोलकर 'क्लृपक' ऐसा बोल रहा है। यह जो अनुकरणात्मक दूसरा 'क्लृपक' शब्द है, यही अशक्तिजानुकरणशब्द है। इसमें दीर्घ लॄकार का प्रयोग होने से लृवर्ण भी अठारह प्रकार का होता है। इस प्रकार इन दो अवस्थाओं (यदृच्छा एवं अशक्तिजानुकरणों) में लृवर्ण अठारह प्रकार का होता है।

प्रकृतसूत्र में प्रथम व्यक्ति के द्वारा उच्चरित अशक्तिज जो 'क्लृपक' शब्द है, तत्स्थ 'लृवर्ण' का उल्लेख न कर, द्वितीय व्यक्ति के द्वारा उच्चरित अनुकरणात्मक जो 'क्लृपक' शब्द है, उसमें विद्यमान 'लॄ' का ही उल्लेख क्यों किया गया है? इसका समाधान यह है कि व्यक्ति का नाम 'कृपक' था, जो कि उस व्यक्ति का बोधक होने से सार्थक एवं साधु शब्द है। उसके स्थान पर 'क्लृपक' बोला गया है, जो कि अशुद्ध है। यह अशुद्ध 'क्लृपक' शब्द उस व्यक्ति का बोधक नहीं हो सकता, क्योंकि उसका नाम 'क्लृपक' नहीं है। अतः यह निरर्थक व असाधु शब्द है। असाधु शब्दों का शासन शास्त्रों में नहीं होता[१] और न ही उनके असाधुत्व का निवारण किया जाता है। शास्त्रों में तो केवल साधु वा सार्थक शब्दों का ही शासन होता है। जो अनुकरणात्मक दूसरा 'क्लृपक' शब्द है, उसका अर्थ प्रथमोच्चारित अशुद्ध शब्द (ध्वनि) 'क्लृपक' होने से वह सार्थक और साधु शब्द है।[२] अत एव इसी का अर्थात् द्वितीयोच्चारित शब्द का ही सूत्र में उल्लेख किया गया है।

७. सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति।

सन्ध्यक्षराणाम्-ष०ब०। ह्रस्वाः-प्र०ब०। न-अ०प०। सन्ति-क्रि०प०।

अर्थः—(सन्ध्यक्षराणाम्) ए-ऐ-ओ-औ इत्येतेषां सन्ध्यक्षरसंज्ञकानां वर्णानाम्

१. न चापशब्दः प्रकृतिः, न ह्यपशब्दा उपदिश्यन्ते (म०भा० ऋलृक्)।
२. न चापशब्दपदार्थकः शब्दोऽपशब्दो भवति (म०भा० ऋलृक्)।

(ह्रस्वाः) ह्रस्वसंज्ञका वर्णाः (न) नहि (सन्ति) भवन्ति। एतेषां दीर्घप्लुता एव भवन्तीति यावत्।

भाषार्थ—(सन्ध्यक्षराणाम्) ए, ऐ, ओ, औ इन सन्ध्यक्षर संज्ञक वर्णों के (ह्रस्वाः) ह्रस्व संज्ञक वर्ण (न) नहीं (सन्ति) होते हैं। अर्थात् इनके केवल दीर्घ और प्लुत वर्ण ही होते हैं।

८. तान्यपि द्वादशप्रभेदानि।

तानि-प्र०ब०। अपि-अ०प०। द्वादशप्रभेदानि-प्र०ब०। **समासः**—द्वादश प्रभेदाः सन्ति येषां तानि द्वादशप्रभेदानि-बहुव्रीहिः। **अर्थः**—लृवर्णवत् (तानि) सन्ध्यक्षराणि (अपि) च (द्वादशप्रभेदानि) द्वादशप्रकाराणि भवन्ति।

भाषार्थ—लृवर्ण के समान ही (तानि) वे उक्त सन्ध्यक्षर (अपि) भी (द्वादशप्रभेदानि) बारह प्रकार के होते हैं।

९. छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं [च] पठन्ति।

छन्दोगानाम्-ष०ब०। सात्यमुग्रिराणायनीयाः-प्र०ब०। अर्धम्-द्वि०ए०। एकारम्-द्वि०ए०। अर्धम्-द्वि०ए०। ओकारम्-द्वि०ए०। [च-अ०प०]। पठन्ति-क्रि०प०। **समासः**—छन्दांसि गायन्तीति छन्दोगाः-उपपदतत्पुरुषः। सात्यमुग्रिश्चासौ राणायनीयाश्चेति सात्यमुग्रिराणायनीयाः-कर्मधारयः। **अर्थः**—(छन्दोगानाम्) सामगानां मध्ये (सात्यमुग्रिराणायनीयाः) सात्यमुग्रि-राणायनीयसामशाखाया अध्येतारः (अर्धम् एकारम्) ह्रस्वम् एकारम् (अर्धम् ओकारम् च) ह्रस्वमोकारञ्च (पठन्ति) अधीयते।

भाषार्थ—(छन्दोगानाम्) सामवेदियों में जो (सात्यमुग्रिराणायनीयाः) राणायणीय चरण की सात्यमुग्रिशाखा वाले हैं, वें (अर्धम् एकारम्) ह्रस्व एकार एवं (अर्धम् ओकारम् च) ह्रस्व ओकार को भी (पठन्ति) पढ़ते हैं अर्थात् वे मानते हैं।

विशेष—यहाँ छन्दः शब्द से सामवेद का ग्रहण है। महर्षि पतञ्जलि के '**सहस्रवर्त्मा सामवेदः**' (म०भा०पस्पशा०) वचनानुसार सामवेद की १००० शाखायें थीं। जिन में सम्प्रति तीन शाखायें ही उपलब्ध हैं। वे हैं—कौथुम, राणायनीय और जैमिनी। प्रपञ्चहृदय के वेदप्रकरण में सामवेद के १२ शाखाओं (चरणों) के नाम उल्लिखित हैं। वे इस प्रकार हैं—१. तलवकार, २. छन्दोग, ३. शाट्यायन, ४. राणायनि, ५. दुर्वासस, ६. भागुरि,

७. गौः, ८. तलवकारालि, ९. सावर्ण्य, १०. गार्ग्य, ११. वार्षगण्य, १२. औपमन्यव। पुनः राणायनि के कहीं ९ भेद और कहीं ७ भेद मिलते हैं। इन्हीं के अन्तर्गत सात्यमुग्रि शाखा का उल्लेख है।[१] तो सात्यमुग्रिशाखा राणायनि चरण की हुई।[२]

प्रकृत सूत्र के मत को पतञ्जलि ने भी महाभाष्य में उद्धृत किया है—'**ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते—सुजाते एश्व सूनृते, अध्वर्यो ओद्रिभिः सुतम्, शुक्रं ते एन्यद् यजतं ते एन्यद् इति**' (म०भा० एओङ् ऐऔच्)।

ह्रस्व अर्थात् एक मात्रा से न्यून मात्राएँ भी आचार्यों के द्वारा स्वीकृत हैं। जैसे—लोप (-), लेश (१/८), अणु (१/४), द्व्यणुक (१/२), त्र्यणुक (३/४), सार्धत्र्यणुक (७/८), ह्रस्व (१)। द्व्यणुक मात्रा वाले अ और इ, उ के संयोग से क्रमशः ह्रस्व ए, ओ आदि वर्ण बन सकते हैं। जो कि सात्यमुग्रि शाखा वालों के द्वारा स्वीकृत भी हैं। परन्तु यह मत सर्वशाखीय न होने से पाणिनि ने सिद्धान्ततः उसे नहीं माना। इस बात की पुष्टि '**एच इग्घ्रस्वादेशे**' (अष्टा० १.१.४७) सूत्र से भी होती है। क्योंकि यदि ह्रस्व सन्ध्यक्षर मान्य होते तो एच् के स्थान पर उन्हीं का आदेश करते। अर्थात् वे मान्य नहीं हैं, इसीलिये उनके स्थान पर इक् का विधान करना पड़ा। महाभाष्यकार ने भी इस ओर संकेत किया है—'**पार्षदकृतिरेषा तत्रभवताम्। नैव हि लोके नान्य-स्मिन् वेदेऽर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वास्ति।**' (म०भा०एओङ् ऐऔच्)। अर्थात् सन्ध्यक्षरों का ह्रस्वत्व मानना केवल आप सात्यमुग्रियों का मत है। न हि वे लोक में[३] और न ही अन्य किसी वेद में हैं। अर्थात् वे मान्य नहीं है।

पाणिनि का शास्त्र सर्वशाखीय है, वह किसी एक शाखा वा चरण से सम्बन्ध नहीं रखता। कहा भी गया है—'**सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्**' (म०भा० ६.३.१४)। इसीलिये पाणिनि के शिक्षा और व्याकरण शास्त्रों को ही वेदाङ्ग के रूप में स्वीकार किया गया है।

१. द्र०-वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-१, अध्याय-१०, भगवद्दत।
२. एक मूल से उत्पन्न हुई शाखाओं का जो मूल आम्नाय होता है, वह 'चरण' कहलाता है। (द्र०-यु०मी० हिन्दी महाभाष्य-२.४.३)।
३. सम्प्रति प्रचलित तेलुगु आदि कुछ भाषाओं में ह्रस्व एकार और ओकार का प्रयोग होता है। भाष्य में प्रयुक्त 'लोक' शब्द का अर्थ तत्काल में शिष्टों के द्वारा प्रयुक्त संस्कृतभाषा है। जिसे 'भाषा' भी कहा करते थे।

१०. तेषामप्यष्टादशप्रभेदानि।

तेषाम्-ष०ब०। अपि-अ०प०। अष्टादशप्रभेदानि-प्र०ब०। **समासः**—अष्टादश प्रभेदाः सन्ति येषां तानि अष्टादशप्रभेदानि-बहुव्रीहिः। तान्यपि० (६.८) इत्यतः मण्डूकप्लुतगत्या 'तानि' इत्यनुवर्तते। **अर्थः**—(तेषाम्) सात्यमुग्रिराणायनीयानां मते[१] (तानि) सन्ध्यक्षराणि (अपि) अपि अवर्णादिवद् (अष्टादशप्रभेदानि) अष्टादशप्रकारकाणि भवन्ति।

भाषार्थ—(तेषाम्) राणायनीय चरण के सात्यमुग्रि शाखा वालों के मत में (तानि) वे सन्ध्यक्षर (अपि) भी अवर्णादि के तुल्य (अष्टादशप्रभेदानि) अठारह प्रकार के होते हैं।

११. अन्तस्था द्विप्रभेदा रेफवर्जिताः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च।

अन्तस्थाः-प्र०ब०। द्विप्रभेदाः-प्र०ब०। रेफवर्जिताः-प्र०ब०। सानुनासिकाः-प्र०ब०। निरनुनासिकाः-प्र०ब०। च-अ०प०। **समासः**—द्वौ प्रभेदौ स्तः येषां ते द्विप्रभेदाः-बहुव्रीहिः। रेफो वर्जितो येषु ते रेफवर्जिताः-बहुव्रीहिः। अनुनासिकेन सह विद्यन्त इति सानुनासिकाः-बहुव्रीहिः। अनुनासिकेन सह न विद्यन्त इति निरनुनासिकाः-बहुव्रीहिः। **अर्थः**—(रेफवर्जिताः) र-वर्णविरहाः (अन्तस्थाः) अन्तस्थसंज्ञका य-ल-वाः (सानुनासिकाः) अनुनासिकसहिताः (निरनुनासिकाः) अनुनासिकरहिताः (च) च, इति (द्विप्रभेदाः) द्विविधा इति ज्ञेयाः।

भाषार्थ—(रेफवर्जिताः) र-वर्ण को छोड़कर अवशिष्ट (अन्तस्थाः) अन्तस्थ संज्ञक य्, ल्, व् वर्ण (सानुनासिकाः) अनुनासिक और (निरनुनासिकाः) अननुनासिक भेद से (द्विप्रभेदाः) दो प्रकार के हैं। अर्थात् य्-यँ्, ल्-लँ्, व्-वँ् इस प्रकार प्रत्येक के दो-दो भेद हैं।

१२. रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति।

रेफोष्मणाम्-ष०ब०। सवर्णाः-प्र०ब०। न-अ०प०। सन्ति-क्रि०प०। **समासः**—रेफश्च ऊष्माणश्चेति रेफोष्माणः, तेषां रेफोष्मणाम्-इतरेतरद्वन्द्वः। समानाः वर्णाः सवर्णाः, समानजातीया वा वर्णाः सवर्णाः। **अर्थः**—(रेफोष्मणाम्) रेफस्य ऊष्मसंज्ञकानां श-ष-स-हानां च (सवर्णाः) सवर्णाः

१. सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वत्वस्वीकारपक्ष इति भावः।

(न) नहि (सन्ति) विद्यन्ते।

भाषार्थ—(रेफोष्मणाम्) रेफ और ऊष्म संज्ञक श्, ष्, स्, ह् वर्णों के (सवर्णाः) सवर्ण (न) नहीं (सन्ति) होते हैं।

विशेष—यहाँ केवल वर्णान्तर की अपेक्षा से सावर्ण्य का निषेध है, न कि इनके अपने ही व्यक्तियों की अपेक्षा से। अर्थात् रेफ व्यक्तियों का परस्पर सावर्ण्य रहेगा ही क्योंकि उनका स्थान और अन्तःप्रयत्न समान हैं। वैसे ही ऊष्मों में भी समझना चाहिये। विसर्जनीय का भी कोई सवर्ण नहीं है। यहाँ इसके अनुल्लेख का कारण यह है कि इसके सवर्णों के होने व न होने में न कोई प्रयोजन ही है, न ही कोई दोष—"**न हि विसर्जनीयस्य सत्यसति वा सवर्णत्वे प्रयोजनमस्ति, नापि दोषः**" (न्यासः १.१.९)।

१३. वर्ग्यो वर्ग्येण सवर्णः।

वर्ग्यः-प्र०ए०। वर्ग्येण-तृ०ए०। सवर्णः-प्र०ए०। वर्गे भवो वर्ग्यः-भवार्थे 'दिगादिभ्यो यत्' (अष्टा० ४.३.५४) इति यत्प्रत्ययः। **अर्थः**—(वर्ग्यः) कु चु टु तु पु इत्येवमादिषु वर्गेषु विद्यमानाः वर्णाः (वर्ग्येण) स्व-स्व-वर्गस्थैर्वर्णैः सह (सवर्णाः) सवर्णा भवन्ति।

भाषार्थ—(वर्ग्यः) कु चु टु तु पु इन वर्गों में विद्यमान वर्ण (वर्ग्येण) अपने-अपने वर्गों में विद्यमान वर्णों के साथ (सवर्णाः) सवर्ण होते हैं।

॥ इति षष्ठं वृत्तिकारप्रकरणम्॥

वाणी की महिमा

हिरण्ययो वेतसो मध्य आसम् —(ऋ० ४.५८.५)
वाणी में तेजोमय आत्मज्योति विद्यमान है।

••●••

इयर्मि वाचममृताय भूषन् —(ऋ० ३.३४.२)
मैं वाणी का उपयोग अमरत्व की प्राप्ति के लिए करता हूँ।

७. अथ सप्तमं क्रमप्रकरणम्

अभी तक वर्णों के स्थान, करण आदि धर्म बताये गये हैं। पर वर्णों का क्रम नहीं बताया गया कि वर्णों का क्रम क्या हो? अतः अब क्रम अर्थात् वर्णों का विशिष्ट क्रम विषयक प्रकरण प्रारम्भ करते हैं—

अथातो वर्णसमाम्नायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
तत्र स्वराः प्रथमम् ॥ २ ॥
अ इति आ इति आ३ इति इ इति ई इति ई३ इति उ इति ऊ इति ऊ३ इति ऋ इति ॠ इति ॠ३ इति ऌ इति ॡ३ इति ॥ ३ ॥
अथ सन्ध्यक्षराणि ॥ ४ ॥
ए इति ए३ इति ऐ इति ऐ३ इति ओ इति ओ३ इति औ इति औ३ इति ॥ ५ ॥
इति स्वराः ॥ ६ ॥
अथ व्यञ्जनानि ॥ ७ ॥
किति खिति गिति घिति ङिति कवर्गः ॥ ८ ॥
चिति छिति जिति झिति ञिति चवर्गः ॥ ९ ॥
टिति ठिति डिति ढिति णिति टवर्गः ॥ १० ॥
तिति थिति दिति धिति निति तवर्गः ॥ ११ ॥
पिति फिति बिति भिति मिति पवर्गः ॥ १२ ॥
इति स्पर्शाः ॥ १३ ॥
अथान्तस्थाः ॥ १४ ॥
यिति रिति लिति विति ॥ १५ ॥
अथोष्माणः ॥ १६ ॥
शिति षिति सिति हिति ॥ १७ ॥
अथायोगवाहाः ॥ १८ ॥
अः इति विसर्जनीयः ॥ २२ ॥[१]

१. यहाँ अयोगवाहों का क्रम 'विसर्गादिरिहाष्टकः०' के कथनानुसार एवं महाभाष्य-कार के मतानुसार रखा गया है।

ᳲ कः इति जिह्वामूलीयः ॥ १९ ॥
ᳲ पः इत्युपध्मानीयः ॥ २० ॥
अं इत्यनुस्वारः ॥ २१ ॥
हुँ इति नासिक्यः[१] **॥ २३ ॥**
कुँ खुँ गुँ घुँ इति यमाः ॥ २४ ॥
[इति व्यञ्जनानि] —वा०प्रा० ८.१-२४।

१. एष क्रमो वर्णानाम्।

एषः-प्र०ए०। क्रमः-प्र०ए०। वर्णानाम्-ष०ब०। **अर्थः**—(वर्णानाम्) अकारादिवर्णानाम् (एषः) एष उपरितनः (क्रमः) [वैज्ञानिकः] अनुक्रमो विजानीयात्।

भाषार्थ—(वर्णानाम्) अकारादि वर्णों का (एषः) यह अर्थात् ऊपर कथित वर्णमाला (क्रमः) वैज्ञानिक क्रम जानें।

विशेष—'एष क्रमः' शब्दों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहाँ वर्णों का क्रम उपदिष्ट था। जिसका पाठ लुप्त हो गया है। अतः हमने वाजसनेय-प्रातिशाख्य (शुक्लयजुःप्रातिशाख्य) से वर्णक्रम लेकर यहाँ संगृहीत किया है। ऋक्तन्त्र (१.२) में भी वर्णों का क्रम उपदिष्ट है। वा०प्रा० में दीर्घ ॡवर्ण भी उपदिष्ट है, पर वह पाणिनि को अनभीष्ट होने से हमने उसे छोड़ दिया है।

पाणिनीय शिक्षासूत्र के लघुपाठ में **'एष क्रमो वर्णानाम्'** इस प्रकृत सूत्र के पश्चात् कौशिकीय श्लोक उपलब्ध होते हैं। जो कि यहाँ भी अपेक्षित एवं आवश्यक होने से संगृहीत किये जा रहें हैं।

तथैते कौशिकीयाः श्लोकाः—
सर्वान्तेऽयोगवाहत्वाद् विसर्गादिरिहाष्टकः।
अकार उच्चारणार्थो व्यञ्जनेष्वनुबध्यते ॥ १ ॥
ᳲ कᳲ पयोः कपकारौ[२] **च तद्वर्गीयाश्रयत्वतः।**

१. यह नासिक्य वर्ण पाणिनि, पतञ्जलि आदि आचार्यों को अभीष्ट होने से संग्रहीत किया गया है। इस वर्ण के साथ अयोगवाह नौ हो जाते हैं।

२. 'वर्णात्कारः' यह वार्तिक 'रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम्' (अष्टा० ३.३.१०८) सूत्र पर है। अतः बहुल ग्रहण से केवल वर्ण से विहित कार-प्रत्यय वर्णसमुदाय के अनुकरण से भी हो जाता है—बहुलग्रहणात्......वर्णसमुदायानुकरणादपि [भवति] (प्रदीपः-३.३.१०८)।

पलिक्कँनी [१]चक्खँनतुर्जग्गिँमर्जग्घँनुरित्यत्र यद्वपुः ॥ २ ॥
नासिक्येनोक्तं कादीनां त इमे यमाः[२]।
तेषामुकारः [३]स्वस्थानवर्गीयलक्षकः ॥ ३ ॥

(इह) यहाँ अर्थात् (सर्वान्ते) सभी वर्णों के उपदिष्ट होने के उपरान्त अन्त में (विसर्गादिः अष्टकः) विसर्गादि आठ वर्णों का उपदेश किया जा रहा है। इन विसर्गादि वर्णों का उपदेश पूर्व वर्णों के साथ न कर, पृथक्रूप से क्यों किया जा रहा है? इनका पृथक् उपदेश इसलिये किया जा रहा है कि ये वर्ण (अयोगवाहत्वाद्) प्रसिद्ध शास्त्रीय वर्णसमाम्नाय से बहिर्भूत हैं अर्थात् प्रसिद्ध वर्णसमाम्नाय से ये अयुक्त हैं, असम्बद्ध हैं। जब ये वर्णसमाम्नाय से बहिर्भूत हैं, तो इनका उपदेश ही क्यों किया जा रहा है? इनका प्रयोजन ही क्या है? वर्णसमाम्नाय में अनुपदिष्ट [अयुक्त] होते हुये भी इनका उपदेश इसलिये आवश्यक है कि ये वर्ण अनुपदिष्ट होते हुये भी व्याकरणशास्त्रीय कार्यों का वहन करते हैं। इसीलिये इनका नाम अयोगवाह है। वे अयोगवाह कौन-कौन से हैं? यह वर्णक्रम में बता चुके हैं।

क, ख आदि व्यञ्जनों में अकार का उपदेश किसलिये है? इसका उत्तर देते हैं—(व्यञ्जनेषु) क, ख आदि व्यञ्जनों में (अकारः) अकार (उच्चारणार्थः) उच्चारण के सौकर्यार्थ (अनुबध्यते) लगा दिया जाता है, उपदेश किया जाता है। यहाँ अकार का कथन उपलक्षणमात्र है, अतः कादि में 'इति' आदि का संयोजन भी उच्चारणार्थ ही जानना चाहिये।

≍क, ≍प में जिह्वामूलीय एवं उपध्मानीय संज्ञीभूत चिह्नों (≍) से

१. यम अयोगवाह घटक हैं और अयोगवाहों को भाष्यकार ने अट् एवं शर् प्रत्याहार के अन्तर्गत माना है। शर् के अन्तर्गत होने से खर् के अन्तर्गत भी हो जायेंगे। अतः खर्-भूत यमों के परे रहने पर 'चक्खँनतुः', 'जग्घँनुः' में चर्त्व सन्धि अवश्य ही होगी। अतः 'चख्खँनतुः', 'जघ्घँनुः' पाठ अपपाठ है।

२. 'इमेऽयमाः' यह पाठ भी अपपाठ है। क्योंकि पूर्व पङ्क्ति में प्रदर्शित उदाहरण यमों के हैं। जो जो वर्ण हैं, उन उन का वर्णमाला में उपदेश करना तो उचित है, परन्तु ये अमुक वर्ण नहीं है, ऐसा उपदेश करना सर्वथा अनुचित है और ऐसी शैली अन्यत्र कहीं भी देखी नहीं जाती। यदि वे यम नहीं हैं तो कौशिक आचार्य को यहाँ यह भी बताना चाहिये था कि यम कौन से वर्ण हैं? और उनके उदाहरण कौन से हैं?

३. 'संस्थान०' इत्यपपाठः।

भिन्न क, प वर्ण क्यों लिखे जाते हैं? इसका समाधान दिया गया है कि—जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का विधान उन वर्णों के परे रहते किया गया है—'**कुप्वोः ≍क ≍पौ च**' (अष्टा० ८.३.३७)। अतः आश्रयभूत वर्ण के प्रदर्शनार्थ क, प वर्ण लिखे जाते हैं।

प्रश्न—यम किसे कहते हैं और उनका स्वरूप क्या है?

उत्तर—पलिक्कँनी,[१] चक्खँनतुः, जग्गिँमः, जग्घँनुः इन शब्दों में जो (कादीनाम्) क-कुँ, ख्-खुँ, ग्-गुँ, घ्-घुँ वर्ण हैं, उनमें (नासिक्येन) नासिक्य धर्म से युक्त वर्ण का (यद् वपुः) जो स्वरूप (उक्तम्) कहा गया है (ते, इमे, यमाः) वे ही यम कहाते हैं। और उन्हें कुँ, खुँ, गुँ, घुँ के रूप में लिखा जाता है।

प्रश्न—इनमें जो उकार है, वह किस प्रयोजन से है?

उत्तर—इनमें लगा हुआ उकार अपने-अपने समान वर्गीय यमों का लक्षक, बोधक है। अर्थात् कुँ से प्रथम यम के सभी व्यक्ति गृहीत होते हैं। जैसे—

कुँ—कँ, चँ, टँ, तँ, पँ
खुँ—खँ, छँ, ठँ, थँ, फँ
गुँ—गँ, जँ, डँ, दँ, बँ
घुँ—घँ, झँ, ढँ, धँ, भँ

यहाँ वर्गशब्द का अर्थ कवर्ग (क्, ख् ग्, घ्, ङ्) आदि नहीं है अपितु प्रथम यमों का वर्ग, द्वितीय यमों का वर्ग, तृतीय यमों का वर्ग, और चतुर्थ यमों का वर्ग हैं। यमों का विशेष विवेचन तृतीय परिशिष्ट में देखें।

वर्णों के स्थान, करण, उभयविधयत्न, वायु-प्रपीडन आदि बतलाने के पश्चात् वर्णों को बताने की आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि वर्णों के ज्ञात होने पर ही उनका स्थान आदि बतलाना सम्भव है। अतः ज्ञात वर्णों के वर्णन का कहाँ तक औचित्य है? यहाँ यह प्रश्न उदित होना स्वाभाविक है। अतः यहाँ यह ध्यातव्य है कि अ, आ, इ, ई आदि वर्णों एवं कवर्ग आदि का जो क्रम विशेष है, उसका कोई नियम है वा नहीं? उस विशिष्ट क्रम का

१. तयोश्छन्दसि क्रमित्येके (वा० ४.१.३९), भाषायामपीष्यते पलित+ङीप्=पलिक्न+ई=पलिक्नी=वृद्धा स्त्री।

आधार क्या है ? इन जिज्ञासाओं के समाधान हेतु तथा उस प्रसिद्ध वर्णमाला के क्रम विषयक वैज्ञानिकता के बोध के लिए ही आचार्य ने यहाँ स्थानादि बतलाने के पश्चात् भी वर्णक्रम का उपदेश किया है, न कि वर्णबोध के लिए। अतः यहाँ वर्णक्रम की विशेषता को अवश्य ही समझें और समझावें। हमने '**शेषाः स्वस्थानकरणाः**' (२.८) की विशेष व्याख्या के अन्त में इस क्रम-विशेषता को संक्षेप से बतला दिया है।[1]

२. तत्रैषां स्थानकरणप्रयत्नानां कथं प्रसिद्धिरित्युच्यते।

तत्र-अ०प०। एषाम्-ष०ब०। स्थानकरणप्रयत्नानाम्-ष०ब०। कथम्-अ०प०। प्रसिद्धिः-प्र०ए०। इति-अ०प०। उच्यते-क्रि०प०। **समासः**—स्थानञ्च करणञ्च प्रयत्नश्चेति स्थानकरणप्रयत्नाः, तेषां स्थानकरणप्रयत्नानाम्—इतरेतरद्वन्द्वः। **अर्थः**—(तत्र) प्रदर्शिते वर्णक्रमे (एषाम्) विद्यमानानामेषां वर्णानाम् (स्थानकरणप्रयत्नानाम्) स्थान-करण-प्रयत्नानाम् (प्रसिद्धिः) व्युत्पत्तिः (कथम्) कथं भवति (इति) इति (उच्यते) कथ्यते।

भाषार्थ—(तत्र) ऊपर प्रदर्शित वर्णक्रम में (एषाम्) विद्यमान इन वर्णों के (स्थानकरणप्रयत्नानाम्) स्थान, करण तथा प्रयत्नों की (प्रसिद्धि) सिद्धि, व्युत्पत्ति (कथम्) कैसी होती है (इति उच्यते) उसे आगे कहते हैं।

३. इह यत्र स्थाने वर्णा उपलभ्यन्ते तत् स्थानम्।

इह-अ०प०। यत्र-अ०प०। स्थाने-स०ए०। वर्णाः-प्र०ब०। उपलभ्यन्ते-क्रि०प०। तत्-प्र०ए०। स्थानम्-प्र०ए०। 'इत्युच्यते' इत्यनुवर्तते। **अर्थः**—(इह) एषु त्रिषु स्थानं तावद् उच्यते (यत्र) यस्मिन् मुखाद्यवयवभूते (स्थाने) वर्णोत्पत्त्यधिकरणे (वर्णाः) अकारादयो वर्णाः (उपलभ्यन्ते) प्राप्यन्ते, श्रूयन्ते (तत्) तत् (स्थानम्) स्थानम् इत्युच्यते।

भाषार्थ—(इह) इन तीनों में से पहले स्थान की प्रसिद्धि कहते हैं, (यत्र) जिस मुख और नासिका के अवयवभूत (स्थाने) स्थान में (वर्णाः) अकारादि वर्ण (उपलभ्यन्ते) प्राप्त होते हैं, सुने जाते हैं (तत्) वह (स्थानम्) स्थान (इत्युच्यते) कहा जाता है।

१. विशेष जिज्ञासु जगदीशाचार्य द्वारा विरचित "वैदिक काल के भारतीय गड़रिये और उनका ज्ञान विज्ञान—हमारी वर्णमाला" पुस्तिका अवश्य देखें। जो कि रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्राप्त है।

विशेष—'स्थान' के विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य पारिभाषिक शब्द (४)।

४. येन निर्वृत्यन्ते तत् करणम्।

येन-तृ०ए०। निर्वृत्यन्ते-क्रि०प०। तत्-प्र०ए०। करणम्-प्र०ए०। 'वर्णाः, इत्युच्यते' इत्यनुवर्तेते। **अर्थः**—(येन) येन साधनभूतावयवेन (वर्णाः) वर्णाः (निर्वृत्यन्ते) क्रियन्ते=उत्पद्यन्ते, उत्पाद्यन्ते वा (तत्) तत् साधनम् (करणम्) करणम् (इत्युच्यते) इति कीर्त्त्यते।

भाषार्थ—(येन) जिस साधनभूत अवयव से (वर्णाः) वर्ण (निर्वृत्यन्ते) उत्पन्न होते हैं अथवा उत्पन्न किये जाते हैं (तत्) वह साधन (करणम्) करण (इत्युच्यते) कहलाता है।

विशेष—'करण' के विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य पारिभाषिक शब्द (५)।

५. प्रयतनं प्रयत्नः।

प्रयतनम्-प्र०ए०। प्रयत्नः-प्र०ए०। **समासः**—प्रकृष्टं यतनमिति प्रयतनम्। प्रकृष्टो यत्न इति प्रयत्नः-उभयत्र प्रादिसमासः। 'इत्युच्यते' इत्यनुवर्तते। **अर्थः**—(प्रयतनम्) प्रकृष्टं यतनम्, वर्णानामुच्चारणयोग्य उद्योगः (प्रयत्नः) प्रयत्नः (इत्युच्यते) इति कथ्यते।

भाषार्थ—(प्रयतनम्) प्रकृष्ट यतन अर्थात् वर्णोच्चारण के योग्य उद्योग (प्रयत्नः) प्रयत्न (इत्युच्यते) कहलाता है।

विशेष—प्रपूर्वक 'यती प्रयत्ने' (धातु०भ्वा० २५) धातु से भाव में नङ्-प्रत्यय (अष्टा० ३.३.९०) होकर 'प्रयत्न' शब्द बनता है। अतः यतन मात्र को प्रयत्न कहते हैं। प्रयत्न आत्मा का गुण होने[1] के कारण वह आत्मा में ही होता है, न कि शरीर में। शरीर में होने वाले यत्न व क्रिया को चेष्टा कहते हैं।[2] परन्तु यहाँ प्रकृत सूत्र में निरुक्त 'प्रयत्न' शब्द शिक्षाशास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है। दर्शनशास्त्र-प्रोक्त 'प्रयत्न' का यहाँ ग्रहण नहीं होगा। अतः यहाँ आभ्यन्तर (आस्य) प्रयत्न के लिए परिभाषित (शास्त्रीय-संज्ञा) प्रयत्न का ग्रहण करना चाहिये। जो कि शरीरान्तर्गत आस्य में होने

१. द्र०-न्याय०-१.१.१०; वैशे०-३.२.४।

२. द्र०-न्याय०-१.१.११।

वाली क्रिया (यतन) है।

प्रकृष्टं यतनं प्रयत्नः—प्रकृष्ट यतन को प्रयत्न कहते हैं। शब्द की उत्पत्ति से ठीक पूर्व में होना ही स्पृष्टतादि आभ्यन्तर प्रयत्नों की प्रकृष्टता है अर्थात् आभ्यन्तर प्रयत्न शब्द का साक्षात् कारण बनता है, यही इसकी प्रकृष्टता है।

६. उत्साहः प्रयत्नः

उत्साहः-प्र०ए०। प्रयत्नः-प्र०ए०। 'इत्युच्यते' इत्यनुवर्तते। **अर्थः**—(उत्साहः) प्रयासः विवक्षा वा (प्रयत्नः) प्रयत्नः (इत्युच्यते) इत्यभिधीयते।

भाषार्थ—(उत्साहः) प्रयास, विवक्षा ही (प्रयत्नः) प्रयत्न (इत्युच्यते) कहलाता है।

विशेष—आत्मा में होने वाला जो यतन है अर्थात् आत्मा का जो गुण विशेष यत्न है, उसी को यहाँ 'प्रयत्नः' कहा है। अतः यहाँ प्रयत्न शब्द अन्वर्थक (दार्शनिक संज्ञा) है,[१] न कि शिक्षा का पारिभाषिक संज्ञा।

७. स्पृष्टतादि वर्णगुणः।

स्पृष्टतादि-प्र०ए०। वर्णगुणः-प्र०ए०। **समासः**-स्पृष्टता आदिः यस्य [समुदायस्य] तत् स्पृष्टतादि-बहुव्रीहिः। वर्णस्य गुणः-वर्णगुणः-षष्ठीतत्पुरुषः। **अर्थः**—(स्पृष्टतादि) स्पृष्टतेषत्स्पृष्टतादिप्रयतनम् (वर्णगुणः) वर्णस्य गुणः।

भाषार्थ—(स्पृष्टतादि) स्पृष्टता, ईषत्स्पृष्टता आदि प्रयतन (वर्णगुणः) वर्ण के गुण हैं।

॥इति सप्तमं क्रमप्रकरणम्॥

> **जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।** (अथर्व० १.३४.२)
> मेरे जिह्वाग्र पर मिठास हो, जिह्वामूल में मिठास हो।

१. उत्साहः प्रयत्नः (त०भा०), प्रयत्नः संरम्भ उत्साह इति पर्यायाः (प्र०भा०)।

८. अथाष्टमं नाभितलप्रकरणम्

शिक्षा-भूमिका के तृतीय श्लोक में प्रतिज्ञात प्रकरणों में से अब अन्तिम 'नाभितलप्रकरणम्' प्रारम्भ किया जाता है।

१. तत्र नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितः प्राणो नाम वायुरूर्ध्व-माक्रामन्नुरआदीनां स्थानानामन्यतमस्मिन् स्थाने प्रयत्नेन विधार्यते। विधार्यमाणः सोऽपि तत्स्थानानि विहन्ति। तस्मात् स्थानाभिघाताद् ध्वनिरुत्पद्यत आकाशे, सा वर्णश्रुतिः। स वर्णस्यात्मलाभः।

अर्थः—(तत्र) वर्णोत्पादने यत्न एवं भवति—(प्रयत्नप्रेरितः) 'आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्०' इति श्लोकोक्तरीत्या आत्मनः प्रयत्नेन प्रेरितः (प्राणः) उच्छ्वासात्मकः प्राणः (नाम) संज्ञकः (वायुः) अनिलः (नाभिप्रदेशात्) नाभिदेशतः (ऊर्ध्वम्) उपरि (आक्रामन्) उद्गच्छन् (उरआदीनां स्थानानाम्) उरः कण्ठ आदीनां स्थानानां मध्ये (अन्यतमस्मिन्) कस्मिंश्चिदेकस्मिन्नीप्सिते (स्थाने) कण्ठाद्यवयवे (प्रयत्नेन) यत्नेन (विधार्यते) धारितो भवति, अवरुद्धो भवति। (सः अपि) स एव (विधार्यमाणः) धारितो भूयमानः, स्थीयमानो वायुः (तत्स्थानानि) तानि स्थानानि (विहन्ति) अभिपीडयति। (तस्मात्) तेन (स्थानाभिघाताद्) स्थानाभिघातेन, स्थानपीडनेन (आकाशे) मुखाकाशे (ध्वनिः) शब्दः (उत्पद्यते) जायते, तस्मिन्नुत्पन्ने बाह्याकाशे या श्रुतिर्भवति [श्रूयते] (सा) सा (वर्णश्रुतिः) वर्णश्रुतिरुच्यते। (सः) स एव (वर्णस्य) श्रुतस्य वर्णस्य (आत्मलाभः) स्वरूपोपलब्धिः, वर्णत्वमापन्न इत्यर्थः।

भाषार्थ—(तत्र) वर्णोत्पादन में यत्न इस प्रकार होता है कि (प्रयत्न-प्रेरितः) 'आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्०' इस श्लोक के अनुसार आत्मा के प्रयत्न से प्रेरित (प्राणः) उच्छ्वासात्मक प्राण (नाम) संज्ञक (वायुः) वायु (नाभि-प्रदेशात्) नाभिदेश से (ऊर्ध्वम्) ऊपर (आक्रामन्) उठता हुआ (उरःआदीनां स्थानानाम्) उरः, कण्ठ आदि स्थानों में से (अन्यतमस्मिन्) किसी एक अभीष्ट (स्थाने) कण्ठ आदि स्थानों में (प्रयत्नेन) विशेष यत्न से (विधार्यते) रोका जाता है। (सःअपि) वही (विधार्यमाणः) अवरुद्ध

वायु (तत्स्थानानि) उस-उस स्थान को (विहन्ति) पीडित करता है, आघात करता है। (तस्मात्) उस (स्थानाभिघाताद्) स्थानाघात से (आकाशे) मुखाकाश में (ध्वनिः) शब्द (उत्पद्यते) उत्पन्न होता है। उसके उत्पन्न होने पर जो बाह्याकाश में श्रुति होती है [अर्थात् श्रवण होता है], (सा) वह (वर्णश्रुतिः) वर्ण की श्रुति कहाती है। (सः) वह ही (वर्णस्य) श्रुत वर्ण की (आत्मलाभः) स्वरूपोपलब्धि है। अर्थात् वही वर्ण वा शब्द कहलाता है।

२. तत्र वर्णानामुत्पद्यमाने यदा स्थानकरणप्रयत्नपर्यन्तं परस्परं स्पृशति सा स्पृष्टता।

अर्थः—(तत्र) तस्याम् (वर्णानाम्) शब्दानाम् (उत्पद्यमाने) उत्पद्यमानतायाम् (यदा) यदा (स्थानकरणप्रयत्नपर्यन्तम्) प्रयत्नपुरस्सरेण स्थानकरणे (परस्परम्) मिथः (स्पृशति) स्पर्शं कुरुतः, तदा (सा) सा (स्पृष्टता) स्पृष्टतोच्यते। यथा—स्पर्शानां प्रयत्नः (३.४)

भाषार्थ—(तत्र) उस (वर्णानाम्) वर्ण व शब्दों की (उत्पद्यमाने) उत्पद्यमानता में (यदा) जब (स्थानकरणप्रयत्नपर्यन्तम्) प्रयत्न के साथ-साथ स्थान और करण (परस्परम्) परस्पर एक दूसरे का (स्पृशति) स्पर्श करते हैं, तब (सा) वह (स्पृष्टता) स्पृष्टता कहलाती है।

३. यदेषत् स्पृशति सा ईषत्स्पृष्टता।

अर्थः—(यदा) यदा करणमभीष्टस्थानस्य (ईषत्) किञ्चिद्, स्वल्पम् (स्पृशति) स्पर्शं करोति, तदा (सा) सा (ईषत्स्पृष्टता) ईषत्स्पृष्टता कथ्यते। यथा—अन्तस्थानां प्रयत्नः (३.५)।

भाषार्थ—(यदा) जब करण अभीष्ट स्थान का (ईषत्) थोड़ा ही (स्पृशति) स्पर्श करता है, तब (सा) वह (ईषत्स्पृष्टता) ईषत्स्पृष्टता कही जाती है।

४. यदा दूरेण स्पृशति सा विवृतता।

अर्थः—(यदा) यदा करणं स्थानस्य (दूरेण) दूरतः (स्पृशति) स्वरसीमनि स्पर्शनं विदधाति, तदा (सा) सा आभ्यन्तरचेष्टा (विवृतता) विवृतताभिधीयते। यथा—हकारस्वराणां प्रयत्नः (३.७, ८)।

भाषार्थ—(यदा) जब करण स्थान का (दूरेण) दूर से (स्पृशति) स्वर सीमा में स्पर्श करता है, तब (सा) वह आभ्यन्तर चेष्टा (विवृतता) विवृतता

कही जाती है।

५. यदा सामीप्येन स्पृशति सा संवृतता।

अर्थः—स्थाने करणं (यदा) यदा (सामीप्येन) अदूरतः (स्पृशति) संस्पृशति, तदा (सा) सा प्रयत्नता (संवृतता) संवृततेति निगद्यते। यथा—अकारस्य प्रयत्नः (३.१२)।

भाषार्थ—स्थान में करण (यदा) जब (सामीप्येन) सन्निकटता से (स्पृशति) स्पर्श करता है, तब (सा) वह प्रयत्नता (संवृतता) संवृतता कही जाती है।

६. एषोऽन्तः प्रयत्नः।

अर्थः—(एषः) अनुपदमेव वर्णित एष (अन्तःप्रयत्नः) अन्तःप्रयत्नो विषयः समाप्तः।

भाषार्थ—(एषः) यह (अन्तःप्रयत्नः) अन्तःप्रयत्नः विषय समाप्त हुआ है।

७. अथ बाह्यः प्रयत्नः।

अर्थः—(अथ) अन्तःप्रयत्नानन्तरं (बाह्यः प्रयत्न) बाह्ययत्नः प्रारभ्यते।

भाषार्थ—(अथ) अन्तःप्रयत्न के निरूपण के पश्चात् अब (बाह्यः प्रयत्नः) बाह्ययत्न प्रारम्भ किया जाता है।

८. स एवेदानीं प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रम्य मूर्ध्नि प्रतिहते निवृत्तो भवति, तदा कण्ठे संहन्यमाने गलबिलस्य संवृतत्वात् संवारो नाम वर्णधर्मो जायते, विवृतत्वाद् विवारः।

अर्थः—(इदानीम्) सम्प्रति (स एव) आत्मनः प्रयत्नेन प्रेरितः स एव (प्राणो नाम) प्राणसंज्ञकः (वायुः) वायुः (ऊर्ध्वम्) उपरि (आक्रम्य) उद्गम्य (मूर्ध्नि) बाह्ययत्नक्षेत्रीयोर्ध्वभागे, स्वरतन्त्रीद्वय इति यावत् (प्रतिहते) प्रतिघाते सति (निवृत्तः) पृष्ठतो निवृत्तो भवति। (तदा) तदानीम् (कण्ठे) कण्ठे, गलबिले (संहन्यमाने) आघातं क्रियमाणे (गलविलस्य) कण्ठ-बिलस्य, स्वरयन्त्रमुखस्य (संवृतत्वात्) आकुञ्चितत्वाद्, संकीर्णत्वाद् (संवारो नाम) संवारनामकः (वर्णधर्मः) वर्णगुणः (जायते) उत्पद्यते,

कण्ठबिलस्य (विवृतत्वाद्) प्रसृतत्वाद्, विततत्वाद् (विवारः) विवारनामको वर्णधर्मो जायते।

भाषार्थ—(इदानीम्) अब (स एव) आत्मा के प्रयत्न से प्रेरित वही (प्राणो नाम) प्राण संज्ञक (वायुः) वायु (ऊर्ध्वम्) ऊपर (आक्रम्य) उठकर (मूर्ध्नि) बाह्ययत्न के क्षेत्रीय ऊर्ध्व [अन्तिम] भाग में विद्यमान स्वरतन्त्रियों में (प्रतिहते) प्रतिघात होने पर (निवृत्तः) निवृत्त अर्थात् पीछे की ओर लौट आता है। (तदा) तब (कण्ठे) गलबिल में (संहन्यमाने) आघात करने पर (गलबिलस्य) गलबिल के, स्वरयन्त्रमुख के (संवृतत्वात्) संवृत, संकुचित होने से (संवारो नाम) संवार नामक (वर्णधर्मः) वर्णधर्म (जायते) उत्पन्न होता है। कण्ठबिल के (विवृतत्वात्) विवृत, विस्तृत होने से (विवारः) विवार नामक वर्णधर्म उत्पन्न होता है।

विशेष—इस सूत्र से इस अर्थ की भी प्रतीति होती है कि वायु पहले मुख के ऊर्ध्वभाग मूर्धा स्थान में प्रतिहत होकर पीछे को लौट आता है, तत्पश्चात् संवार, विवार आदि वर्णधर्म उत्पन्न होते हैं अर्थात् पहले आभ्यन्तरप्रयत्न (आस्यप्रयत्न) होते हैं, तदनन्तर बाह्ययत्न। पर यह अवगति अनुचित है। क्योंकि ऐसा अर्थ करने पर प्रकृत सूत्र '**आकाशवायुप्रभवः०**' वचन से विरुद्ध होकर महर्षि पाणिनि के इस ग्रन्थ में व्याघातदोष आयेगा। अतः इस दोष का समाधान निम्नप्रकार है—

इस प्रकरण में आचार्य ने पहले आभ्यन्तरप्रयत्नों का वर्णन कर '**एषोऽन्तःप्रयत्नः**' (८.६) सूत्र से अन्तःप्रयत्न प्रसंग को समाप्त किया है, पुनः '**अथ बाह्यः प्रयत्नः**' (८.७) सूत्र से बाह्ययत्न विषय को प्रारम्भ किया है। अतः प्रतिज्ञात बाह्ययत्न प्रकरण में पुनः पूर्व में वर्णित अन्तःप्रयत्न का उल्लेख आचार्य नहीं कर सकते। ऐसा करना एक चर्वित-चर्वण रूप महादोष हो जावेगा। इसलिये प्रकृत सूत्र में अन्तःप्रयत्न का संकेत भी नहीं है, उल्लेख की बात तो बहुत दूर है। इस विरोधाभास का कारण प्रकृत सूत्र में प्रयुक्त '**मूर्ध्नि**' शब्द है। पर यह शब्द यहाँ 'मूर्धा स्थान में' इस परिभाषित अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है, अपितु 'उच्चतम शिखरभाग में' इस अर्थ (अन्वर्थ) में प्रयुक्त हुआ है। जैसे—'**अहं केतुरहं मूर्धा०**' (ऋ० १०.१५९.२)=मैं [स्त्री] घर का झण्डा हूँ, ज्ञानवती हूँ, मैं मूर्धा हूँ, शरीर के उन्नत व उत्तम अङ्ग शिर के समान हूँ, '**भूम्यां पर्वतमूर्धनि**' (शकुन्तला-नाटक ५.७), '**अतिष्ठन् मनुजेन्द्राणां मूर्ध्नि देवपतिर्यथा**' (महा०वन० ५३.२)=सब राजाओं के

शीर्षभाग पर० इत्यादि। यहाँ सूत्रस्थ '**मूर्ध्नि**' शब्द का अर्थ होगा 'बाह्ययत्न की सीमा का उच्चतम शिखर भाग में' अर्थात् नाभिप्रदेश के यत्न से प्रेरित तथा फेफड़ों से निर्गत वायु बाह्ययत्न के क्षेत्र में विद्यमान जो उच्चशिखर भाग (स्वरयन्त्र) है, तत्रस्थ स्वरतन्त्रियों में आघात करता है। तीव्रगतिक इस प्रतिघात से कुछ वायु पीछे को लौटेगा ही, जिसे सूत्र में '**निवृत्तो भवति**' कहा है। तो उस प्रतिघात से स्वरतन्त्रियों में नाद उत्पन्न होता है। इस नाद से अन्तःप्रयत्न के कारण शब्द उत्पन्न होता है, जिसका वर्णन पहले कर चुके हैं। तो यहाँ सारतः यह ग्राह्य है कि वायु का प्रतिघात एवं निवर्तन ये दोनों क्रियायें बाह्ययत्न के क्षेत्र में ही होती हैं, न कि आस्यस्थ मूर्धा स्थान में।

इसकी पुष्टि श्लोकात्मिका पाणिनीयशिक्षा (आर्चपाठ) से होती है—

सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।

वर्णाञ्जनयते.........॥ (७)

यहाँ स्पष्टरूप से कहा गया है कि वह उदीर्ण=ऊर्ध्वप्रेरित वायु मूर्धा में अभिहत होकर, तदुपरान्त वक्त्र=मुख को प्राप्त होता है। तत्पश्चात् वर्णों को उत्पन्न करता है। यदि मूर्धा शब्द से मुखस्थ मूर्धा स्थान ही लिया जाता तो यहाँ पुनः 'वक्त्रमापद्य' शब्दों का प्रयोग नहीं होता। अतः मूर्धा से कण्ठदेशीय स्वरयन्त्र लेना ही युक्ततर होगा, जो कि बाह्ययत्न विषयक ही है।

अन्यच्च—'**मनोऽभिहतः कायाग्निः प्राणमुदीरयति। स नाभेरुद्यन् मूर्धन्यभिहतोऽन्येन पुनरुद्यता मरुताभिहन्यमानो ध्वनिः सम्पद्यते क इति वा, ख इति वा**' (स्वोपज्ञवृत्तिः-वाक्यपदीयम् १०.६)। यहाँ कायाग्नि से प्रेरित कोष्ठ्य वायु के एक बार मूर्धा (कण्ठ) में अभिघात होने का तथा कण्ठ में विकृत कण्ठ्य वायु (नादयुक्त वायु) का पुनः मुख में अभिघात होने का स्पष्ट उल्लेख है। अतः मूर्धा से यहाँ कण्ठदेशीय स्वरयन्त्र ही लेना चाहिये। अन्यथा अन्य वायु का एवं पुनरभिघात का प्रसंग ही नहीं होगा।

इस विषय को समझने में अत्यन्त सावधानता की आवश्यकता है। नहीं तो बहुत्र भ्रमित होने की पूरी सम्भावना है। उदाहरणार्थ कुछ वचन यहाँ उद्धृत कर रहें हैं।

१. तत्र पूर्वं स्पृष्टतादयश्चत्वारः, पश्चान्मूर्धनि प्रतिहते निवृत्ते प्राणाख्ये वायौ विवारादयो बाह्या एकादश प्रयत्ना उत्पद्यन्ते (म०भा०

प्रदीप १.१.९)।

२. तत्राभ्यन्तरश्चतुर्धा स्पृष्टता ईषत्स्पृष्टता विवृतता संवृतता चेति......एषां चतुर्णामप्याभ्यन्तरत्वं वर्णोत्पत्तिप्राग्भावित्वात्।.....बाह्याः प्रयत्नाः पुनरेकादश विवारः, संवारः.....एते च वर्णोत्पत्तेः पश्चान् मूर्ध्नि प्रतिहते निवृत्ते प्राणाख्ये वायौ उत्पद्यन्ते। अत एव बाह्या इत्युच्यन्ते (शब्दकौस्तुभ-१.१.९)।

३. शब्दप्रयोगेच्छोत्पन्नयत्नाभिहताग्निप्रेरितनाभिप्रदेशगतवायु-र्वेगान् मूर्धानं गत्वा प्रतिनिवृत्तो वक्त्रं प्राप्य यत्नविशेषसहायः ताल्वा-दितत्तत्स्थानेषु जिह्वाग्रादिस्पर्शपूर्वकमभिहतो वर्णविशेषानभिव्यन-क्तीति त एते आभ्यन्तरप्रयत्नाः। ततो[1] यत्नविशेषैर्गलविवरविकासादीन् करोति। त एते बाह्यप्रयत्नाः। (अध्वरमीमांसाकुतूहलवृत्तिः-१.३.२२)।

इन वचनों में सर्वत्र 'पूर्व' एवं 'पश्चात्' शब्दों के प्रयोग से यही भ्रम होता है कि स्पृष्टता आदि आभ्यन्तरयत्न पहले होते हैं और संवार, विवार आदि बाह्ययत्न बाद में। पर यह भ्रामक अर्थ यथार्थता के जान लेने पर दूर हो जायेगा। यहाँ सर्वत्र ही 'पूर्व' शब्द से 'शब्दोत्पत्ति से ठीक पूर्व में' ऐसा अर्थ समझना चाहिये। प्रदीपवचन के असंगतिदोष को दूर करने के लिये उद्योतकार को 'वर्णोत्पत्तेः' शब्द का अध्याहार कर अन्वय करना पड़ा— '**मूर्ध्नि प्रतिहते वर्णोत्पत्तेः पूर्वं स्पृष्टतादयः, पश्चान्निवृत्ते प्राणाख्ये-इत्यन्वयः कैयटे**' (उद्योतः-१.१.९)। नागेश के इस 'वर्णोत्पत्तेः' शब्द के अध्याहार से हमारे कथन की पुष्टि होती है। तथा च 'वर्णोत्पत्ति से ठीक पूर्व में होने वाला यत्न' ऐसा अर्थ करने से अन्तःप्रयत्न एवं शब्द की अत्यन्त सामीप्यता, व्यवधान रहितता जानी जाती है। इसी सामीप्यता को कौस्तुभकार ने प्रयत्नों का आभ्यन्तरत्व कहा है—'**एषां.....आभ्यन्तरत्वं वर्णोत्पत्तिप्राग्भावित्वात्**'।[2] इस कथन में यहाँ यह भी अवधेय है कि जिन प्रयत्नों एवं शब्दों के मध्य में यह सामीप्यता व व्यवधानराहित्य न हो वही उनका बाह्यत्त्व है, अर्थात् वे यत्न बाह्ययत्न कहलाते हैं।[3] जो कि सर्वत्र 'पश्चात्' शब्द से प्रकट किया

१. यहाँ 'ततः' के प्रयोग से 'उसके पश्चात्' अर्थ निकलता है।
२. आभ्यन्तरत्वं पुनरेषां [स्पृष्टतादीनां] स्थानकरणप्रयत्नव्यापारेणोत्पत्तिकाल एव सम्भवात् (न्यासः १.१.९)।
३. बाह्यत्वं पुनरेषां [विवारसंवारादीनां] वर्णनिष्पत्तिकालादूर्ध्वम्, वायुवशेनोत्पत्तेः (न्यासः १.१.९)। ऊर्ध्वम्=पश्चात् (कुमा० ६.९३, रघु० १४.६६)।

गया है। अतः सर्वत्र ही 'पश्चात्' शब्द का अर्थ 'पीछे' जानना चाहिये[1] अर्थात् बाह्ययत्न शब्दोत्पत्ति से ठीक पूर्व (पीछे) न होकर पर्याप्त पूर्व (पीछे, पश्चात्) होते हैं। तो शब्दोत्पत्ति का क्रम इस प्रकार होगा बाह्ययत्न→अन्तःप्रयत्न→शब्दोत्पत्ति। इस प्रकार 'पूर्व' एवं 'पश्चात्' शब्दों का अर्थ समझ लेने पर सारी विसंगतियाँ नष्ट हो जाती हैं। अन्यथा एतद्विषयक सभी वचन दोषावह हो जायेंगे।

यहाँ और एक बात ध्यातव्य है कि अन्तःप्रयत्न एवं बाह्ययत्न दोनों ही शब्दोत्पत्ति की अपेक्षा से पूर्वकालिक (पश्चात्कालिक) ही हैं, पुनरपि सामीप्यता के कारण अन्तःप्रयत्नों को प्राग्भावी तथा दूर (पीछे) होने के कारण बाह्ययत्नों को पश्चाद्भावी कहा गया है।

९. तौ संवारविवारौ।

अर्थः—(तौ) उक्तौ वर्णधर्मौ (संवारविवारौ) संवारसंज्ञको विवार-संज्ञकश्च बाह्ययत्नाविति वेदितव्यौ।

भाषार्थ—(तौ) वे दोनों वर्णधर्म (संवारविवारौ) संवार और विवार संज्ञक बाह्ययत्न हैं, ऐसा जानें।

१०. तत्र यदा कण्ठबिलं संवृतं तदा नादो जायते।

अर्थः—(तत्र) वायुना संहते कण्ठे (यदा) यदा (कण्ठबिलम्) स्वरयन्त्रमुखम् (संवृतम्) आकुञ्चितम्, संकीर्णं भवति (तदा) तदानीम् (नादः) नादः (जायते) उत्पद्यते।

भाषार्थ—(तत्र) वायु के द्वारा आहत कण्ठ में (यदा) जब (कण्ठबिलम्) स्वरयन्त्रमुख (संवृतम्) संकुचित, छोटा होता है, (तदा) तब (नादः) नाद (जायते) उत्पन्न होता है।

११. विवृते तु कण्ठबिले श्वासोऽनुजायते।

अर्थः—(कण्ठबिले) स्वरयन्त्रमुखे (विवृते) वितते जाते (श्वासः) श्वासः (अनुजायते) उत्पद्यते।

भाषार्थ—(कण्ठबिले) स्वरयन्त्रमुख के (विवृते) विस्तृत, बड़ा होने पर (श्वासः) श्वास (अनुजायते) उत्पन्न होता है।

१. 'पीछे' के अर्थ में 'पश्चात्' शब्द का प्रयोग 'शकुन्तला-नाटक' में देखें—'गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः' (१.३३, ३.७)।

१२. तौ श्वासनादावनुप्रदानावित्याचक्षते।

अर्थः—(तौ) तौ (श्वासनादौ) श्वासनादाख्यौ (अनुप्रदानौ) वर्णोत्पादकौ (इति) एवम् (आचक्षते) वदन्ति आचार्याः।

भाषार्थ—(तौ) वे दोनों (श्वासनादौ) श्वास और नाद (अनुप्रदानौ) वर्णोत्पादक हैं (इति) ऐसा (आचक्षते) आचार्य लोग कहते हैं।

१३. अन्ये श्वासनादानुप्रदानं व्यञ्जने नादवत्।

अर्थः—(व्यञ्जने) वर्णानामभिव्यञ्जने (श्वासनादानुप्रदानम्) श्वासानुप्रदानम्, नादानुप्रदानञ्च (नादवत्) नादध्वनिवद् भवतः (इति) एवम् (अन्ये) अन्ये आचार्याः (आचक्षते) ब्रुवते।

भाषार्थ—(व्यञ्जने) वर्णों के अभिव्यञ्जन में (श्वासनादानुप्रदानम्) श्वासानुप्रदान और नादानुप्रदान (नादवत्) नादध्वनि के समान या नादध्वनि वाले होते हैं (इति) ऐसा (अन्ये) दूसरे आचार्य (आचक्षते) कहते हैं।

१४. तत्र यदा स्थानाभिघातजध्वनौ नादोऽनुप्रदीयते तदा नादध्वनिसंसर्गाद् घोषो जायते।

अर्थः—(तत्र) तस्मिन् (स्थानाभिघातजध्वनौ) स्थानाभिघातेनोत्पन्ने ध्वनौ (यदा) यस्मिन् काले (नादः) नादध्वनिः (अनुप्रदीयते) उत्पत्स्यमान-शब्दस्य प्रयोजको भवति (तदा) तदानीम् (नादध्वनिसंसर्गाद्) तन्नादध्वनि-सम्बन्धाद् (घोषः) घण्टानिनादसमानध्वनिविशेषो घोषः (जायते) भवति।

भाषार्थ—(तत्र) उस (स्थानाभिघातजध्वनौ) स्थानाभिघात से उत्पन्न ध्वनि के होने पर (यदा) जब (नादः) नादध्वनि (अनुप्रदीयते) उत्पत्स्यमान शब्द का उत्पादक, जनक [कारण] होता है, (तदा) तब (नादध्वनिसंसर्गाद्) उस नादध्वनि के सम्बन्ध से (घोषः) घण्टा निनाद के समान श्रूयमाण ध्वनिविशेष (जायते) उत्पन्न होता है।

१५. यदा श्वासोऽनुप्रदीयते तदा श्वासध्वनिसंसर्गाद् अघोषो जायते।

अर्थः—(तत्र) तस्मिन् (स्थानाभिघातजध्वनौ) स्थानाभिघातेनोत्पन्ने ध्वनौ (यदा) यदा (श्वासः) श्वासः, वायुप्रधानताकनादध्वनिः (अनु-प्रदीयते) उत्पत्स्यमानशब्दस्य प्रयोजको भवति, (तदा) तदानीम् (श्वास-ध्वनिसंसर्गाद्) श्वासप्रधानताकनादध्वनिसंसर्गाद् (अघोषः) अघोषः, घोषत्त्वविरहध्वनिविशेषः (जायते) भवति।

भाषार्थ—(तत्र) उस (स्थानाभिघातजध्वनौ) स्थानाभिघात से उत्पन्न ध्वनि के होने पर (यदा) जब (श्वासः) श्वास, वायु की प्रधानतावाली नादध्वनि (अनुप्रदीयते) उत्पन्न होनेवाले शब्द का प्रयोजक होता है, (तदा) तब (श्वासध्वनिसंसर्गाद्) श्वास की प्रधानता [अधिकता] वाली नादध्वनि के सम्बन्ध से (अघोषः) अघोष अर्थात् घोषत्व रहित एक ध्वनिविशेष (जायते) उत्पन्न होता है।

१६. सा घोषवदघोषता।

अर्थः—(सा) सा (घोषवदघोषता) घोषता अघोषता च समाप्ता, वर्णितेति बोद्धव्यम्।

भाषार्थ—(सा) वह (घोषवदघोषता) घोषता और अघोषता समाप्त हुई है वा वर्णित हुई है।

१७. महति वायौ महाप्राणः।

अर्थः—वर्णोच्चारणे (महति) अधिके (वायौ) अनिले निःसृते, सः (महाप्राणः) महाप्राण इत्युच्यते। तद्वन्तश्च वर्णा महाप्राणाः कथ्यन्ते। महति वायौ उत्पन्नो वर्णः महाप्राण इति वार्थः।

भाषार्थ—वर्णों के उच्चारण में (महति) अधिक (वायौ) वायु के निकलने पर, वह (महाप्राणः) महाप्राण कहलाता है। और इस महाप्राण से युक्त [उच्चरित] वर्ण भी महाप्राण कहे जाते हैं। अथवा इसका अर्थ इस प्रकार भी कर सकते हैं—महान् [अधिक] वायु में उत्पन्न वर्ण महाप्राण कहाता है।

१८. अल्पे वायावल्पप्राणः।

अर्थः—वर्णोच्चारणे (अल्पे) स्वल्पे (वायौ) अनिले निस्सृते, सः (अल्पप्राणः) अल्पप्राण इत्यभिधीयते। तद्वन्तश्च वर्णा अल्पप्राणा भवन्ति। अल्पे वायौ उत्पन्नो वर्ण अल्पप्राण इति वा तस्यार्थः।

भाषार्थ—वर्णों के उच्चारण में (अल्पे) थोड़े (वायौ) वायु के निस्सृत होने पर, वह (अल्पप्राणः) अल्पप्राण कहा जाता है। उससे युक्त [उत्पन्न] वर्ण भी अल्पप्राण कहाता है। अथवा इस सूत्र का अर्थ ऐसा भी समझ सकते हैं—अल्पप्राण में उत्पन्न वर्ण अल्पप्राण संज्ञक होता है।

१९. साल्पप्राणमहाप्राणता।

अर्थः—(सा) असौ (अल्पप्राणमहाप्राणता) अल्पप्राणता महाप्राणता च वर्णिते।

भाषार्थ—(सा) वह (अल्पप्राणमहाप्राणता) अल्पप्राणता और महाप्राणता बताई गई है।

२०. [यत्र] महाप्राणत्वम् ऊष्माणस्ते।

अर्थः—(यत्र) येषु वर्णेषु (महाप्राणत्त्वम्) महाप्राणता (ते) ते वर्णाः (ऊष्माणः) ऊष्माणो भवन्ति।

भाषार्थ—(यत्र) जिन वर्णों में (महाप्राणत्त्वम्) महाप्राणता है, (ते) वे वर्ण (ऊष्माणः) ऊष्म संज्ञक होते हैं।

२१. तत्र यदा सर्वाङ्गानुसारी प्रयत्नस्तीव्रो भवति, तदा गात्राणां निग्रहः, कण्ठबिलस्य चाल्पत्वं स्वरस्य च वायोस्तीव्रगतित्वाद् रौक्ष्यं भवति। तमुदात्तमाचक्षते।

अर्थः—(तत्र) वर्णानामुच्चारणे (यदा) यदा (सर्वाङ्गानुसारी) सर्वेषामङ्गोपाङ्गानामनुसारी (प्रयत्नः) यत्नः (तीव्रः) अधिकः (भवति) सम्पद्यते, (तदा) तदानीम् (गात्राणाम्) शरीरावयवानाम् (निग्रहः) निरोधः, परितो बन्धनं भवति (कण्ठबिलस्य च) स्वरयन्त्रमुखस्य च (अल्पत्त्वम्) आयामो न्यूनीभवति, (च) तथा च (स्वरस्य) उच्चार्यमाणस्वरवर्णस्य (वायोः) मारुतस्य (तीव्रगतित्वाद्) तीव्रगतिहेतोः स्वरे (रौक्ष्यम्) रूक्षता (भवति) जायते। (तम्) तादृशम् उच्चारितं वर्णम् (उदात्तम्) उदात्तम् (आचक्षते) ब्रुवत आचार्याः।

भाषार्थ—(तत्र) वर्णों के उच्चारण में (यदा) जब (सर्वाङ्गानुसारी) सभी अङ्ग और उपाङ्गों का (प्रयत्नः) यत्न (तीव्रः) अधिक (भवति) होता है, (तदा) तब (गात्राणाम्) शरीरावयवों का (निग्रहः) निरोध हो जाता है, अर्थात् दब से जाते हैं यानी सम्पूर्ण शरीर सख्त हो जाता है (च) और (कण्ठबिलस्य) स्वरयन्त्रमुख का (अल्पत्वम्) विस्तार कम हो जाता है (च) तथा (स्वरस्य) उच्चार्यमाण स्वर वर्ण के (वायोः) वायु की (तीव्रगतित्वाद्) तीव्रगति होने के कारण स्वर में (रौक्ष्यम्) रूक्षता (भवति) होती है। (तम्) उस प्रकार से उच्चारित वर्ण को आचार्य (उदात्तम्) उदात्त

(आचक्षते) कहते हैं।

२२. यदा मन्दः प्रयत्नो भवति तदा गात्राणां प्रसन्नत्वम्, कण्ठबिलस्य च महत्त्वम्, स्वरस्य च वायोर्मन्दगति-त्वात् स्निग्धता भवति। तमनुदात्तमाचक्षते।

अर्थः—(तत्र) वर्णोच्चारणे (यदा) यदा (सर्वाङ्गानुसारी) सर्वेषामङ्गा-नामनुसारी (प्रयत्नः) यत्नः (मन्दः) अल्पः, न्यूनः (भवति) जायते, (तदा) तदानीम् (गात्राणाम्) शरीरावयवानाम् (प्रसन्नत्त्वम्) हर्षत्त्वम्, विकासता (कण्ठबिलस्य च) स्वरयन्त्रमुखस्य च (महत्त्वम्) आयामोऽधिको भवति, (च) तथा च (स्वरस्य) उच्चार्यमाणस्य स्वरस्य (वायोः) वायोः (मन्द-गतित्वाद्) अल्पगतित्वाद् स्वरे (स्निग्धता) मार्दवम् (भवति) जायते। (तम्) तादृशम् उच्चारितं वर्णम् (अनुदात्तम्) अनुदात्त (आचक्षते) वदन्ति आचार्याः।

भाषार्थ—(तत्र) वर्णोच्चारण में (यदा) जब (सर्वाङ्गानुसारी) सभी अङ्गों का (प्रयत्नः) यत्न (मन्दः) कम (भवति) होता है, (तदा) तब (गात्राणाम्) शरीरावयवों की (प्रसन्नत्त्वम्) हर्षता, विकासता होती है (च) और (कण्ठबिलस्य) स्वरयन्त्रमुख का (महत्त्वम्) विस्तार अधिक हो जाता है (च) और (स्वरस्य) उच्चार्यमाण स्वर वर्ण के (वायोः) वायु की (मन्द-गतित्वाद्) मन्दगति होने से स्वर में (स्निग्धता) मृदुता (भवति) होती है। (तम्) उस प्रकार उच्चरित वर्ण को आचार्य (अनुदात्तम्) अनुदात्त (आचक्षते) कहते हैं।

२३. उदात्तानुदात्तसन्निकर्षात् स्वरित इति।

अर्थः—(उदात्तानुदात्तसन्निकर्षात्) उदात्तस्यानुदात्तस्य च सम्बन्धात्, सम्मिश्रणात् (स्वरितः) स्वरितो जायत इत्याचार्या आचक्षते।

भाषार्थ—(उदात्तानुदात्तसन्निकर्षात्) उदात्त और अनुदात्त के सम्बन्ध से अर्थात् सम्मिश्रण से (स्वरितः) स्वरित उत्पन्न होता है, उच्चरित होता है, ऐसा आचार्य कहते हैं।

२४. स एवं प्रयत्नोऽभिनिर्वृत्तः कृत्स्नः प्रयत्नो भवति।

अर्थः—(एवम्) इत्थम् (सः) स उभयविधः (प्रयत्नः) अन्तो-बाह्ययत्नः (कृत्स्नः) सम्पूर्णः (प्रयत्नः) यत्नः (भवति) सम्पद्यते। स च

(अभिनिर्वृत्तः) सम्पन्नः, समापित इति यावत्।

भाषार्थ—(एवम्) इस प्रकार (सः) वह उभयविध (प्रयत्नः) अन्तः और बाह्य यत्न मिलकर (कृत्स्नः) सम्पूर्ण (प्रयत्नः) एक यत्न (भवति) होता है। और वह (अभिनिर्वृत्तः) सम्पन्न, समाप्त हो गया है।

२५. स एवमापिशलेः पञ्चदशभेदाख्या वर्णधर्मा भवन्ति।

अर्थः—(सः) स वर्णधर्मप्रतिपादक उभयविधप्रयत्नविषय आहत्य कतिविधो भवतीत्याकांक्षामुत्थाप्य परिहरत्याचार्यः (एवम्) उक्तप्रकारेण (आपिशलेः) आपिशल्याचार्यस्य मते [अपि] (पञ्चदशभेदाख्याः) पञ्च-दशभेदाः (वर्णधर्माः) वर्णधर्माः (भवन्ति) विद्यन्ते। आपिशलिग्रहणमिह पूजार्थम्, न तु मतप्रदर्शनार्थम्। पाणिनेरपीह तात्पर्यत्वात्।

भाषार्थ—(सः) वर्णधर्म के प्रतिपादक उभयविध प्रयत्न का वह विषय साकल्येन कितने प्रकार का है? इस प्रकार की आकांक्षा कर उसका परिहार करते हैं कि (एवम्) पूर्व के कथनानुसार (आपिशलेः) आपिशलि आचार्य के मत में [भी] (पञ्चदशभेदाख्याः) पन्द्रह प्रकार के (वर्णधर्माः) वर्णधर्म होते हैं। यहाँ आपिशलि का नाम ग्रहण पूजा के लिए है, न कि मतप्रदर्शन के लिए। क्योंकि इसमें पाणिनि का भी तात्पर्य निहित है।

ते च पञ्चदशभेदाः के क इत्याकांक्षामुपशमयितुं सूत्रयत्याचार्यः—

२६. तद्यथा—

स्पृष्टता ईषत्स्पृष्टता विवृतता संवृतता च।
संवारविवारौ श्वासनादौ घोषवदघोषता।
अल्पप्राणमहाप्राणता उदात्तानुदात्तस्वरिताः॥इति॥

अर्थः—(तद्यथा) ते च वर्णधर्माः स्पृष्टता-ईषत्स्पृष्टता-विवृतता-संवृतता-भेदेन चत्वारोऽन्तःप्रयत्नाः। संवार-विवार-श्वास-नाद-घोष-अघोष-अल्पप्राण-महाप्राण-उदात्त-अनुदात्त-स्वरित-भेदेनैकादश बाह्ययत्नाः। आहत्य पञ्चदश भवन्ति।

भाषार्थ—(तद्यथा) वे वर्णधर्म इस प्रकार हैं—१. स्पृष्टता, २. ईषत्स्पृष्टता, ३. विवृतता, ४. संवृतता, ५. संवार, ६. विवार, ७. श्वास, ८. नाद, ९. घोष, १०. अघोष, ११. अल्पप्राण, १२. महाप्राण, १३. उदात्त, १४. अनुदात्त, १५. स्वरित। प्रारम्भिक चार अन्तःप्रयत्न हैं, शेष ग्यारह

बाह्ययत्न हैं।

२७. इदानीं शिक्षाग्रन्थः श्लोकैरुपसंह्रियते—

अर्थः—(इदानीम्) सम्प्रति (शिक्षाग्रन्थः) अयं शिक्षाग्रन्थः (श्लोकैः) अग्रिमपद्यैः (उपसंह्रियते) समाप्यते—

भाषार्थ—(इदानीम्) अब (शिक्षाग्रन्थः) यह शिक्षाग्रन्थ (श्लोकैः) अग्रिम श्लोकों से (उपसंह्रियते) समाप्त किया जाता है—

२८. अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च॥

अर्थः—वर्णानाम् उद्भवस्थानानि अष्टौ सन्ति। ते च-उरः, कण्ठः, शिरः=मूर्धा, जिह्वामूलम् (?), दन्ताः, नासिका, उपरितन ओष्ठः, तालु च।

भाषार्थ—वर्णों के उद्भव स्थान आठ हैं। वे इस प्रकार हैं—१. उरः, २. कण्ठ, ३. मूर्धा, ४. जिह्वामूल (?), ५. ऊपर के दाँत, ६. नासिका, ७. ऊपर का ओष्ठ, ८. तालु।

२९. स्पृष्टत्वमीषत्स्पृष्टत्वं संवृतत्वं तथैव च।
विवृतत्वं च वर्णानामन्तःकरणमुच्यते॥

अर्थः—स्पृष्टत्वम्, ईषत्स्पृष्टत्वम्, संवृतत्वम् तथा च विवृतत्वम् इत्येते वर्णानामन्तःकरणम्=आभ्यन्तरप्रयत्ना उच्यन्ते।

भाषार्थ—स्पृष्टत्व, ईषत्स्पृष्टत्व, संवृतत्व और विवृतत्व ये चार वर्णों के आभ्यान्तरप्रयत्न हैं।

३०. कालो विवारसंवारौ श्वासनादावघोषता।
घोषोऽल्पप्राणता चैव महाप्राणः स्वरास्त्रयः॥

३१. बाह्यं करणमाहुस्तान् वर्णानां वर्णवेदिनः॥

अर्थः—कालः, विवारः, संवारः, श्वासः, नादः, अघोषः, घोषः, अल्पप्राणः, महाप्राणः, उदात्त-अनुदात्त-स्वरिताश्च त्रयस्स्वरा इत्येतान् वर्णवेत्तार आचार्या वर्णानां बाह्यकरणान्याहुः।

भाषार्थ—काल, विवार, संवार, श्वास, नाद, अघोष, घोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन सब को वर्णविज्ञानी आचार्यों ने वर्णों के बाह्ययत्न कहे हैं।

विशेष—पहिले (३.२ में) कहा गया है कि आस्य भाग से अन्यत्र होने वाले यत्न को बाह्ययत्न कहते हैं। यहाँ काल को भी बाह्ययत्न माना गया है। क्योंकि काल भी आस्य से भिन्न क्षेत्रीय है—'**बाह्यश्च पुनरास्यात्कालः**' (म०भा०अइउण्)। काल का बाह्यत्व दो प्रकार से माना जाता है। जो कि इस प्रकार है—

१. मात्रा, द्विमात्रा आदि काल-परिमाण का व्यवहार चक्षुओं के उन्मीलन व निमीलन और नाड़ी-स्पन्दन आदि क्रियाओं पर आधृत है (द्र०-पा०श० २७)। ये सभी क्रियायें (यत्न) आस्य से बाहर होने से काल बाह्ययत्न है।

२. नाभिप्रदेश के विशिष्ट प्रयत्न से ह्रस्व, दीर्घ आदि वर्ण निष्पन्न होते हैं। और नाभिप्रदेश आस्य से बाह्य होने से काल बाह्ययत्न है। एतद्विषयक विशेष जिज्ञासु 'अ इ उ ण्' सूत्रस्थ प्रदीपग्रन्थ[1] एवं '**प्रारम्भो यत्नस्य-प्रयत्नः**' (म०भा० १.१.९) पर लिखित उद्योत ग्रन्थ देखें।[2]

द्व्यङ्गाकाशयमाब्दे हि [3]शौर्पमासे सिते दले।
पञ्चमीभृगुवारेऽयं ग्रन्थः पूर्तिं समागतः॥ १॥
इषुद्योव्योमनेत्राब्दे ख्रैस्ते मासे हि पञ्चमे।
अग्नीन्दुशुक्रवारेऽयं ग्रन्थः पूर्तिं गतः शुभः॥ २॥

आन्ध्रदेशीयकरिनगरजनपदान्तर्गतभार्गवपुराभिजनेन
श्रीस्वराज्यलक्ष्मी-लक्ष्मीनारायणसूनुना
सर्वशास्त्रपारावारपारीणश्रीमद्विजयपालविद्यावारिधिशिष्येण
भारद्वाजगोत्रेण महेश्वरपूर्वनामधेयेन उदयनाचार्येण विरचितं
भगवत्पाणिनिमुनिप्रणीतशिक्षाशास्त्रस्य
शिक्षातत्त्वालोकभाष्यं
समाप्तिमगात्

१. प्रसिद्धपरिमाणवस्त्वन्तर......नाभेश्चास्याद्बाह्यत्वात्कालस्य बाह्यत्वम्.... अथवा नाभिप्रदेश.....कालस्य बाह्यत्वम् (प्रदीपः-अ इ उ ण्)।
२. मात्राकालिकत्वादिकमपि वाय्वल्पत्वमहत्त्वकृतमिति नाभिप्रदेशात् प्रेरकयत्न एव कश्चिद्विलक्षणोऽल्पवायुं प्रेरयति कश्चिदधिकमिति तस्य यत्नस्य वायुप्रेरणरूपं कार्यमास्यबाह्यदेशम् (उद्योत-१.१.९)।
३. 'विशाखं शूर्पमिन्द्राग्निं द्विदैवत्यं विशाखभम्' (मुहूर्तदीपिका-नक्षत्रनिघण्टुः)।

परिशिष्ट-१

अप्रकाशित शिक्षा-ग्रन्थों का परिचय[1]

—उदयनाचार्य

सम्प्रति लगभग छत्तीस शिक्षा-ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। इनमें से बत्तीस शिक्षायें सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित शिक्षा-संग्रह में संगृहीत हैं। इनके अतिरिक्त वाराणासी से ही एक 'व्यास-शिक्षा' और रामलाल कपूर ट्रस्ट, रेवली से सूत्रात्मक 'पाणिनि-आपिशलि-चान्द्र' शिक्षायें प्रकाशित हैं। अतः इनका विषय प्रायः सभी को ज्ञात ही है। इसलिये इस लेख में केवल उन शिक्षाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जाएगा, जो अभी तक प्रकाशित नहीं हो सकीं, विविध संग्रहालयों में केवल पाण्डुलिपियों के रूप में ही विद्यमान हैं, जिनका वर्णन प्रख्यात ध्वनि-विज्ञानी एवं भाषा-शास्त्री पद्मभूषण डॉ० सिद्धेश्वरवर्मा (एम०ए०, डी०लिट्०) ने अपने शोध-प्रबन्ध "प्राचीन भारतीय वैयाकरणों के ध्वन्यात्मक विचारों का विवेचनात्मक अध्ययन" में किया है। इनका यह शोध-प्रबन्ध 'रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ लन्दन' से अंग्रेजी में प्रकाशित हुआ था। इसे 'हरियाणा हिन्दी ग्रन्थ अकादमी' ने हिन्दी में अनुवाद कराकर प्रकाशित किया है।

डॉ० वर्मा अपने शोधग्रन्थ में लिखते हैं—"उपलब्ध शिक्षाओं की संख्या बहुत बड़ी है। कम से कम पैंसठ शिक्षाओं का तो मुझे ही पता है। इनमें से पचास का मैंने परीक्षण किया है।....सोलह मद्रास के राजकीय प्राच्य पाण्डुलिपि पुस्तकालय में हैं तथा तीन पाण्डुलिपियाँ भण्डारकर प्राच्य अनुसन्धान संस्थान, पूना में हैं" (भूमिका, पृष्ठ ३६)।

इस शोध-प्रबन्ध में स्थान-स्थान पर जो पाण्डुलिपियों की सामग्री प्रस्तुत की गई है, उसी के आधार पर यह लेख प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे कि इन अप्रकाशित शिक्षा-ग्रन्थों का भी अध्येताओं को परिचय मिल सके।

१. शमान-शिक्षा (मद्रास पाण्डुलिपि संख्या ९७७)—इसमें ऋग्वेदस्थ विसर्गलोपी शब्दों का संग्रह है।

१. यह लेख 'वेदवाणी' जून २००४ के अंक में प्रकाशित है।

२. विलंघ्यं-शिक्षा (म०पां० ९६०)—इसमें यजुर्वेदीय एकारान्त, अइ-कारान्त, ओकारान्त, अउ-कारान्त शब्दों का संग्रह है।

३. पदकारिकारत्नमाला (म०पां० सं० ९२१)—यह शंकराचार्य द्वारा विरचित माना जाता है। इसमें चालीस अध्याय हैं।

४. स्वर-व्यञ्जन-शिक्षा (पूना पां० सं० २१)—यह ऋग्वेदीय शिक्षा है और यह ऋक्प्रातिशाख्य को उद्धृत करती है तथा उसके पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करती है। इसमें अष्टाध्यायी के ७.४.२८ तथा ६.१.१३८ सूत्र भी उद्धृत हैं। अतः यह पाणिनि के बाद की कृति है।

इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है कि रेफ [ऋकार] कब स्वर होता है और कब व्यञ्जन। इसमें कुल छह वर्ग हैं।

५. चारायणीय-शिक्षा[1] (पूना पां० सं० २१, २५)—यह शिक्षा पाणिनीय शिक्षा के पश्चात्-कालिका है। यह कृष्ण यजुर्वेद की चरणशाखा सम्बन्धी है। इस लुप्त शाखा का एक उद्धरण इसमें मिलता है—'**अग्ने सम्राड् अजैकपाद आह(व)नीय अमावास्यां वा जयते**' इसमें वाजसनेय प्रातिशाख्य के १.९९, १.१४१ दो सूत्र भी उद्धृत हैं। यह एक महाशिक्षा है। इसके प्रारम्भिक श्लोक निम्न प्रकार हैं—

ॐ प्राक् प्रपद्ये विभुं भक्त्या सर्वलोकपितामहम्।
शिक्षां साक्षात् प्रवक्ष्यामि तेनैवाऽऽलपितामहम्॥
चारायणीं महाशिक्षां प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः।
निबोधत बुधैर्जुष्टां नित्यं वाङ्मलशान्तये॥ (गटिंगन पत्र-१)

इसका अन्तिम श्लोक इस प्रकार है—

य इदं पठते नित्यं यश्चाप्यध्यापयेद् द्विजम्।
अस्यार्थं बुध्यते यो वै ब्रह्मलोकं स गच्छति॥ (गटिंगन पत्र-९९)

इसमें दस उच्चारण-स्थानों का वर्णन मिलता है[2], जबकि पाणिनीयशिक्षा

---

१. इस शिक्षा का मूलपाठ 'कौण्डिन्यायनशिक्षा' के परिशिष्ट में प्रकाशित हुआ है (पृ० ८०२-८१९)।

२. दश स्थानानि वर्णानां कीर्त्तयन्ति मनीषिणः। यतः प्रवृत्तिर्वर्णानां तानि मे गदतः श्रृणुः॥ उरः कण्ठः शिरस्तालु दन्ता ओष्ठौ तु नासिका। जिह्वामूलं तु सृक्वश्च दन्तमूलस्तथैव च॥ पत्र-१।

में आठ स्थानों का परिगणन है[1]। इसके तृतीय अध्याय में सन्धिविषय, पञ्चम में इन्द्रवज्रा, प्रहर्ष आदि लौकिक (संस्कृत) छन्द एवं अष्टम में अभिनिधान विषय वर्णित हैं।

पत्र-४ पर यह शिक्षा अयोगवाहघटक यम के विषय में कहती हैं कि "**न वायुं हमसंयोगे नासिकाभ्यां समुत्सृजेत्**" ह् एवं म् के संयोग में वायु का नासिका से उत्सर्जन नहीं करना चाहिये। अर्थात् ह्-म् की स्थिति में यम की उत्पत्ति नहीं होती है।

स्थितिविशेष में अस्पष्टता से उच्चारित होने वाले वर्ण भी इस शिक्षा में वर्णित हैं, जिन्हें अभिनिधान, आस्थापित, भक्ष्य वा भुक्त कहते हैं। सस्वर वेदपाठ के समय हस्त-संचालन के साथ-साथ अक्षिस्पन्दन का जिक्र भी इसमें मिलता है। तद्यथा—

समं स्वरं पठेन्नित्य मार्गं हस्ते प्रदर्शयेत्।
यद् वाणी गच्छति स्थानं तद्धस्तेन प्रदर्शयेत्।
दक्षिणाक्षिनिपातेन दृष्टिं हन्यात् कनीयसीम्।
नासागण्डभ्रुवोः सन्धिमुदात्तविषये विदुः॥ (पत्र-६)

इसकी विशेषता यह भी है कि—शब्द के अन्त में विद्यमान व्यञ्जन भी द्वित्व को प्राप्त करता है[2] यथा—सम्यक्क् स्रवन्ति, तत्त्प्राप्नोत् इत्यादि।

६. शम्भु-शिक्षा (म० पां० सं० ९८८)—यह तैत्तिरीय संहिता सम्बन्धी है। इसमें मात्रा एवं स्वराघात से सम्बन्धित सिद्धान्तों को पर्याप्त विकसित रूप में स्थापित किया गया है। इसका ३६वाँ श्लोक तै०प्राति० १.४० पर वैदिकाभरण में और ४५वाँ एवं ४६वाँ श्लोक तै०प्राति० १.१ पर त्रिभाष्यरत्न में उद्धृत है।

७. कौहलीय-शिक्षा[3] (म० पां० सं० ८९३)—इसका कर्त्ता अज्ञात

---

१. अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च॥

२. व्यञ्जनान्तं पदं पूर्वं तद् वर्णं चापरं भवेत्।
द्विर्भावं तं विजानीयात् सन्धिकाले तु नित्यशः॥

३. इस शिक्षा का भी मूलपाठ 'कौण्डिन्यायनशिक्षा' के परिशिष्टों में प्रकाशित है (पृ० ८१९-८२३)।

है।[१] इसमें ७९ श्लोक हैं। प्रारम्भिक ४१ श्लोक स्वराघात विषयक हैं। यह कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित है। इस शिक्षा का ५१वाँ श्लोक तै०प्राति० ४.१४ पर वैदिकाभरण में उद्धृत है। जिसमें कहा गया है कि जो व्यक्ति प्रातिशाख्यादि शास्त्रों का ज्ञाता तथा सभी शिक्षाओं के पारंगत विद्वान् ही जटापाठ की व्याख्या वा उपदेश कर सकता है।[२] इसमें स्वराघात के निर्देशन के लिये हस्त-सञ्चालन में केवल दाहिने हाथ का ही प्रयोग करने का विधान मिलता है।[३]

८. वासिष्ठ-शिक्षा—डॉ० वर्मा जी को यह शिक्षा खण्डित रूप में ही मिली थी। जिसमें द्वित्व सम्बन्धि १३ श्लोक हैं। इसका एक उद्धरण तै०प्रा० १.१ पर वैदिकाभरण में मिलता है—''**तदुच्यते वासिष्ठशिक्षायां लृवर्णदीर्घं परिहाप्य स्वराः षड्विंशतिः प्रोक्ताः।**'' यह भी तैत्तिरीय शिक्षा है।

९. वाल्मीकि-शिक्षा—यह शिक्षा तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित है। इसकी पाण्डुलिपि भी उपलब्ध नहीं है। वाल्मीकि का मत तै०प्राति० के सूत्रों में दो स्थान पर मिलता है।

(क) **कवर्गपरश्चाग्निवेश्यवाल्मीक्योः** (तै०प्राति० ८.४) अर्थात् अग्निवेश्य तथा वाल्मीकि के मत में कवर्गपरक एवं पवर्गपरक विसर्ग को जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय नहीं होता।

(ख) **उदात्तो वाल्मीकेः** (तै०प्राति० १८.६) अर्थात् वाल्मीकि के मत में प्रणव को उदात्त होता है।

१०. हारितशिक्षा—इसकी भी पाण्डुलिपि अप्राप्त है। यह भी तै० शाखा सम्बन्धित है। इसके दो उद्धरण मात्र मिलते हैं।

(क) तत्र हारित शिक्षा—

मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्॥ (पारिशिक्षा-२७ की टीका)

---

१. अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि कौहलीयमतानुगाम्।
स्वरादिनिर्णयस्तत्र क्रियते तन्निबोधत॥ १॥

२. प्रातिशाख्यादिशास्त्रज्ञः सर्वशिक्षाविशारदः।
बुद्धिशक्तिसमेतो यः स जटां वक्तुमर्हति॥ ५१॥

३. स्वरान् हस्तेन विन्यस्येद् विपश्चिद् दक्षिणेन तु।
श्रेयो विपुलमन्विच्छन् न सव्येन कदाचन॥ ३५॥

(ख) **उष्माऽघोषो हारितस्य** (तै०प्राति० १८.४) अर्थात् हारित के मत में अघोष ऊष्मों का द्वित्व नहीं होता।

दुदुह्रे आदि (ह्+र्) में हारित के अनुसार द्वित्व नहीं होता—**रेफपरश्च हकारः** (तै०प्राति० १४.१९) जबकि चारायणीयशिक्षा यहाँ भी द्वित्व मानती है।[१]

११. सर्वसम्मत-शिक्षा[२] (म०पां० सं० ९९८)—इसका कर्त्ता केशवार्य है।[३] इसमें चार अध्याय तथा १७० श्लोक हैं। इस पर मञ्चिभट्ट[४] का विस्तृत भाष्य भी है। इस शिक्षा में ध्वनिशास्त्र विषयक सिद्धान्त प्रौढ़ता एवं सूक्ष्मता से प्रतिपादित हैं। इसके ३३ श्लोकों में स्वराघात के सिद्धान्त भी सम्यक्तया निरूपित हैं। इसके उद्धरण तै०प्रा० के त्रिभाष्यरत्न और वैदिकाभरण भाष्यों में अनेकत्र मिलते हैं। यह भी तै०सं० से सम्बन्ध रखती है।

वासांसि आदि शब्दस्थ अनुस्वार को यह शिक्षा एक स्वतन्त्र वर्ण मानती हैं—''**काठकाख्ये चरणे वासः शब्दाद् उत्तरोऽनुस्वारः पूर्वस्यांगं न भवतिः**'' (२.३८)।

१२. आरण्य-शिक्षा (म०पां० सं० ८६६, ८६७)—यह नौ शिक्षाओं की सारात्मक[५] नवीन कृति है। इसकी भी तैत्तिरीय शिक्षाओं में गणना की जाती है। इनमें आद्युदात्त शब्द, अन्तिम दो अक्षर उदात्तवान् शब्द इत्यादि शब्दों का परिगणन है। यह भी अनुस्वार को एक स्वतन्त्र अक्षर मानती है—''**वासश्शब्दाद् अनुस्वारः काठके नीच इष्यते**'' (५२)। यहाँ व्याख्याकार लिखते हैं—''**वासःशब्दात् प्रतीयमानोऽनुस्वारःकाठके पृथगेव, न पूर्वांशमित्यर्थः।**''

स्वरित ह्रस्व स्वर के बाद विद्यमान स्वरभक्ति की भी भिन्न अर्थात्

---

१. हरो यत्र नियुज्येते हकारः क्रमते तदा।
अह्रतं ह्रियते ह्लादिनी ह्रदं च निदर्शनम्॥ पत्र-३॥

२. इस शिक्षा का मूलपाठ 'कौण्डिन्यायनशिक्षा' के परिशिष्टों में प्रकाशित है (पृ० ८२३-८३०)।

३. सूर्यदेव बुधेन्द्रस्य नन्दनेन महात्मना।
प्रणीतं केश्वार्येण लक्षणं सर्वसम्मतम्॥ ४.१२१॥

४. इति श्रीमंचिभट्टविरचितं सर्वसम्मत-शिक्षा-विवरणं समाप्तम्॥

५. क्षितिसुरगणहेतोरेतदारण्यशिक्षामृतमिव नवशिक्षावारिधेरुद्धरामि (प्रस्तावना)।

एक स्वतन्त्र सत्ता मानती है—"**ह्रस्वस्वरात् स्वराभिन्न इत्यादि लक्षणप्राप्त-स्वरभक्तीनां पूर्वांगत्वं निषिध्य कुत्रचित् पृथक्त्वं विधत्ते।**"

१३. सिद्धान्त-शिक्षा (म०पां०सं० १०१२)—इस शिक्षा का कर्त्ता एवं व्याख्याता श्रीनिवासाध्वरीन्द्र है।[1] इसमें ७४ श्लोक हैं। यह भी तैत्तिरीय शिक्षा है। इसका रचनाकाल लगभग १३वीं ई० शताब्दी है।

इसमें ककारादि क्रम से विभिन्न ध्वनियों वाले शब्दों का अनुक्रम संकलित है। तद्यथा—**ककारादिः कमिष्यन्ते स्यादमुं लोकमुत्तरः। कट-धातोः कडित्याहुरश्विभ्यां परितः कृतम्॥ ४५॥**

वेद में विकल्प से 'त्वम्' का उच्चारण 'त्वङ्' के रूप में करने का विधान है।[2] यही इसकी विशेषता है।

इसमें भट्टभास्कर मिश्र (तै०सं० भाष्यकार) और गंगेश (प्रसिद्ध-नव्यन्यायाचार्य) नाम मिलते हैं तथा तै०प्रा० के भाष्यद्वय एवं व्यासशिक्षा इसमें उद्धृत हैं।

१४. कालनिर्णय-शिक्षा (म०पां०सं० ८९१, ८९२)—यह प्रातिशाख्यों के बाद की कृति है।[3] बर्नेल का मत है कि इसका कर्त्ता सायण है।[4] इस पर मुक्तीश्वराचार्य ने "कालनिर्णय-दीपिका" नाम की टीका लिखी है।

व्यासशिक्षा में इस शिक्षा का एक श्लोक मिलता है। तै०प्रा० के १.३७; १८.१ आदि पर दोनों भाष्यों में इसके श्लोक मिलते हैं।

१५. पारिशिक्षा[5] (म०पां० सं० ९२४)—यह पाराशरी शिक्षा से भिन्न

१. श्रीनिवासाध्वरीन्द्रेण चतुष्कुल-सुधांशुना। श्लोकाः सिद्धान्तशिक्षायां चतुःसप्ततिरीरिताः। श्रीनिवासाध्वरीन्द्रविरचिता सिद्धान्त-शिक्षा-व्याख्या समाप्ता।

२. त्वन् माह्यर्वाङ् ततो विश्वङ् अवाङ् नतौ सदा। शिङ्ते वृङ्ते स्म मृङ्ताम् च युङ्ध्वं वृङ्धङ् धिङ् आस्तथा॥ ५३॥ व्याख्यात्वम् इत्यस्य वा ङ्कारोऽन्तादेशश्छान्दस इत्यन्त्योऽर्थः।

३. प्रातिशाख्यादिशास्त्राणि मया वीक्ष्या यथामति। वेदतत्त्वावबोधार्थमिह कालो निरूप्यते॥

४. ऐन्द्र स्कूल ऑफ ग्रामेरियन्स-पृ० ४९।

५. इस शिक्षा का मूलपाठ कौण्डिन्यायनशिक्षा' के परिशिष्टों में प्रकाशित है (पृ० ८३०-८३८)।

बृहत्काय शिक्षा है। इसका कर्त्ता 'पारि'मुनि है। रचनाकाल लगभग १५वीं शताब्दी ई० है। इस पर 'यजुष-भूषण'[1] नाम की विस्तृत व्याख्या भी है।[2] यह भारद्वाज, व्यास आदि ९ शिक्षाओं का अनुसरण करती है।[3]

इसके ५, १०, ११वें अध्यायों में क्रमशः द्वित्त्व, मात्रा, स्वराघात विषय मुख्यतः प्रतिपादित हैं। इसके द्वित्त्व प्रकरण में एक विशेष विधि मिलती है, जो कि अन्यत्र दिखाई नहीं पड़ती है। वह यह है कि 'प्रत्यङ्ङात्मा' आदि में जो दो-दो पञ्चम वर्ण लिखे जाते हैं, उनका एक वर्ण के समान ही उच्चारण करना चाहिये—"**ह्रस्वात् परो नाद इह द्विरूपो वर्णक्रमे तं सकृदुच्चरेद् ज्ञः, ह्रस्वात् परो नादोऽवसाने पञ्चमो वर्णो द्विरूपवर्गो भवति, तथापि वर्णक्रमे वर्णक्रमोक्तिकाले तं नादं सकृदेकवारमुच्चरेद् ब्रूयाद्**" (पृ० १७०)। इस प्रकार का वर्णन 'व्यासशिक्षा' (२०.१०) पर भी मिलता है। यजुषभूषण में एक स्थान पर अक्षर की निरुक्ति दी गई है कि "**न क्षरन्तीत्यक्षराणि, क्षरणमन्यांगतया चलनम्**" अर्थात् जो दूसरे के अंग (अधीन) होकर नहीं चलता, वह अक्षर कहलाता है। इस शिक्षा का ९वाँ श्लोक तै०प्रा० १.२ पर, १२वाँ श्लोक तै०प्रा० २१.१ पर व्याख्याद्वय में उद्धृत हैं।

निम्न चार शिक्षाओं की पाण्डुलिपि भी सम्प्रति अप्राप्त है—

१. तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित पाणिनि-शिक्षा।

२. बोधायन-शिक्षा।

३. वाल्मीकि-शिक्षा।

४. हारित-शिक्षा।

१. सतां मुदं सम्प्रति पारिशिक्षाव्याख्यानभूता हृदयंगमेयम्। विलक्षणा यदुषभूषणाख्या-कृतिर्मदीया वितनोतु कामम्॥ ४॥

२. यह व्याख्या तै०ब्रा० को उद्धृत करती है।

३. साम्प्रतिकजनान्दुरवबोधभारद्वाज-व्यास-पारि-शम्भु-कौहल-हारित-बोधायन-वासिष्ठ-वाल्मीकि-प्रभृतिमुनिगणविनिर्मितशिक्षादिग्रन्थानुसारेण.....प्रतिजानीते।

परिशिष्ट–२

वर्णान्तरत्व के सिद्धान्त[1]

—उदयनाचार्य

वाक्‌तत्त्व (भाषा) एक ऐसा अलौकिक साधन है, जिससे मनुष्य को मानवता प्राप्त होती है, ज्ञानवर्धन होता है, मोक्ष की प्राप्ति होती है, देवत्व, ऋषित्व एवं वैदुष्य आदि उपलब्ध होते हैं, एक श्रेष्ठ समाज व राष्ट्र का निर्माण हो सकता है या संगठित हो सकता है। वाणी की महिमा का अधिक वर्णन क्या करें, इसमें तो सम्पूर्ण संसार समाया हुआ है। इस दिव्य ज्योति के विना निखिल जगत् घोर अन्धकारमय दीखता है। ऐसी महिमामण्डित वाणी वाक्यों के रूप में प्रकट होती है। वे वाक्य शब्दों में एवं शब्द वर्णों में विभाजित होते हैं, यह वाक्तत्त्वविद् मनीषियों का निर्णीत सिद्धान्त है। वाक्य के अन्दर शब्दों तथा शब्दों में वर्णों की जो परिकल्पना की जाती है, उसके पीछे बहुत बड़ा मनोविज्ञान एवं भाषाविज्ञान छिपा हुआ है। यहाँ हम यह विचार करने का प्रयत्न करते हैं कि एक वर्ण अन्य वर्णों से भिन्न वा वर्णान्तर किस नियम से बना अर्थात् वर्णों की परिगणना के मूलभूत सिद्धान्त क्या हैं?

वर्णों के वर्णान्तरत्व को समझने के लिए शब्दोत्पत्ति के प्रकार को पहले समझना होगा। महर्षि कणाद कहते हैं कि—**''संयोगाद् विभागाच्च शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः''** (वैशेषिक० २.२.३१) अर्थात् भेरी–दण्ड, कुठार–काष्ठ आदि पदार्थों के संयोग से एवं काष्ठ, वस्त्र आदि के विभाग से भी ध्वनि निष्पन्न होती है और वीचीतरंगन्याय[2] से शब्द से शब्द की उत्पत्ति

१. यह लेख 'वेदवाणी' जुलाई एवं अगस्त २०१५ के अंकों में प्रकाशित है।

२. निश्चल जल में जब हम किसी वस्तु को फेंक देते हैं, तब जल में तरंग उत्पन्न होता है। वह तरंग दूसरे तरंग को उत्पन्न कर स्वयं विलीन हो जाता है, और वह तीसरे तरंग को उत्पन्न करता है। वैसे ही तीसरा–चौथे को उत्पन्न करता हुआ तरंगों का क्रम बनता जाता है। इसे वीचीतरंग न्याय कहते हैं। प्रकृत में उत्पन्न शब्द दूसरे शब्द को उत्पन्न कर स्वयं नष्ट हो जाता है। वैसे ही आगे क्रम चलता जाता है।

होती है। यहाँ यह ध्यातव्य है—संयोग, विभाग जिन पदार्थों में घटित होते हैं, उन पदार्थों के गुण, धर्म और आघातादि के बल के भेद से शब्दों (अव्यक्त ध्वनियों) में भी विभिन्नता आती है। ध्वनियाँ दो प्रकार की होती हैं—१. अव्यक्तध्वनि, २. व्यक्तध्वनि (वर्णात्मकध्वनि)। भेरीदण्डादि के आघात से उत्पन्न ध्वनियाँ अव्यक्तध्वनियाँ हैं। वर्णात्मकध्वनि मुखप्रदेश से उत्पन्न होती है। अव्यक्तध्वनियों के भेद के समान ही व्यक्तध्वनियों में भी स्थान एवं करणों के भेद से, संयोगभेद से तथा वायु के आघात आदि के भेद से भिन्नता लक्षित होती है। अर्थात् स्थान, करण, आभ्यन्तरप्रयत्न एवं बाह्ययत्नों के भेद से व्यक्तध्वनियों में भिन्नता उत्पन्न होती है। इस भिन्नता के कारण ही उन व्यक्तध्वनियों को वर्ण कहते हैं।[1] क्योंकि 'उ+अ+ऋण:' के संयोग से 'वर्ण' शब्द बनता है [उ+अ+ऋणः=व+ऋणः (गतः, प्राप्तः)=वर्णः][2]। इसका भाव यह है कि जो ध्वनि (नाद) अ, उ....इस प्रकार की भिन्नता (ध्वनिविशेषता) को प्राप्त कर लिया है, वही 'वर्ण' कहलाता है। इस प्रकार ध्वनिसामान्य (नाद) का ध्वनिविशेष में परिवर्त्तित होना ही वर्णों का वर्णत्त्व है। यहाँ उकार एवं अकार वर्णमात्र के उपलक्षक हैं। उपलक्षणत्व एक वर्ण से भी सिद्ध हो सकता है। अतः अकारमात्र को सभी वर्णों का उपलक्षक मानेंगे तो अ+ऋण='अर्णः' शब्द बनता है, जो कि वर्णवाची है (द्र० वाचस्पत्यम्–अर्णः)। वर्णशब्द में अकार के साथ उकार का उल्लेख उपलक्षणत्व का व्याख्यान जानना चाहिए।

वर्णविभाजन का स्पष्ट उल्लेख सर्वप्रथम हमें ऐतरेयारण्यक में मिलता है—**''यो वै तां वाचं वेद यस्या एष विकारः स सम्प्रतिवित्। अकारो वै सर्वा वाक्, सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपी भवति''** (ऐ०आ० २.३.६)। एक ही अवर्णरूपी वाणी[3] स्पर्श, ऊष्मादि से व्यक्त होती हुई भिन्न–भिन्न रूपों में परिवर्त्तित होती है। यहाँ स्पर्श शब्द से कण्ठादि स्थान एवं जिह्वादि करणों का परस्पर संयोग–विभागरूप अन्तःप्रयत्न (आस्यप्रयत्न) रूपी अर्थ ग्राह्य है। ऊष्मशब्द बाह्ययत्नों का उपलक्षक है। अब उस वचन का तात्पर्य यह हुआ कि एक ही ध्वनि (नाद) स्थान, करण

१. पृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्यं हि वर्णमिच्छन्त्याचार्याः (काशिका–ऐ औ च्)।

२. 'उ+अ' के यणादेश से 'व' बनता है, 'व' का 'ऋण' के साथ गुणैकादेश से वर्ण बनता है।

३. एकाक्षरा वै वाक् (जै०ब्रा० २.३९२, ४२२; ३.२९४; ताण्ड्यब्रा० ४.३३)।

और उभयविधप्रयत्नों की भिन्नता से विभिन्न ध्वनिविशेषों (भिन्न-भिन्न वर्णों) में परिवर्त्तित होती है। इसे ही महर्षि पाणिनि ने कहा—"**आकाश-वायुप्रभवः शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः। स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः**" (पाणिनीयशिक्षा-१)।

भर्तृहरि ने भी कहा है कि—

लब्धक्रियः प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्त्तिना।

स्थानेष्वभिहितो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते॥ (वा०प०ब्रह्म० १०८)

जो भेदरहित नाद (अनानाभूत ध्वनिसामान्य) स्थानादियों में प्रविभक्त होकर वर्णत्व (नानात्त्व अर्थात् ध्वनिविशेषत्व) को प्राप्त होता है, वही वर्ण (व्यक्तध्वनि) कहलाता है। अर्थात् अव्यक्तध्वनि का अत्व, इत्व, उत्व, कत्व, गत्व आदि व्यक्तध्वनि के रूप में परिवर्तित होना ही वर्णों का वर्णत्व है।

तस्य प्राणे[1] च या शक्तिर्या च बुद्धौ व्यवस्थिता[2]।

विवर्तमाना स्थानेषु सैषा भेदं प्रपद्यते॥ (वा०प०ब्रह्म० ११७)

शब्दः[3] प्रकृतिः सर्ववर्णानाम्, तस्य रूपान्यत्वे वर्णान्यत्वम्[4]।

(तै० प्रा० २२.१, २)

तत्तद्वर्णोत्पादकत्वेनाभिमतवायुसंयोगनिष्ठं तत्तद्वर्णजनकताया व्यञ्जकताया वाऽवच्छेदकं वैजात्यम् (कत्त्वादिविरुद्धधर्मम्) आदायैव ककारो गकार इत्यादिप्रतीतिवैलक्षण्यसम्भवात्।

(वै०भू०सा०, अखण्डस्फोटनिर्णयः)

इन वचनों में और ऐतरेय आरण्यक (२.३.६) में कथित वर्णविभाजन के सिद्धान्त को ही अपना कर पाणिनि मुनि ने सूत्रप्रणयन किया है कि—"**स्थानकरणप्रयत्नपरेभ्यो वर्णास्त्रिषष्टिः, चतुःषष्टिरित्येके**" (पा०शि० ४,५)। स्थान, करण और उभयविध प्रयत्नों के भेद से ही वर्णों में भिन्नता आती है। उसी भिन्नता के कारण वर्णों का परिगणन होता है। जिससे वे वर्ण तेरसठ (६३) या चौंसठ (६४) बनते हैं। श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षा

१. प्राणे=नादे। २. मध्यमा वागिति भावः।

३. शब्दः=नादः, अव्यक्तध्वनिः।

४. तस्य=नादस्य स्थानगुणधर्मान्यत्वे वर्णान्यत्वं भवतीति भावः।

में भी कहा गया है—"**तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः॥ स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः। इति वर्णविदः प्राहुर्निपुणं तन्निबोधत**" (९, १०)॥ यहाँ स्पष्टतया कहा गया है कि वर्णविभाजन के नियम पांच प्रकार के हैं—१. स्वर, २. काल, ३. स्थान, ४. (अन्तः)प्रयत्न और ५. अनुप्रदान (बाह्ययत्न)।

वर्णों का विभाजन मुख्यतया दो प्रकार से किया गया है—१. स्वर (अच्), २. व्यञ्जन (हल्)। इस विभाजन के कारण ये हैं कि—(अ) स्वर किसी अन्य वर्ण की सहायता के विना ही स्वयं स्वतन्त्ररूप से उच्चारित होने में पूर्ण समर्थ हैं जबकि व्यञ्जन स्वरों की सहायता से ही उच्चरित होते हैं। (आ) दूसरा कारण यह भी है कि स्वरों के उच्चारण में स्थान एवं करणों का परस्पर स्पर्श नहीं होता, जबकि व्यञ्जनों के उच्चारण में उनका स्पर्श होता है। (इ) इन दो वर्गों में तीसरा भेद यह है कि स्वर उदात्तादि गुणों से युक्त होते हैं, जबकि ये गुण व्यञ्जनों में नहीं रहते। इस प्रकार के विभेदों के कारण सभी वर्णों को सर्वप्रथम स्वर तथा व्यञ्जन के रूप में विभक्त किया गया है। स्वर वर्णों को पुनः द्विधा विभाग किया गया है—१. समानाक्षर (=शुद्धस्वर, सिम्), २. सन्ध्यक्षर (मिश्रितवर्ण) (द्र०ऋ० प्रा० १.१,२; वा०प्रा० १.४४, ४५; तै०प्रा० १.२, ऋ०त० १.२)। समानाक्षर वर्ण वें हैं जो किसी अन्य वर्ण की सन्धि से उत्पन्न न होकर समान (एक) स्वर से उत्पन्न होते हैं (द्र०तै०प्रा० १.२ पर वैदिकाभरण भाष्य)। ए, ऐ, ओ, औ, वर्ण दो-दो शुद्ध स्वर वर्णों की सन्धि से उत्पन्न होते हैं, अतः इन्हें सन्ध्यक्षर कहा गया है। पहिले समानाक्षरों (शुद्धस्वरों) को स्थान दिया है, तत्पश्चात् सन्ध्यक्षरों को।

अब '**स्थानकरणप्रयत्नपरेभ्यो वर्णास्त्रिषष्टिः**' (४) के आधार पर क्रमशः वर्णविभाजन का अवलोकन करते हैं—

स्थानभेद से वर्णविभाजन—नाभिप्रदेश से उत्थित वायु कण्ठप्रदेशीय स्वरयन्त्र में आघात करने के पश्चात् नादयुक्त होकर जब मुख में पहुँच जाता है, तब जिह्वादि करणों की सहायता से वह कण्ठ, तालु आदि स्थानों को प्राप्त होता है। इस प्रकार स्थान भेद से एक ही नादध्वनि में भिन्नता आती है। उस भिन्नता से युक्त वर्णों को कण्ठ्य, तालव्य, मूर्धन्य, दन्त्य और ओष्ठ्य आदि के रूप में विभाग किया गया है। इस प्रकार वह नादध्वनि स्वरों में कण्ठादि के भेद से क्रमशः अ, इ (ए, ऐ), ऋ, लृ, उ (ओ, औ)

के रूप में परिवर्त्तित हुई। व्यञ्जनों में भी क्रमश: कवर्ग-ह-विसर्ग, चवर्ग-य-श, टवर्ग-र-ष, तवर्ग-ल-स-व और पवर्ग के रूप में विभाजित हुई।

करणभेद से वर्णविभाजन—स्थानत: वर्णविभाजन के अन्तर्गत ही करणत: वर्णविभाजन आ जाता है, यह कोई पृथक् रूप से वर्णविभाजन का कारक नहीं है। क्योंकि केवल कण्ठादि स्थानों से या केवल जिह्वादि करणों की चेष्टा से वर्ण उत्पन्न नहीं होते, अपितु दोनों के सम्मिलित प्रयत्न से ही वर्ण उत्पन्न होते हैं। कण्ठादि स्थानों में जिह्वामूलादि[1] करणविशेषों के सम्मिलित प्रयत्न (स्पर्शादि) से ही कण्ठ्यादि वर्ण उत्पन्न होते हैं, अत: कण्ठ्यादि विभाजन में दोनों की पात्रता है। इसलिए सम्भवत: श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षा में करणत: विभाजन का उल्लेख नहीं है। स्वतन्त्ररूप में करणों के आधार पर वर्णविभाजन न होने पर भी वर्णों का क्रमविन्यास करणों के क्रम से ही निर्णीत किया गया है। इसके लिए २.८ सूत्र के विशेष व्याख्यान के १२०-१२१ पृष्ठ विशेषत: द्रष्टव्य हैं।

प्रयत्नत: वर्णविभाजन—शिक्षासूत्रस्थ (४) प्रयत्न शब्द से अन्त:प्रयत्न एवं बाह्ययत्न दोनों ही ग्राह्य हैं। अन्त:प्रयत्न मुख में होते हैं तो बाह्ययत्न नाभि से स्वरयन्त्र तक होते हैं। ये दोनों भिन्न-भिन्न देशीय होने के कारण इनमें भेद किया गया है। इनकी भिन्नता से वर्णों में भी भिन्नता आ जाती है। अत एव श्लोकात्मक शिक्षा में दोनों का पृथक्-पृथक् उल्लेख है—१. प्रयत्नत: (=अन्त:प्रयत्नत:), २. अनुप्रदानत: (यह बाह्ययत्नों का उपलक्षक है)।

१. अन्त:प्रयत्नत: वर्णविभाजन—यहाँ अन्त:शब्द का अर्थ अन्दर नहीं है, अपितु समीप है। जो यत्न वर्णोत्पत्ति के समीप में रहते हैं, उन्हें अन्त:प्रयत्न कहते हैं अर्थात् जिन यत्नों के समनन्तर ही वर्णोत्पत्ति होती है या जो यत्न वर्णोत्पादन में साक्षात् कारण बनते हैं, वे ही अन्त:प्रयत्न कहलाते हैं। वे पांच हैं—१. स्पृष्टता, २. ईषत्स्पृष्टता, ३. ईषद्विवृतता, ४. विवृतता, ५. संवृतता।

अवर्ण, कवर्ग, हकार और विसर्जनीय ये सभी कण्ठ्य वर्ण समान

१. कण्ठ्य=जिह्वामूल, तालव्य-जिह्वामध्य, मूर्धन्य-ऊर्ध्वजिह्वोपाग्र, दन्त्य-निम्नजिह्वोपाग्र, दन्त्य-जिह्वाग्र (व वर्ण का स्थान और करण-दन्त्य-अधरोष्ठ), उत्तरोष्ठ्य-अधरोष्ठ, नासिक्य-नासामूल।

स्थान (कण्ठ-१.२) और समान करण (जिह्वामूल-२.३) से उच्चरित होते हुए भी इनका अन्त:प्रयत्न भिन्न-भिन्न होने के कारण इनमें भिन्नता आती है। ह्रस्व अवर्ण का अन्त:प्रयत्न संवृत (३.१२) है तो दीर्घ और प्लुत अवर्ण का विवृत (३.११) है, वैसे ही कवर्ग स्पृष्टप्रयत्न वाले (३.४) हैं, हकार विवृत प्रयत्नक है, विसर्जनीय अस्पृष्ट स्थितप्रयत्न[1] वाला है। तालव्य (इवर्ण, चवर्ग, यकार, शकार-१.८) वर्णों का भेदत्व भी दिखाते हैं—इवर्ण का अन्त:प्रयत्न विवृत है (३.८), चवर्ग स्पृष्टप्रयत्नक है (३.४), यकार ईषत्स्पृष्टता (३.५) वाला है तो शकार ईषद्विवृतता (३.६) वाला है। इसी प्रकार मूर्धन्य, दन्त्य आदि वर्णों में भी भेद जानना चाहिए।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि कवर्गादि पच्चीस वर्णों का अन्त:प्रयत्न स्पृष्टता (३.४) ही है पुनरपि स्थान एवं करणों के भेद से उनमें भिन्नता आई है अर्थात् वर्गात्मक भेद उत्पन्न हुआ है। ह्रस्व अवर्ण को छोड़कर शेष सभी स्वरों (अचों) का अन्त:प्रयत्न विवृत है, पर स्थान, करणों के भेद से ही इनमें वर्णान्तरता आई है। इसी प्रकार अन्तस्थ एवं ऊष्मादि में भी समझ लेना चाहिए।

२. बाह्ययत्नत: वर्णविभाजन—शब्दोत्पत्ति की प्रक्रिया बाह्ययत्न से आरम्भ होती है,[2] तत्पश्चात् अन्त:प्रयत्न और उसके बाद शब्दोत्पत्ति होती है अर्थात् बाह्ययत्न शब्द का साक्षात् कारण नहीं है, अपितु परम्परया कारण हैं। बाह्ययत्न अन्त:यत्नों के कारण हैं तो अन्त:यत्न शब्द के कारण हैं। बाह्ययत्न एवं शब्दोत्पत्ति के मध्य में अन्त:यत्न का व्यवधान है। इसी व्यवधान के कारण ये यत्न शब्द से दूर व बाह्य कहलाते हैं। यहाँ बाह्य का अर्थ बाहर नहीं, अपितु दूर है। बाह्ययत्न बारह (१२) प्रकार से विभक्त हैं—१. विवार, २. संवार, ३. श्वास, ४. नाद, ५. घोष, ६. अघोष, ७. अल्पप्राण, ८. महाप्राण, ९. उदात्त, १०. अनुदात्त, ११. स्वरित, १२ काल[3]। उदात्तादि स्वर और काल बाह्ययत्नों के अन्तर्गत होने से वर्णविभाजन के निमित्तों में इनकी पृथक्

१. द्र० शिक्षाशास्त्र ३.१३ का शिक्षातत्त्वालोकभाष्य (पृ० १२९)

२. यह एक व्यवहार के अनुभूत विषयक सामान्य कथन है, यथार्थत: शब्दोत्पत्ति की प्रकिया आत्मा से आरम्भ होती है।

३. काल के बाह्ययत्नत्व के लिए शिक्षातत्त्वालोकभाष्य (८.३१, पृ० १७१-१७२) द्रष्टव्य है।

गणना करने की आवश्यकता नहीं है, जैसे कि श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षा (९.१०) में की गई है।

स्पर्शसंज्ञक पच्चीस वर्णों का अन्त:प्रयत्न समान होने पर भी स्थान और करण भेद से वर्गों में विभक्त हुए हैं, यह पूर्व में लिख चुके हैं। एक-एक वर्ग के अन्त:यत्न, स्थान एवं करण समान होने पर भी उन्हें पांच-पांच वर्णों के रूप में विभक्त करने वाला यत्न बाह्ययत्न ही है। वह इस प्रकार है—

प्रत्येक वर्ग के प्रथम, द्वितीय वर्ण विवृतकण्ठ, श्वासानुप्रदान और अघोष बाह्ययत्न वाले हैं (४.२), जब कि तृतीय, चतुर्थ एवं पञ्चम वर्ण संवृतकण्ठ, नादानुप्रदान और घोष बाह्ययत्न वाले हैं (४.४)। इस प्रकार प्रत्येक वर्ग के प्रथम-द्वितीय तथा तृतीय, चतुर्थ एवं पञ्चम वर्ण भिन्न-भिन्न हो गये। पुन: प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय, चतुर्थों में भी क्रमश: एक अल्पप्राण तथा दूसरा महाप्राण (४.३,५) बाह्ययत्नों के कारण वर्णान्तरता आई। तृतीय एवं पञ्चम वर्णों के उक्त सभी बाह्ययत्न समान होने पर भी आनुनासिक्यधर्म (४.६, ७) से पञ्चम वर्ण तृतीयों से वर्णान्तर हुए। अन्तस्थ तथा ऊष्मवर्णों के भेदक तो स्थान और करण ही हैं। क्योंकि अन्त:स्थ वर्णों का अन्त:प्रयत्न (ईषत्स्पृष्टत्व ३.४) और बाह्ययत्न (संवृतकण्ठ, नादानुप्रदान, घोषत्व ४.४) समान ही हैं। ऊष्म वर्णों में भी श, ष, स वर्णों का अन्त:प्रयत्न ईषत्विवृत-करण (३.६) है, तो हकार विवृतकरण है। वैसे ही श, ष, स वर्णों का बाह्ययत्न विवृतकण्ठादि (४.२) हैं, तो हवर्ण के संवृतकण्ठादि (४.४) हैं। इस प्रकार सभी वर्णों के वर्णान्तरत्व को स्पष्टतया समझने के लिए शिक्षाशास्त्र के परिशिष्ट-९ एवं १० में दी गई दोनों तालिकाओं का अवलोकन करें।

कालादि से वर्णविभाजन—काल एवं उदात्तादि के कारण प्राप्त वर्णान्तरता केवल स्वर (अच्) वर्णों में ही देखी जाती है। सानुनासिकत्व तथा निरनुनासिकत्व धर्म से प्राप्त वर्णान्तरत्व अज्वर्णों और य, ल, व वर्णों में देखा जाता है। वह इस प्रकार है—अ, इ, उ आदि वर्ण स्थान की भिन्नता से ही वर्णान्तरत्व को प्राप्त होते हैं। अकारादि अज्वर्ण ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के रूप में काल की भिन्नता से भिन्न-भिन्न हो जाते हैं—**ऊकालो-ऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुत:** (अष्टा० १.२.२७)। और प्रत्येक अज्वर्ण उदात्त, अनुदात्त, स्वरितरूप बाह्ययत्न के कारण पुन: तीन प्रकार से विभक्त होते हैं। वे

सानुनासिकत्व एवं निरनुनासिकत्व रूपी बाह्ययत्नों के कारण पुन: विभक्त होते हैं। इस प्रकार अ, इ, उ, ऋ ये चार वर्ण अठारह-अठारह वर्ण बनते हैं (६.१, २, ३) और शेष लृ एवं सन्ध्यक्षर बारह-बारह वर्ण बनते हैं (६.४, ५, ७, ८)।

नाभि से उत्थित वायु नाद के रूप में परिवर्त्तित होकर वह एक ही अव्यक्तध्वनि भिन्न-भिन्न वर्णों (व्यक्तध्वनियों) के रूप में परिवर्त्तित होती है, इसे हमने जान लिया। यहाँ और एक महत्त्वपूर्ण विषय विचार करने योग्य है कि महर्षि पाणिनि के द्वारा उक्त "**वर्णास्त्रिषष्टि**" तिरसठ वर्णों की वर्णमाला में ऊपर वर्णित वर्णों में से किन-किन का ग्रहण होता है? अर्थात् वर्णमाला का स्वरूप क्या हो? यह मुख्यतया विवेचनीय विषय है।

प्रसिद्ध वर्णमाला के अनुसार 'अ, इ, उ, ऋ' इन चार स्वरवर्णों के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत भेद से बारह वर्ण बनते हैं, लृ-स्वर के ह्रस्व और प्लुत भेद से दो वर्ण तथा 'ए, ऐ, ओ, औ' इन सन्ध्यक्षरों के दीर्घ एवं प्लुत भेद से आठ वर्ण बनते हैं। कुल मिलाकर स्वर (अच्) वर्ण (१२+२+८=) बाईस (२२) हो जाते हैं। इस संख्या में २५ स्पर्श वर्ण तथा चार अन्तस्थ, चार ऊष्म, आठ अयोगवाह (विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार और चार यम) को मिलाकर (२२+२५+४+४+८=) तिरसठ (६३) वर्ण पूरे हो जाते हैं।

यह वर्णमाला परम्परा से लोक में एवं सभी प्रामाणिक आचार्यों, शिष्टपुरुषों के द्वारा स्वीकृत होने पर भी कुछ सुधी विचारकों के मन में यह आशंका बनी रहती है कि काल रूपी गुण को भेदक मानकर अज्वर्णों के ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुतों की गणना की गई है, परन्तु सानुनासिक, निरनुनासिक और संवृत आदि गुणों के आधार पर वर्णों की गणना क्यों नहीं की जाती? इसमें कुछ लोगों का आग्रह भी रहता है। उनके अनुसार वर्णमाला इस प्रकार होनी चाहिए—

'अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ' इन नौ वर्णों के सानुनासिक और निरनुनासिक भेद से १८ हो जाते हैं। निरनुनासिक अ तथा आ वर्णों के क्रमश: संवृत और विवृतरूपी अन्त:प्रयत्न से भिन्न होने के कारण 'अ' से आ वर्ण की पृथक् गणना करने से स्वर वर्ण १९ हो जाते हैं। इस संख्या में २५ स्पर्श वर्ण मिलाने से (१९+२५=) ४४ वर्ण बनते हैं। अन्त:स्थ वर्णों (य, र, ल, व) में से रेफ को छोड़ शेष तीनों का सानुनासिक एवं निरनुनासिक

भेद से (य्, यँ्, ल्, लँ्, व्, वँ्+र्) अन्तस्थ वर्ण सात (७) हो जाते हैं। श, ष, स, ह, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और अनुस्वार इन ८ ऊष्म वर्णों को एवं चार यमों को मिलाकर (४४+७+८+४=) ६३ वर्ण पूरे हो जाते हैं।

उनका तर्क यह है कि पाणिनि ने "**स्थानकरणप्रयत्नपरेभ्यो वर्णास्त्रिषष्टिः**" सूत्र में स्थान, करण एवं प्रयत्न (अन्तः व बाह्य) को ही वर्णों के भेदक माने हैं, न कि काल को। इसलिए ह्रस्वादि की अपेक्षा सानुनासिक आदियों का परिगणन ही उचित है। अब इस मत की समीक्षा की जाती है।

इस प्रकार के परिगणन की परम्परा किसी भी संस्कृतादि भारतीय भाषाओं में नहीं है। लोकप्रमाण[१] के सामने पाणिन्यादि सभी आचार्य नतमस्तक हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में यह पक्ष अपने आप निरस्त हो जाता है। साथ में इस वर्णमाला को प्रमाणित करने के लिए किसी प्रामाणिक आचार्य का पुष्टीकरण भी प्राप्त नहीं होता। पुनरपि इस प्रकार का विभाजन प्रचलित न होने में क्या कारण रहे होंगे? उन पर विचार तो करना ही पड़ेगा, नहीं तो यह विषय सभी के लिए सन्देहास्पद बना ही रहता है।

पाणिनि के द्वारा उक्त स्थान, करण और प्रयत्न रूपी वर्णविभाजन के हेतुओं में जो प्रयत्नशब्द है वह उभयविध प्रयत्नपरक है। काल भी बाह्ययत्नों के अन्तर्गत स्वीकृत है। इसके लिए पाणिनीयशिक्षा के ८.३०, ३१ सूत्र और इन सूत्रों का शिक्षातत्त्वालोकभाष्य विशेषतया द्रष्टव्य है। तो यहाँ 'काल को पाणिनी ने भेदक नहीं माना' यह कहना महती भूल होगी।

पहले कह चुके हैं कि स्वर वर्णों को समानाक्षर एवं सन्ध्यक्षरों में विभक्त किया गया है। समानाक्षरों का परिगणन करते हुए प्रातिशाख्यों में

१. एते स्वराः (ऋक्प्राति० १.३) की व्याख्या करते हुए आचार्य उव्वट लिखते हैं— "**ननु कथं वर्णसमाम्नायमनुपदिश्यैव-'अष्टौ समानाक्षराण्यादितः' इति (उच्यते)? उपदिष्टस्य हि एवमुपद्यते 'आदितः' इति, नानुपदिष्टस्य....नैष दोषः। उपदिष्टो वर्णसमाम्नायो लौकिको विद्यते। तत्र यावन्तो वर्णा अस्यां शाखायामुपयोक्ष्यन्ते तावतां संज्ञां कर्तुं तमेव (लौकिकं) वर्णसमाम्नाय-मुररीकृत्याह-'अष्टौ समानाक्षराण्यादितः'....(उवटभाष्यम्-तत्रैव)**" इन शब्दों से स्पष्ट है कि लोक में प्रचलित वर्णसमाम्नाय को ही ऋक्प्रातिशाख्यकार ने स्वीकार किया था। इसी प्रकार अन्यप्रातिशाख्यकार एवं पाणिन्यादि के विषय में भी जानें।

कहा गया है कि 'अ इति आ इति आ३ इति, इ इति, ई इति, ई३ इति....' (वा०प्राति० ८.३, अपि च द्र० ऋ० तं० १.२ आदि)। यहाँ स्पष्टरूप से ह्रस्वादि कालों को भेदक माना गया है। प्रातिशाख्यों के इस वर्णन से यह भी स्पष्ट है कि पाणिनि से पूर्व ही स्वरवर्णों में ह्रस्वादि वर्णों की गिनती होती थी।

इस विषय में आचार्य पाणिनि की भी पूर्ण अभिमति थी। वह इस प्रकार है—लोक में एकमात्रा आदि कालों को भेदक मान कर ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत वर्णों का प्रचलन था। इस भेदकत्व से व्याकरण का कार्य चल नहीं सकता, इसलिए व्याकरण में अकारादि वर्णों को जाति निर्देश माना जाता है। इस जातिनिर्देश के कारण जहाँ–जहाँ अतिव्याप्ति दोष आता है, वहाँ–वहाँ आचार्य तपरकरणरूपी विशेषयत्न कर तत्कालों का ग्रहण कराते हैं,[१] और भिन्न कालों का वारण। तपरनिर्देश स्थलों पर सर्वत्र सानुनासिक एवं उदात्तादि गुणियों का ग्रहण अभीष्ट है, वे गुण वर्णों के भेदक नहीं हैं।

व्याकरणशास्त्र में उदात्तादि गुणों को भेदक एवं अभेदक दोनों पक्ष स्वीकारे गये हैं, पर अन्त में अभेदक पक्ष ही न्याय्य माना है—"**उभयमिदं गुणेषूक्तम्-भेदकाः, अभेदका इति। किं न्याय्यम्? अभेदका गुणा इत्येव न्याय्यम्। कुत एतत्? यदयम्—'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णा-मनङुदात्तः' इति उदात्तग्रहणं करोति। यदि भेदका गुणाः स्युः, उदात्तमेवोच्चारयेत्**" (म०भा० १.१.१, पृ० १७१)। इसी प्रकार सानुनासिक विषय में भी समझ लेना चाहिए—'**अणोऽप्रगृह्यस्याँण्**' सूत्र न बनाकर '**अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः**' (८.४.५६) बनाया गया है। अनुनासिक गुण अभेदक होते हैं, उनके अभेदकत्व में हेतु यह भी है कि लोक प्रचलित भाषा में सानुनासिक वर्णों का प्रयोग न के बराबर। जिन वर्णों का प्रयोग ही नहीं होता, उनका परिगणन वर्णमाला में करने का क्या प्रयोजन? अर्थात् सर्वथा निरर्थक।[२] प्रातिशाख्य, शिक्षा आदि ग्रन्थों में सर्वत्र अन्तःस्थ वर्ण

१. आकृतिग्रहणात्सिद्धम्.....एवञ्च कृत्वा तपराः क्रियन्ते-आकृतिग्रहणेनातिप्रसक्तमिति (म०भा० अइउण्, पृ० ९९)।

२. "**ननु चैङः सस्थानतरावर्ध एकारोऽर्ध ओकारः। न तौ स्तः। यदि हि तौ स्यातां तावेवायमुपदिश्येत्। ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते.....पार्षदकृतिरेषा तत्रभवताम्। नैव हि लोके नान्यस्मिन् वेदेऽर्ध एकारोऽर्ध ओकारोऽस्ति**" (म०भा० एओङ्)। इस प्रसंग

चार ही स्वीकारे गये हैं (द्र० ऋ०प्राति० १.९, तै०प्राति० १.८, वा०प्राति० ८.१५, ऋ०तं० १.२, वर्णरत्नप्रदीप शिक्षा १३ आदि)। इसमें किसी भी आचार्य का मतभेद नहीं है। अन्त:स्थों को सानुनासिक, निरनुनासिक भेद मानकर सात मानना अशास्त्रीय एवं परम्परा से भी विरुद्ध है। साथ में अव्यवहारिक भी है।

''**किं पुनरिदं विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायते, आहोस्वित् संवृतस्य....**'' (म०भा० अइउण्) की व्याख्या करते हुए प्रदीपकार कहते हैं कि—''**दुरवधारणत्वादुपदिष्टो विवृतो व्याख्यानेन विना न शक्यते ज्ञातुमिति प्रत्यक्षेऽप्यकारे प्रश्नोऽयं नासमञ्जस:।**'' इस पर उद्योतकार लिखते हैं कि—''**विवृतत्वादीनां श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्वा-भावादिति भाव:।**'' अर्थात् संवृत, विवृत आदि आस्यप्रयत्न (गुण) वक्ता के अनुभूत विषयक तो हैं, पर श्रोता के लिए वे गुण गृहीत ही नहीं होते। जो गुण अभिव्यक्त ही नहीं होते, उनके आधार पर वर्णमाला में 'अ, आ' के रूप में कैसे गणना कर सकते हैं? सर्वथा असम्भव। हाँ। कालभेदत्व को लेकर अवर्णादि सभी स्वरों को ह्रस्व, दीर्घादि के रूप में अवश्य विभाजित कर सकते। इसके लिए भाष्य की ये पंक्तियाँ भी अवलोकनीय हैं—

''**अकारस्य विवृतोपदेश कर्तव्य:......किञ्च कारणं न गृह्णीयात्? विवारभेदात्। किमुच्यते-विवारभेदादिति, न पुन: कालभेदादपि। यथैव ह्ययं (आकार:) विवारभिन्न:, एवं कालभिन्नोऽपि? सत्यमेवमेतत्। वक्ष्यति-तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् इत्यत्रास्यग्रहणस्य प्रयोजनम्-आस्ये येषां तुल्यो देश: प्रयत्नश्च, ते सवर्णसंज्ञा भवन्तीति। बाह्यश्च पुनरा-स्यात् काल:। तेन स्यादेव कालभिन्नस्य ग्रहणम्, न पुनर्विवार-भिन्नस्य**'' (म०भा० अइउण्)। यहाँ कहा गया है कि विवृत आकार के ग्रहण के लिए अकार को विवृत उपदेश करना पड़ेगा। अन्यथा संवृत अकार

से भी स्पष्ट है कि जिन वर्णों का लोकादि में प्रचुरमात्रा में प्रयोग नहीं होता, उनका परिगणन वर्णमाला में नहीं हो सकता। हाँ! जिन तेलुगु आदि दक्षिणभारतीय भाषाओं में अर्ध एकार और अर्ध ओकार का प्रयोग प्रचुर मात्रा में होता है, अत: उन भाषाओं की वर्णमाला में एकार एवं ओकार की अर्धमात्राएँ (ह्रस्वमात्राएँ) भी स्वीकृत हैं। अत: प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त ह्रस्वादि कालभिन्नों को त्यागकर, अत्यधिक स्वल्प मात्रा में (न के बराबर) प्रयुक्त सानुनासिक वर्णों का वर्णमाला में ग्रहण करना सर्वथा अनुचित एवं अशास्त्रीय परिकल्पना मात्र है।

से विवृत आकार भिन्न होने से गृहीत नहीं हो पायेगा। यह भेद (विवारभेदात्) कथन केवल सवर्णसंज्ञा के परिप्रेक्ष में ही है, न कि वर्णभेद के लिए। हाँ '**सत्य-मेवमेतत्**' कहकर भाष्यकार ने स्पष्टरूप से काल को भेदक माना है। कालभेद सवर्णसंज्ञा का बाधक नहीं है, क्योंकि वह बाह्ययत्न है। कालभेद के कारण ह्रस्व वर्णों से दीर्घादियों का ग्रहण नहीं हो सकता था, जिससे बहुत सारे दोष उत्पन्न होंगे। इन्हीं दोषों के निवारण के लिए पाणिनि को सवर्ण संज्ञा करनी पड़ी। जिससे कि कालभेद होने पर भी ह्रस्व वर्णों से दीर्घादियों का ग्रहण हो सके। इसलिए काल को भेदक न मानकर संवृत, विवृतों को भेदक मानना सर्वथा अपाणिनीय है। अपाणिनीयत्व से स्वयं पतञ्जलि भी भयभीत होते हैं—''**सिध्यति, अपाणिनीयं तु भवति**''।

जिस प्रकार संवृत, विवृत आदि गुण श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा गृहीत नहीं होने से वर्णान्तरत्व के कारक नहीं हो सकते, उसी प्रकार उदात्तादि गुण भी श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा गृहीत न होने[१] से वर्णान्तरत्व के कारण नहीं हो सकते। वर्णों के कालभेद (ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि) में तो वक्ता एवं श्रोता दोनों को ही भेद स्पष्ट प्रतीत होता है[२], इसलिए काल को भेदक माना गया है और संस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओं की वर्णमालाओं में कालभिन्नों को ही स्थान दिया गया है। वार्त्तिककार एवं महाभाष्यकार ने भी श्रुतिकृत् भेद को ही वर्णान्तरत्व में कारण माना है—''**श्रुतिश्चापि न भिद्यते (वार्त्तिक)-श्रुतिकृतश्चापि न कश्चिद् भेदो भवति**'' (म०भा० ८.२.२५)। अर्थात् चकाद्धि, चकाद्द्धि इत्यादि में व्यञ्जन परे रहते एक हल् या दो हलों के होने से कोई श्रुतिकृत्-भेद नहीं होता। यदि भेद होता तो वर्णान्तर हो जाता, जिससे 'चकाद्धि, चकाद्द्धि' शब्दों को भिन्न-भिन्न मानने की आपत्ति आती है।[३] अर्थात् शब्दान्तर के लिए वर्णभेद चाहिए, वर्णभेद के लिए श्रुतिभेद चाहिए। इसी प्रकार अन्यत्र भी कहा गया है''**श्रुतिभेदेऽसति किं प्रतिज्ञाभेद:**

१. इसके लिए लेखक का 'उदात्तादि स्वरों का स्वरूपविवेचन' लेख (परिशिष्ट-४) द्रष्टव्य है।

२. इसी को तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में 'रूपान्यत्वे वर्णान्यत्वम्' (२२.२) कहा गया है।

३. न चैव वायुसंयोग एव वाचकोऽपि किं न स्याद् (तस्मिन् कत्वगत्वादिविजातीय-धर्मा विद्यमानत्वाद्) इति वाच्यम्, प्रत्यक्षोपलभ्यमानककारादेरेव वाचकत्वस्यानु-भवसिद्धत्वात् (वै०भू०सा०, अखण्डस्फोटनिर्णय:)।

करिष्यति ?'' (म०भा० ७.१.७२) इसका तात्पर्य है—प्रतिज्ञात कार्य कहीं पर होने वा न होने से कोई श्रुतिभेद नहीं होता है तो वहाँ उस प्रतिज्ञात कार्य को नहीं करना चाहिए। इससे यदि प्रतिज्ञाभंग होता है, तो होने दो उससे क्या दोष होगा ? कुछ नहीं। निष्कर्ष यह है कि प्रतिज्ञात कार्य वहीं होता है, जहाँ कार्य सम्पन्न होने पर श्रुतिभेद हो। श्रुतिभेद न होने पर प्रतिज्ञात कार्य ही नहीं होता तो श्रुतिभेद के अभाव में वर्णान्तरत्व कैसे सम्पन्न होगा ? अर्थात् वर्णान्तरता के लिए श्रुतिभेद (रूपान्यत्व) अनिवार्य है।

श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः (म०भा० अइउण्)

जो प्रयोग (ध्वनि) के द्वारा अभिव्यक्त होता है, श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा उपलब्ध होता है, बुद्धि के द्वारा (अर्थ सहित) ग्रहण करने योग्य है और जिसका स्थान आकाश है, वही शब्द कहलाता है। यहाँ भी कहा गया है कि शब्द (वर्ण) वही है, जिसके गुण वक्ता के द्वारा अभिव्यक्त होते हों और श्रोता के द्वारा गृहीत होकर बुद्धि से भी गृहीत होते हों। जिसके गुण अभिव्यक्त नहीं होते अथवा श्रोता के द्वारा गृहीत नहीं होते वे शब्दत्व (वर्णत्व) को प्राप्त ही नहीं करते। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने भी कहा है—

विभजन् स्वात्मनो ग्रन्थीन् श्रुतिरूपैः पृथग्विधैः।
प्राणो वर्णानभिव्यज्य वर्णोष्वेवोपलीयते॥ (वा०प०ब्रह्म० ११५)

(नादसहित) प्राणवायु पृथक्-पृथक् प्रकार के श्रुतिरूपों से अर्थात् ह्रस्वादि कालकृत, स्थानकृत, प्रयत्नकृत भेदों के द्वारा अपनी ग्रन्थियों (विकारों) को विभक्त करता हुआ वर्णों को अभिव्यक्त कर वर्णों में ही विलीन हो जाता है। यहाँ वाक्यपदीयकार ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा है कि (पृथग्विधैः श्रुतिरूपैः) वर्णान्तरता श्रुतिभेद (रूपान्यत्व) से ही उत्पन्न होती है।

साक्षात् महर्षि पाणिनि ने भी कहा है कि—''**०स्थानाभिघाताद् ध्वनिरुत्पद्यत आकाशे, सा वर्णश्रुतिः, स वर्णस्यात्मलाभः**'' (८.१) कत्त्व, गत्त्वादि भेदरहित अव्यक्त नादध्वनि के कण्ठादि स्थानों में अभिघात होने से मुखाकाश में कत्व, गत्वादि भेदयुक्त (वर्णान्तरत्व के कारणभूत गुणों से युक्त) ध्वनि उत्पन्न होती है। वही वर्णश्रुति है अर्थात् श्रुतिकृद्भेद से युक्त ध्वनिविशेष अभिव्यक्त होता है, जो कि वर्णत्व का आत्मा है अर्थात्

श्रुतिकृद्भेद वर्णान्तरत्व का मूलभूत कारण है। अतः श्रुतिकृद्भेद के अभाव में वर्णान्तरत्व की कल्पना कदापि नहीं हो सकती।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में काल को स्पष्टशब्दों में भेदक माना गया है—

अनुप्रदानात् संसर्गात् स्थानात् करणविन्ययात्।
जायते वर्णवैशिष्यं परीमाणाच्च पञ्चमादिति॥ (२३.२)

नादादि अनुप्रदान (बाह्ययत्न) भेद से, संसर्ग भेद से, स्थानभेद से, करणविन्यासभेद से और मात्रादि परिमाण भेद (कालभेद) से वर्णवैशिष्ट्य अर्थात् वर्णान्तरत्व उत्पन्न होता है।

यू स्त्र्याख्यौ नदी (१.४.३)—**किं पुनरिदं दीर्घयोर्ग्रहणमाहोस्विद्ध्रस्वयोः ?** (म०भा० वहीं)। यदि काल अभेदक होता तो ह्रस्व के ग्रहण से दीर्घ का, दीर्घ के ग्रहण से ह्रस्व का ग्रहण हो ही जाता, अतः यहाँ प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। प्रश्न करने से ही स्पष्ट हो जाता है कि भाष्यकार भी काल को भेदक मानते हैं। काल को भेदक न मानने से ङिति ह्रस्वश्च, शेषो घ्यसखि इत्यादि सूत्रों में अनेकत्र ह्रस्व, दीर्घ आदियों के भेद व्यवहारों में अनेकों दोष और विसंगतियाँ उपस्थित होंगी। अतः काल को भेदक मानने की परम्परा शास्त्रीय एवं बुद्धिसंगत है।

पदक्रमविशेषज्ञो वर्णक्रमविचक्षणः।
स्वरमात्राविभागज्ञो गच्छेदाचार्यसंसदम्॥ (तै०प्राति० २४.६)

इयर्मि वाचममृताय भूषन् —(ऋ० ३.३४.२)
मैं वाणी का उपयोग अमरत्त्व की प्राप्ति के लिए करता हूँ।

परिशिष्ट – ३

यम-विवेचन

वैदिक वाङ्मय के अध्ययन-अध्यापन में वर्णों के उच्चारण को पर्याप्त महत्त्व दिया जाता रहा है और अब भी दिया जाता है। परन्तु उसके अध्ययन-अध्यापन की परम्परा के लुप्त होने के कारण शैक्षिक विद्या भी लुप्त होती गई। जिससे कुछ वर्णों की उच्चारण-विधि भी लुप्त हो गई अथवा विकृत हुई। जैसे कि—ऋ, लृ, ꣳ (ह्रस्वानुस्वार), ꣴ (दीर्घानुस्वार) और चार यम आदि-आदि। सम्प्रति केवल यमों की विवेचना मात्र प्रस्तुत करते हैं। क्योंकि ये यम प्रश्न-उपप्रश्नों से आक्रान्त होकर सबसे अधिक विवादास्पद बिन्दु बने हुये हैं। ये यम अयोगवाह के अन्तर्गत आते हैं, अतः यमों की विवेचना से पूर्व अयोगवाह की कुछ चर्चा करते हैं।

१. अयोगवाह की निरुक्ति व लक्षण—व्याकरण-शास्त्र में वर्णों का उपदेश दो प्रकार से हुआ। एक तो अक्षरसमाम्नाय (प्रत्याहार-सूत्र) के रूप में आचार्य के द्वारा साक्षात् स्वरूप का उपदेश और दूसरे प्रकार के वर्ण वे हैं, जो वर्णसमाम्नाय में साक्षात् उपदिष्ट तो नहीं हैं, पर ग्रहणकशास्त्र (**अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः**-अष्टा० १.१.६९) के द्वारा गृहीत होते हैं[1], जैसे कि दीर्घ, प्लुतादि वर्ण। कुछ वर्ण ऐसे भी हैं, जो न तो अक्षरसमाम्नाय में उपदिष्ट हैं और न ही ग्रहणकशास्त्र के द्वारा गृहीत होते हैं। पर आचार्य ने उन्हें कार्यी व निमित्त बनाकर कार्य का विधान किया है।[2] इन्हीं का नाम अयोगवाह है। जैसा कि शब्दब्रह्मनिष्णात महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—

'इमेऽयोगवाहा न क्वचिदुपदिश्यन्ते श्रूयन्ते च। तेषां कार्यार्थ उपदेशः कर्तव्यः। के पुनरयोगवाहाः ? विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयानुस्वार-नासिक्य[3]यमाः। कथं पुनरयोगवाहाः ? यदयुक्ता वहन्ति, अनुपदिष्टाश्च

१. उपदेशो द्विविधः-पाठः, ग्रहणकशास्त्रेण प्रत्यायनं च (प्रदीप-म०भा०हयवरट्)। द्विविधो योगः, लक्षणयोग उपदेशयोगो वा (भर्तृहरिः-तत्रैव)।

२. विसर्जनीयस्य सः, कुप्वोः ≍क ≍पौ च, अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (अष्टा० ८.३.३४, ३७; ८.४.५७) आदि।

३. महाभाष्य के किन्हीं संस्करणों में और शब्दकौस्तुभ के उद्धरण में 'नासिक्य'

श्रूयन्ते' (म०भा०हयवरट्)। इसी की व्याख्या के रूप में भट्टोजि दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ में लिखा है कि **'अविद्यमानो योगः प्रत्याहारेषु सम्बन्धो येषां तेऽयोगा अनुपदिष्टत्वादुपदिष्टैरगृहीतत्वाच्च प्रत्याहारसम्बन्धशून्या इत्यर्थः। वाहयन्ति निर्वाहयन्ति प्रयोगमिति वाहाः, अयोगाश्च ते वाहाश्चेति [नञ्बहुव्रीहिगर्भः] कर्मधारयः। अनुपदिष्टत्वे उपदिष्टैरगृहीतत्वे च सति श्रूयमाणा इत्यर्थः।'** (श०कौ० हयवरट्, द्र०-शिवरामेन्द्रसरस्वती)।

वाजसनेय प्रातिशाख्य के भाष्यकार उवट अयोगवाह की निरुक्ति कुछ भिन्न प्रकार से करते हैं। जैसे कि—**'अकारादिना वर्णसमाम्नायेन सहिताः [एव] सन्त एते वहन्त्यात्मलाभं प्राप्नुवन्त्ययोगवाहाः'** (वा०प्रा० ८.१८) इसी स्थान पर अन्य भाष्यकार अनन्तभट्ट भी लिखते हैं कि—**'योगवहत्वं-चेत्थम्-योगेन अकारादिवर्णसमुदायेन सहिताः सन्तः आत्मानं च वहन्त इति योगवाहाः'** (तत्रैव)। अर्थात् अकारादि वर्णसमाम्नाय के साथ मिलकर [ही] प्रयुक्त होते हुये जो कार्य का वहन करते हैं व आत्मलाभ अर्थात् अपने अस्तित्व को प्राप्त करते हैं, उच्चरित होते हैं, वे अयोगवाह कहलाते हैं। अवर्णादि के विना इनका अस्तित्व ही नहीं है। यह बात अयोगवाह घटक 'अनुस्वार' शब्द से भी स्पष्ट होती है—**'स्वर एव स्वारः तं स्वारम्**

पाठ नहीं है। इस पाठ के अनुसार अयोगवाहों की संख्या आठ मानी जायेगी। पाणिनि (अनुस्वारयमा नासिक्याः-शिक्षा० १.१६) के अनुसार अनुस्वार और यम वर्ण नासिक्य (अर्थात् नासिका से बोले जानेवाले) हैं। उक्त पाठ में इन दोनों के निर्दिष्ट होने पर पुनः 'नासिक्य' का निर्देश अनावश्यक ही है और वैसे ही नासिक्य के ग्रहण करने पर अनुस्वार एवं यम का भी पाठ व्यर्थ है। 'नासिक्य' पाठ को मानने पर अयोगवाह नौ माने जायेंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि पतञ्जलि प्रातिशाख्यों में निर्दिष्ट वर्णविशेष 'हुँ इति नासिक्यः' (वा० प्रा० ८.१३) की ओर संकेत कर रहे हैं। जैसे कि प्रातिशाख्यकार स्वयं अनुस्वार, यम और नासिक्य का पृथक्-पृथक् निर्देश करते हैं—'नासिक्ययमानुस्वारान्' (ऋ०प्रा० १.४८), 'यमानुस्वारनासिक्यानां नासिके' (वा०प्रा० १.७४), नासिकायां यमानुस्वारनासि-क्याः (ऋक्तन्त्र-सामप्राति० २.२.२)। अपि च वर्णरत्नप्रदीप शिक्षा (५०) द्रष्टव्य है। इन सभी में 'नासिक्य' की पृथक् गणना कर अयोगवाहों को नौ माना गया है। पाणिनीय शिक्षासूत्र '०वर्णास्त्रिषष्टिः चतुष्षष्टिरित्येके' (शिक्षा ४, ५) के अनुसार त्रिषष्टि की गणना में नासिक्य (हुँ) को प्रविष्ट कर चतुःषष्टि की पूर्त्ति की जाती है। अतः प्रातिशाख्यकार का 'हुँ इति नासिक्यः' पाणिनि को अनभीष्ट है, ऐसा नहीं कह सकते।

अनुगतोऽनुस्वारः । स्वरात् परमुच्चारितत्वम् अनुस्वारत्वम् ।' अयोगवाह के इस द्वितीय निर्वचन को ऐसे समझ सकते हैं—'**अस्य (=अवर्णादीनां) योगः (=सम्बन्धः) अयोगः, अयोगेन वहन्तीति अयोगवाहाः**' अर्थात् अवर्णादि के सम्बन्ध से ही जो कार्य का वहन करते हैं, वे अयोगवाह कहाते हैं। ध्यान दें यहाँ 'अ' निषेधात्मक नहीं है, अपितु स्वर वर्णों का उपलक्षणात्मक अवर्ण है। इसी भाव को प्रकट करते हुये वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षाकार लिखते हैं—'**संयोगवाहा एवैते निजस्वरविवर्जिताः । पूर्वस्याङ्गं भवन्त्येते स्वर एतेषु पूर्ववत्**' (५१)। '**(अवर्णादीनां) संयोगेन वहन्ति कार्यम् इति संयोगवाहाः ।**' यहाँ भी स्पष्ट रूप से निषेधार्थ के विपरीत संयोग–सम्बन्ध–वाहाः कहा गया है। अतः अयोगवाह का अनर्थान्तर 'संयोगवाह' भी है।

दोनों निर्वचनों में तत्त्वतः कोई भेद व विरोध नहीं है। यतोहि प्रथम निर्वचन में निषेध की प्रधानता देते हुए वर्णसमाम्नाय व ग्रहणकशास्त्र में योगविहीनों अर्थात् अनुपदिष्टों के कार्यवाहकत्व की बात कही गई है तो द्वितीय निर्वचन में उपदिष्टत्वानुपदिष्टत्व के विषय में कुछ न कहते हुये अवर्णादि के सम्बन्ध से आत्मलाभत्व की प्रधानता देते हुये कार्यवाहकत्व की बात कही गई है। वर्णसमाम्नाय के सन्नियोग से आत्मलाभत्व को प्राप्त करते हैं, का यही तात्पर्य है कि शास्त्र में इनके उपदेश का अभाव है। दोनों में कार्यवाहकत्व समान है। अतः भाष्यकार आदि के साथ उवटादि का कोई विरोध नहीं है। वैसे उवट का निर्वचन भाष्यकार के '**यदयुक्ता वहन्ति**' शब्दों पर आधारित है। यतोहि भाष्य के '**अयुक्ताः**' शब्द में 'अ' से नञर्थ न लेकर अवर्ण लेने से[1] उवट का ही तात्पर्य निकलता है।

२. अयोगवाहों का स्वरूप—वे अयोगवाह कौन–कौन से हैं ? इस प्रश्न का भाष्यकार उत्तर देते हैं—'**विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयानु-स्वारनासिक्ययमाः**'[2] (म०भा०हयवरट्)। इसी स्वर में स्वर मिलाते हुये वर्णरत्नप्रदीपिका–शिक्षा कहती है कि—'**अनुस्वारो विसर्गश्च नासिक्योऽथ**

१. जैसा 'अव्यवहितेन व्यञ्जनस्य' (वा०प्रा० १.३८) आदि सूत्रों में लिया जाता है।

२. भट्टोजी दीक्षित ने 'ऋ, लृ' को भी अयोगवाह माना है—''ते च विसर्जनीयजिह्वा-मूलीयोपध्मानीयानुस्वारयमाः' इति च भाष्यम्। एतच्च 'ॠति ऋ वा' (का०वा०), 'लृति लृ वा' (का०वा०) इति विहितयोरीषत्स्पृष्टयोरप्युपलक्षणम्'' (श०कौ०-हयवरट्)।

यमास्तथा । जिह्वामूलमुपध्मा च नवैते स्युः पराश्रयाः ॥ संयोगवाहा एवैते''' (५०, ५१)।

विसर्जनीयजिह्वा० आदि से निर्दिष्ट विसर्जनीय आदि शब्दों (संज्ञाओं) की ही अयोगवाह संज्ञा नहीं समझनी चाहिये, अपितु उनके संज्ञियों को अयोगवाह समझना चाहिये। वे संज्ञी हैं कौन ? इसका उल्लेख न तो पाणिनि ने कहीं किया और न ही पतञ्जलि ने। ये पूर्वाचार्यों की संज्ञायें हैं, जिनका उल्लेख प्रातिशाख्यों में है। वह इस प्रकार है—'**अथायोगवाहाः । ≍क इति जिह्वामूलीयः । ≍प इत्युपध्मानीयः । अं इत्यनुस्वारः । अः इति विसर्जनीयः । हुँ इति नासिक्यः । कुँ खुँ गुँ घुँ इति यमाः । इति व्यञ्ज-नानि ।**' (वा०प्रा० ८.१८–२५), अपि च द्र०ऋ०त० (१.२)।

३. यम की निरुक्ति व लक्षण—यम शब्द युगलवाचक है।[1] दो वर्णों के निमित्त से व्युत्पद्यमान वर्ण को यम कहा जाता है। किन दो वर्णों से इसकी उत्पत्ति होती है ? यह ध्यातव्य है। प्रत्येक वर्ग के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ स्पर्श वर्णों में किसी एक वर्ण के बाद किसी भी वर्ग का पञ्चम वर्ण परे हो तो दोनों के मध्य वर्णसमाम्नाय में अनुपदिष्ट[2] नासिक्य वर्ण का श्रवण (उत्पत्ति) होता है, इसी को यम कहा जाता है। **यम्यन्त आस्यध्वनिनिरोधेन निर्वर्त्यन्त इति यमाः**—दो आस्य वर्णों के मध्य में उनके आस्यध्वनियों को अवरुद्ध कर नासिकामूल में शुद्ध नासिकाध्वनि से उत्पद्यमान वर्ण ही 'यम' कहलाता है।

पुष्टीकरण—पूर्वाचार्यों के द्वारा लिखित सभी लक्षण नीचे स्थान–संकोच न करते हुए यथावत् उद्धृत किये जा रहे हैं—

१. **स्पर्शा यमान् अननुनासिकाः स्वान् परेषु स्पर्शेष्वनुनासिकेषु ।**
—ऋ०प्रा० ६.२९

१. यम–यमी के कारण यमशब्द द्व्यर्थवाचक है।

२. 'वर्णसमाम्नाय में अनुपदिष्ट' यह लक्षणांश किसी पूर्वाचार्य के द्वारा कृत लक्षणों में नहीं है। इसे यहाँ इसलिये जोड़ा गया है कि बहुत से वैयाकरण विद्वान् 'अचो रहाभ्यां द्वे, अनचि च' (अष्टा० ८.४.४५, ४६) आदि से द्वित्व किये हुये में से द्वितीय वर्ण को यम के रूप में वर्णन करते हैं। इसके निवारणार्थ वे शब्द लेखक को यहाँ लक्षण में जोड़ने पड़े हैं। इसका आधार यमों का अयोगवाहत्व है। विस्तार से आगे 'यमों का वर्णान्तरत्व' विषय में लिखा जायेगा।

२. **अन्तःपदेऽपञ्चमः पञ्चमेषु विच्छेदः**[१] । —वा०प्रा० ४.१६३
३. **स्पर्शादनुत्तमादुत्तमपरादानुपूर्व्यान्नासिक्याः ।** —तै०प्रा० २१.१२
४. **अनन्त्यान्त्यसंयोगे मध्ये यमः पूर्वगुणः ।** —ऋ०त० सामप्रा० १.२
५. **समानपदेऽनुत्तमात्स्पर्शादुत्तमे यमैर्यथासंख्यम् ।** —च०अ० १.९९
६. **अपञ्चमैश्चैकपदे संयुक्तं पञ्चमाक्षरम् ।**
उत्पद्यते यमस्तत्र सोऽङ्गं पूर्वाक्षरस्य हि ॥ —या० २१३
७. **स्पर्शात् परेऽपञ्चमास्तु वर्ग्यो एकपदे स्थिते ।**
पञ्चमे तु परे नासिक्याश्चाभिनिहिता यमाः ॥ —कौ०शि० ८४
८. **स्पर्शानां पञ्चमैर्योगे चत्वारश्च यमाः स्मृताः ।**
—व०प्र०शि० १४, १७६
९. **चतुर्णां पञ्चमैर्योगे उत्पद्यन्ते यमाश्च ये ।** —व०प्र०शि० १७
१०. **अपञ्चमात्पदे नित्यं पञ्चमेषु परेषु च ॥**
यमोत्पत्तिर्भवेत्तत्र रुक्मः पाप्मा निदर्शनम् ।
—वा०प्र०शि० १७४, १७५
११. **यत्रोष्माविकृतेः स्पर्शादुत्तमोर्ध्वे त्वनुत्तमात् ।**
आनुपूर्व्याद्यमानेतान् वर्णयन्त्यागमान् बुधाः ॥
—व्या०शि० ३५५, ३५६
१२. **अनन्त्यश्च भवेत् पूर्वोऽन्त्यश्च परतो यदि ।**
तत्र मध्ये यमस्तिष्ठेत् सवर्णः पूर्ववर्णयोः ॥ —ना०शि० २.२.८
१३. **कुँ खुँ गुँ घुँ इत्यनन्त्यान्त्यसंयोगेन अन्त्यपूर्वेऽन्त्योत्तरे व्यवधानवर्जिते तत्र यमा वर्तन्ते न संशयः ॥** —सा०गौ०शि० १.२
१४. **स्पर्शानामुत्तमैः स्पर्शैः संयोगाच्चेद् अनुक्रमात् ।**
आनुपूर्व्या यमास्तत्र जानीयाच्चतुरस्तथा ॥ —अ०मा०शि०
१५. **स्पर्शानां पञ्चमैर्योगे भवन्तीह यमाः स्मृताः ।** —शै०शि०–पृ० ४
१६. **अथानन्त्याश्चत्वारस्ते सयमास्ते कुँ खुँ गुँ घुँ इत्यन्त संयोगेऽन्त्यपूर्वोऽन्त्योत्तरे व्यवधानवर्जिते, तत्र यमा वर्तन्ते न सन्देहः ।**
—शि०प्र० ४

१. 'विच्छेदो यम इत्यनर्थान्तरम्' इत्युवटस्तत्रैव।

१७. **पदमध्ये विद्यमानाः पञ्चमभिन्नाः स्पर्शाः पञ्चमेषु यममापद्यन्ते ।**
—वि०प्र० १४०
१८. **तत्र यमा नाम वर्गेष्वादितश्चतुर्णां पञ्चमेषु परतः त एव नासिक्या भवन्ति ।** —पदमञ्जरी १.१.९
१९. **वर्गेष्वाद्यानां चतुर्णां पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्वसदृशो वर्णः....** —सि०कौ० १२
२०. **वर्गेष्वादितश्चतुर्णां पञ्चमे परे तन्मध्ये पूर्ववर्णसमानाकारं वर्णान्तरं प्रातिशाख्येष्वागमत्वेन विहितं तद्यमसंज्ञम् ।**
—श०कौ० १.१.८
२१. **यमो नाम वर्गपञ्चमे परे वर्गाद्यचतुष्टयान्यतमसदृशो वर्णः ।**
—उद्योतः–म०भा० १.१.८
२२. **वर्गान्त्येऽनन्त्यात्परे तयोर्मध्यवर्ती नासिकास्थानो यमः ।**
—हयवरट् सूत्रे–क्षीरोदकारः

४. यम–स्वरूप का निर्णय—पूर्व में निर्दिष्ट अनेक आचार्यों के लक्षणों से यही बोध होता है कि पद के मध्य में अनुनासिक पञ्चम स्पर्श वर्ण से व्यवधान रहित पूर्व में निरनुनासिक स्पर्श वर्ण हो तो उन दोनों स्पर्श वर्णों के बीच में नासिक्य वर्ण का आगम (=आगमन, उत्पत्ति) होता है, इसी का नाम 'यम' है। इसका दूसरा नाम 'विच्छेद' भी है। यह अन्वर्थ संज्ञा है। आस्यध्वनिजवर्णों के मध्य में अनास्यध्वनिज अर्थात् शुद्धनासिक्यध्वनिज यम के उच्चारित होने पर आस्यध्वनि के प्रवाह का विच्छेद हो जाता है। अत एव यमों को शुक्लयजुःप्रातिशाख्य में 'विच्छेद' कहा गया है। **विच्छिनत्ति आस्यध्वनिमिति विच्छेदः ।** इन्हें कहीं कहीं 'अशरीर' भी कहा गया है।[१] अशरीर का तात्पर्य है कि ये अन्य वर्णों के आश्रय से ही अपने शरीर (स्वरूप, अस्तित्व) को प्रकट करते हैं, इनका अपना निज (स्वतन्त्र) शरीर कुछ नहीं है[२] और इनकी कोई लिपि भी नहीं है[३]। अशरीर शब्द से इनका

१. अशरीरं यमं विद्यात् (या० शि० २०३)। अपि च द्र०–पारा०शि० ५८, अ०न०शि० ५३, सा०गौ०शि० १, शि०प्र० ४।
२. अनुस्वारो विसर्गश्च कलपाठः प्लुता यमाः,
जिह्वामूलमुपध्मा च षोडशैते पराश्रयाः।

अयोगवाहत्व भी प्रकट होता है।

यम अपने प्रकृतिभूत पूर्व स्पर्श वर्ण के सदृश रूपवाला अर्थात् गुणवाला होता है—'**यमः प्रकृत्यैव सदृक्**' (ऋ०प्रा० ६.३२)। अर्थात् पञ्चम वर्ण के परे रहने पर जिस पूर्व स्पर्श वर्ण को यम का आगम कहा गया है, उसी के सदृश आगम होगा।[४] ध्यान दें ये यम पूर्ववर्ण के सदृश होते हैं, पर वही (द्वित्वजन्य) नहीं होते हैं। जैसे 'क' के बाद 'कुँ', 'ख' के बाद 'खुँ', 'त्' के बाद 'तुँ' आदि। यदि यम को द्वित्वजन्य पूर्ववर्ण ही मानेंगे तो इनका अयोगवाहत्व ही नष्ट हो जायेगा, यमत्व की बात तो दूर है। पर (सामीप्य) में स्थित (उच्चार्यमाण) अनुनासिक के कारण यम में भी तद्धर्म अर्थात् नासिक्यत्व आ जाता है। जिसके कारण यम को 'नासिक्य' भी कहते हैं[५] (द्र०-तै०प्रा० २१.१२)। इस प्रकार के नासिक्यत्व का आगम भाषा में प्रचलित शब्दों में भी देखा जाता है। जैसे कि—आना, जाना, कान, काम आदि का उच्चारण आँना, जाँना आदि के रूप में होता है। अर्थात् पर में स्थित अनुनासिक (न, म) का नासिक्यत्व पूर्व में स्थित स्वर (आ) वर्ण में भी स्वल्प मात्रा में आ जाता (उच्चरित होता) है। परन्तु जानकी, आना-कानी, काम्य, कामी आदि में वैसा नहीं होता। अतः यम को पूर्व का अंग[६] मानते हुये भी पूर्व और पर दोनों वर्णों के गुणधर्म देखे जाते हैं। इसी में इसका यमत्व है, अन्यथा युगलवाची यम नाम सार्थक नहीं होगा।

उक्त उभयवर्णधर्मवान्[७] यम के अनन्यार्थक 'अशरीर' शब्द से स्पष्ट है

अशरीरास्तु ये वर्णा विज्ञेयास्तु पराश्रयाः,
अन्यं वर्णं समासृत्य दर्शयन्ति निजं वपुः॥ —चा०शि०-अ० १

३. अशरीरमिति स्वरभक्त्यादिवद् व्यञ्जकलिपिविशेषशून्यमित्यर्थः। लक्षणवशेनैव तदीयस्थलविशेषनिश्चयसम्भवाल्लिपिसम्प्रदायप्रवर्त्तकाचार्य्यैः स्वरभक्तेरिव यमस्यापि व्यञ्जकीभूता लिपिर्न कल्पितेत्यर्थः। —श०कौ० १.१.८
४. यस्य यमापत्तिरुच्यते तत्स्वरूपो भवतीत्यर्थः। —उवटः ऋ०प्रा० ६.३२
अपि च यमो नाम पूर्वसदृशो वर्णः। —सि०कौ० १२
मध्ये यमः पूर्वगुणः। —ऋ०त० १.२, शि०प्र० ४
५. इसे योगरूढ़ संज्ञा जाननी चाहिये।
६. तै०प्रा० में तो पर का अंग माना गया है—'नासिक्याः' (२१.८)। नासिक्या यमाः परस्वरं भजन्ते (त्रि०र०); ते पूर्वस्य स्वरं न भजन्ते (वै०आ०)।
७. इस उभयवर्णधर्मत्व की प्रतीति का कारण आगे 'यमों का प्रयत्न' के अवसर पर लिखा जायेगा।

कि यम को लिखा नहीं जाता,[१] पर बोला जाता है, सुना जाता है। यह कैसे हो सकता है कि लिखा नहीं जाता, पर बोला जाता है? केवल यम ही नहीं और भी कुछ ध्वनियाँ ऐसी हैं, जो बोली जातीं हैं, पर लिखी नहीं जातीं। जिनकी ओर प्रातिशाख्यकारों ने और शिक्षाकारों ने अतिसूक्ष्मता से ध्यान दिया। तद्यथा—स्वर और व्यञ्जन के मध्य में रेफ हो तो, उस रेफ के बाद ऋवर्ण (ऋ-तुल्य ध्वनि) का आगम (उत्पत्ति) होता है।[२] जिसे स्वरभक्ति, ह्रस्वार्ध या अति-ह्रस्वस्वर[३] कहा जाता है। जैसे कि—'**यदद्य कर्हि कर्हि**'[४] (ऋ० ८.७३.५) का उच्चारण '**०कर्ऋहि कर्ऋहि**' होता है एवं '**अर्चन्त्यर्कमर्किणः**'[५] (ऋ० १.१०.१) का उच्चारण '**अर्ऋचन्त्यर्ऋकमर-ऋकिणः**' के रूप में होता है।[६] यह स्वरभक्ति उच्चरित होती हुई भी लिखी नहीं जाती है। यह ध्वन्यागम ह्रस्व ऋवर्ण का ही अतिह्रस्वस्वर रूपक भेद है, अतः इसका पृथक् से उपदेश नहीं किया गया। इसी प्रकार यम भी एक ध्वन्यागम है, पर इसकी स्वतन्त्र सत्ता भी है अर्थात् यह किसी का भेद या रूपक नहीं है। यम ध्वन्यागम होने के कारण इसका उच्चारण मात्र ही सम्भव है, लिखना नहीं। इसीलिये प्रातिशाख्यकारों ने इसके निर्देश के लिये वर्णत्व से प्राप्त[७] 'कार', 'इति' आदि का निषेध किया है।[८]

---

१. द्र०-पूर्वपृष्ठ की टिप्पणी ३।
२. रेफाद् स्वरोपहिताद् व्यञ्जनोदयाद् ऋकारवर्णाः स्वरभक्तिरुत्तरा (ऋ०प्रा० ६.४६)।
३. इस अतिह्रस्वस्वर को यूरोपीय भाषाओं में 'श्वा' (Schwa) कहते हैं और e को उलटकर (ə) लिखते हैं (द्र०-डॉ० भोलानाथ तिवारी कृत-भाषाविज्ञान, पृ० १२७, टि० २)।
४. यह दीर्घस्वरभक्ति का उदाहरण है (द्र०-ऋ०प्रा० ६.४८), जिसकी मात्रा ह्रस्वार्ध (½) होती है। (द्र०-ऋ० प्रा० १.३३)।
५. यह ह्रस्वस्वरभक्ति का उदाहरण है (द्र०-ऋ०प्रा० ६.४८-४९), जो कि आधे से कम अर्थात् एक पाद (१/४) मात्रा की होती है (द्र०-ऋ०प्रा० १.३५)।
६. ऋ०प्रा० के ध्वन्यागम-पटल में तथा अन्य (शिक्षादि) ग्रन्थों में और भी अन्य ध्वन्यागम देखे जा सकते हैं।
७. निर्देश इतिना, कारेण च, स्वैरपि (वा०प्रा० १.३६, ३७, ४०)।
८. नानुस्वार-विसर्ग-जिह्वामूलीय-उपध्मानीय-यमाः (वा०प्रा० १.४१)। एते इतिना कारेण स्वैरैश्च न निर्देष्टव्या इत्यर्थः।

यमों को कुँ, खुँ आदि के रूप में लिखा जाता है और लिखे हुये को प्रत्यक्षतः देखा भी जाता है। जिससे हस्तामलकवत् स्पष्ट ज्ञात होता है कि यम कादि ही हैं। पुनरपि यम कादि नहीं है, तद्भिन्न है। इसे केवल बोला जाता है, पर लिखा नहीं जाता है, इसकी लिपि ही नहीं है आदि-आदि कथन पाठकों के लिए महान् आश्चर्यजनक होंगे तथा अविश्वसनीय लगते होंगे। परन्तु वे कथन असत्य नहीं हैं। एतद्विषयक कुछ अन्य उदाहरण भी यहाँ प्रस्तुत करता हूँ, जिनसे उक्त सभी कथनों की सत्यता सिद्ध होगी। जैसे—

१. ''वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन न गृह्यन्ते'' यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। जैसे कि ऋकार में रेफश्रुति को स्वीकारते हुए भी कोई भी आचार्य उसे वर्णान्तर के रूप में स्वीकार नहीं करता। वैसे ही सन्ध्यक्षरों में भी अकार और इकार, उकारों के श्रवणमात्र से उन्हें वर्णान्तरों के रूप में नहीं माने जाते।[1] ठीक वैसे ही यमों में ककारादियों के स्वल्पश्रवणमात्र से उन्हें वर्णान्तरों के रूप में स्वीकारे नहीं जा सकते। क्योंकि वे शुद्ध नासिक्य ध्वनि विशेष हैं।

२. जिह्वामूलीय (ᳵ) और उपध्मानीय (ᳵ) को सदा ही क्रमशः ᳵक, ᳵख; ᳵप, ᳵफ के रूप में लिखा जाता है और साथ में सभी यह भी जानते हैं कि जिह्वामूलीय क्, ख् से भिन्न है एवं उपध्मानीय प्, फ् से भिन्न है। क, ख आदि तो केवल आश्रयत्व के प्रदर्शनार्थ ही लिखे जाते हैं, यथार्थतः जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय कादि से भिन्न हैं। ठीक वैसे ही यम कुँ, खुँ आदि के रूप में लिखे जाने पर भी यम कादि नहीं हैं, तद्भिन्न विशुद्ध नासिक्य ध्वनिमात्र हैं। क्, ख् आदि तो केवल आश्रय के प्रदर्शनार्थ लिखे जाते हैं।

३. 'ऌ' स्वर (अच्) की लिपि में 'ल्' व्यञ्जन लिखा जाता है, पर सभी मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं कि 'ऌ' स्वर 'ल्' व्यञ्जन से भिन्न है, ल्-नहीं है। हाँ, 'ल्' व्यञ्जन की श्रुति अवश्य मानी जाती है। वैसे ही यमों के निर्देशन में कादि लिखे जाते हैं, पर यम कादि नहीं है। तद्भिन्न नासिक्य ध्वनिमात्र ही यम हैं। हाँ, इसमें भी बहुत स्वल्प कालिक कादि की श्रुति सुनाई पड़ती है। जिसका कारण 'यमों का प्रयत्न' के अवसर पर

१. तच्छायानुकारिणो हि ते, न पुनस्त एव (काशिका-ऐ औ च्)।
न हि तदाकारानुकारित्वमात्रेणैव तत्त्वं भवति (न्यासः-तत्रैव)।

बतायेंगे।

४. क, ख आदि व्यञ्जनों में अनिवार्यता के कारण 'अ' वर्ण को लिखा जाता है, पर उसे (अवर्ण को) व्यञ्जन ध्वनि के अन्तर्गत नहीं माना जाता। वैसे ही कुँ, खुँ अदि यमों में भी अनिवार्यतया आश्रित वर्ण कादियों को लिखा जाता, पर वे यम के अन्तर्गत नहीं हैं।

५. '**अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः**' (१.२) की व्याख्या में बताया गया है कि विसर्ग का उच्चारण कहीं 'ह' के तुल्य, कहीं 'हि' के तुल्य, कहीं हु के तुल्य होता है। इस प्रकार विसर्ग की उच्चारणविधि बताते हुए कहीं विसर्ग ह-रूपक ही है, ऐसी भ्रान्ति न होवे, इसके लिए पुनः अन्त में बताया गया है कि—'**हकारो नैव मन्तव्य इति शास्त्रव्यवस्थितिः**'। यही बात यमों के विषय में घटित हुई है। क्योंकि यम की उच्चारणविधि बताई गई थी कि यम का उच्चारण पूर्व वर्ण की ध्वनि के सदृश ध्वनि में नासिक्यत्व को मिलाकर करना चाहिये और इस कथन की सुगमता के लिये यमों को कुँ, खुँ आदि के रूप में लिखा गया था। परन्तु कालान्तर में लोगों को भ्रान्ति हो गई कि यम कादि ही हैं। जिसके निवारण के लिए और शास्त्रव्यवस्थिति की सुदृढ़ता के लिए लेखक को इतना परिश्रम करना पड़ रहा है।

६. ऋग्वेद में दो स्वरों के मध्य ढकार आ जाय तो उसका उच्चारण 'ळह' के सदृश होता है।[1] यहाँ हसदृश ध्वनि के प्रदर्शनार्थ ही 'ह' लिखा जाता है, पर वहाँ हवर्ण है ही नहीं। वैसे ही यमों के उच्चारण में 'क्' सदृश ध्वनि के प्रदर्शनार्थ 'कुँ' लिखा जाता है, पर उस यम में कवर्ण है ही नहीं। वैसे ही 'खुँ' आदि यमों में जानें।

७. माध्यन्दिन-यजुर्वेद की संहिता एवं ब्राह्मण दोनों में यकार और वकार के गुरु, लघु, लघुतर ये तीन भेद माने गये हैं।[2] पदादि में विद्यमान वकार को गुरु माना जाता है। यथा—'**वायवस्थः**' (यजु० १.१)। इस गुरुत्व के प्रदर्शनार्थ द्वित्वभूत वकार जैसा लिखा जाता है। जैसे कि—'**व्वायवस्थः**'। यहाँ इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि '**व्वायवस्थः**' में

१. द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य सम्पद्यते स डकारो ळकारः।
ळहकारतामेति स एव चास्य ढकारः सन्नूष्मणा सम्प्रयुक्तः।
इळा साळहा चात्र निदर्शनानि वीड्वङ्ग इत्येतदवग्रहेण॥ —ऋ०प्रा० १.५२

२. द्र०-अष्टा० ८.३.१८ और म०म०पं०श्री युधिष्ठिर जी मीमांसक के द्वारा सम्पादित 'माध्यन्दिन-संहितायाः पदपाठः' की भूमिका पृ० ३४-४१।

द्वित्व किया हुआ वकार नहीं है और न ही किसी भी सूत्र से यहाँ द्वित्व प्राप्त है, केवल गुरुत्व के प्रदर्शनार्थ मात्र वैसा लिखा जाता है। इसी प्रकार गुरु यकार में भी समझ लेना चाहिये। यथा—'**य्यज्ञेन य्यज्ञमयजन्त०**' (यजु० ३१.१६)। ठीक वैसे ही यमत्व का प्रदर्शन अनुनासिक चिह्नयुक्त क्, ख् आदि से दिखाया जाता है, पर क्, ख् आदि वर्ण यम नहीं हैं। अर्थात् यम वर्णान्तर हैं।

८. इस बात को ध्वनिविज्ञान और भाषाविज्ञान की दृष्टि से विचारकर और अच्छी तरह समझ सकते हैं। विविध भाषाओं के शब्दों की ओर ध्यान देने से हम ऐसे शब्द पाते हैं कि अपञ्चम+पञ्चम वर्णों की स्थिति में कभी-कभी अपञ्चम वर्ण पञ्चम वर्ण की ध्वनि से अभिभूत होता है। जैसे कि पाली भाषा में 'प्राज्ञ' को 'पञ्ञ', 'राज्ञ' को 'रञ्ञ', 'रुक्मवती' को 'रुम्मवती' हो जाता है। और कभी-कभी अपञ्चम वर्ण ही पर में स्थित पञ्चम वर्ण को पूर्णरूप से प्रभावित करता है। यथा-पाली में 'अग्नि' शब्द का उच्चारण 'अग्गि' के रूप में होता है। वैसा ही 'स्वप्न-सोप्प, आत्मज-आत्तज' आदि। इन दोनों प्रकार के उदाहरणों में पूर्व वर्ण पर वर्ण के ऊपर तथा पर वर्ण पूर्व वर्ण के ऊपर पूरा प्रभाव डाल रहे हैं। परन्तु जब एक ही शब्द में दोनों वर्ण परस्पर थोड़ा-थोड़ा एक दूसरे के ऊपर प्रभाव डालें तो वहाँ दोनों के मध्य में एक ऐसी ध्वनि होगी, जिसमें आस्यत्व एवं नासिक्यत्व दोनों समाविष्ट रहेंगे। यही यम है। ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से यह भी कह सकते हैं कि पञ्चम वर्ण से पूर्व अपञ्चम स्पर्श वर्ण का उच्चारण करते समय अपेक्षाकृत आस्यविवर कुछ कम खुलता है, जिससे कुछ वायु नासिका विवर में भी प्रवेश कर जाता है। बस इसी समय उत्पद्यमान क्षणिक अव्यक्त नासिक्य[१] ध्वनि को यम कहते हैं। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि यह यम पूर्व में स्थित स्पर्श वर्ण का अनुनासिकीकरण नहीं है, अपितु नासिक्य ध्वनि का प्रादुर्भाव है।

५. यमों का स्वरूपनिर्देश—ऊपर यम और यमस्वरूप का परिचय भलीभांति दिया गया है। अब उस निरूपित यम के स्वरूप का निर्देश विविध आचार्यों के शब्दों में दिखाते हैं—

१. कुँ खुँ गुँ घुँ इति यमाः (वा०प्रा० ८.२४)।

१. चत्वारस्तु यमा प्रोक्ता अव्यक्ताः सानुनासिकाः। —शै०शि० पृ० २

२. कुँ इति खुँ इति गुँ इति घुँ इति यमाः (ऋ०त०-सामप्राति० १.२)।

३. चत्वारो यमाः कुँ खुँ गुँ घुँ इति (या०शि०वर्णप्रकरण ९३)।

४. कुँ खुँ गुँ घुँ इति च ते चत्वारो नात्र पञ्चमः (व०र०प्र०शि० १७)।

५. चत्वारो यमाः कुँ खुँ गुँ घुँ इति (शि०प्र० ४)।

६. कुँ खुँ गुँ घुँ इत्येते च यमाः (न्यास १.१.९)।

इसी प्रकार प्रातिशाख्यों के भाष्यकार उवट, भट्टभास्कर, अनन्तभट्ट आदि ने प्रसङ्गतः अनेकों स्थानों पर इन चार यमों को कुँ खुँ....आदि के रूप में ही उल्लिखित किये हैं। जैसे कि '**कुँ खुँ गुँ घुँ इत्यादयो[१] यमाः**' (ऋ०प्रा० १.४८, उवट)। यहाँ सर्वत्र यह विशेषतः ध्यातव्य है कि कुँ, खुँ आदि से यमध्वनि मात्र ही ग्राह्य है। 'क्' आदि यम नहीं है। यम के सुबोध के लिए और उनके आश्रय के प्रदर्शन के लिए ही 'क्' आदि लिखे जाते हैं। वैसे यमों को लिखने की प्रसिद्धि यह है कि प्रथम यम को नासिक्य चिह्न के साथ पूर्व में स्थित वर्गस्थ प्रथम वर्ण के तुल्य लिखा जाता है। जैसे कुँ, चुँ, टुँ, तुँ, पुँ। यम का अपना कोई लिप्यात्मक रूप नहीं है, अत एव एक ही यम को अनेक रूपों अर्थात् अपनी प्रकृति (पूर्व वर्ण) के तुल्य लिखा जाता है।[२] पर वे सब (कुँ, चुँ आदि पाँचों) एक ही यम है। इसे प्रथम यम का प्रत्येक वर्ग के प्रथम वर्ण के साथ सन्नियोग का प्रदर्शन मात्र समझना चाहिये। इसी प्रकार द्वितीय यम (खुँ आदि) आदि जानना चाहिये।

यदि पञ्चम वर्ण का श्, ष्, स् और अन्तस्थ (य्, र्, ल्, व्) के साथ संयोग हो तो वहाँ यम का उच्चारण नहीं होता।[३] तद्यथा—'**असिक्न्योषधे**' (तै०ब्रा० २.४.४), '**राज्ञ्यसि**' (तै०सं० ४.३.६), '**अधिपत्न्यसि**' (तै०सं० ४.३.६), '**पोषयित्न्वा**' (तै०सं० १.१.१४)। यदि ऊष्म वर्णों के स्थान पर स्पर्श वर्णों का आदेश हुआ हो और उससे परे पञ्चम वर्ण हो तो वहाँ भी

१. आदि शब्द से गृहीत अन्य यमों के विषय में 'यमों की संख्या' के निरूपण वेला में लिखा जाएगा।

२. यमः प्रकृत्यैव सदृक्। —ऋ०प्रा० ६.३२
'कचटतपाः कुः' 'खछठथफाः खुः' इत्यादिपरिभाषामाश्रित्य तत्तदुत्तरस्याशरीर-स्यापि कथञ्चित्प्रदर्शनतात्पर्यकं चेदमिति ध्येयम्। —श०कौ० १.१.८

३. वर्गान्तं शषसैस्सार्धमन्तस्थाभिश्च संयुतम्।
दृष्ट्वा यमा निवर्तन्ते सिंहं दृष्ट्वा यथा गजाः॥ —कश्चिच्छिक्षाकारः

यम की उत्पत्ति नहीं होती।[१] जैसे—'**यच्छ्मश्रुणः**' (तै०सं० २.१.१), '**आदित्याज्छ्मश्रुभिः**' (तै०सं० ५.७.११)।

६. यमों की संख्या—यम चार हैं या बीस, इस प्रकार के दो मत लेकर अनेकों वैयाकरणमूर्धन्य और प्रातिशाख्यों के सम्पादकों ने इस विषय को संशयात्मक तथा विचारणीय माना है। अतः कहीं कोई निर्णयात्मक विचार प्रकट नहीं किया गया। संशय के मूलकारण निम्न प्रकार हैं—

१. '**यमः प्रकृत्यैव सदृक्**' (ऋ०प्रा० ६.३२) सूत्र में कहा गया है कि यम वर्ण अपने प्रकृतिभूत पूर्वस्थ स्पर्श वर्ण के सदृश होता है।[२] प्रत्येक वर्ग के प्रकृतिभूत स्पर्श वर्ण चार हैं, तो सम्पूर्ण प्रकृतिभूत वर्ण बीस हैं। अतः यम भी बीस होने चाहिये। अर्थात् कुँ खुँ गुँ घुँ यम हैं तो चुँ छुँ टुँ ठुँ[३]……आदि भी यम क्यों नहीं हो सकते?

२. प्रातिशाख्यों की व्याख्या करते हुये उवट ने कहीं-कहीं लिखा है कि '**यस्माद् यमा नासिकास्थानाश्चत्वारः सन्तो विंशतिस्थानिना सरूपा लक्ष्यन्ते**' (ऋ०प्रा० ६.३३); '**इति यमसंज्ञका वर्णा विंशतिसंख्याका भवन्तीति चतुर्थाध्याये व्याख्यातम्**' (वा०प्रा० ८.२४) इत्यादि स्थलों में स्पष्टरूप से यमों को बीस माना जाना संशय का मूल आधार है।

३. कुँ खुँ आदि में सानुनासिक चिह्न देखकर यमों को सानुनासिक क्, ख् आदि समझना भी संशय का कारण है। यतोहि वे यम हैं तो सानुनासिक च्, छ् आदि भी यम क्यों नहीं हो सकते?

४. पलिक्क्ँनी, चक्ख्ँनथुः आदि में विद्यमान क्ँ, ख्ँ आदि यमों को

वर्गान्ता यत्र दृश्यन्ते शषसैः सह संयुताः।
यमास्तत्र निवर्तन्ते श्मशानादिव बान्धवाः॥
—अ०मा०शि० ११९; अपि च द्र०-ना०शि० २.२.९

१. ऊष्मप्रकृतिकात् स्पर्शात् पञ्चमः परतो यदि।
तत्र नैव यमापत्तिरिष्यते नात्र संशयः॥
यत्रोष्माविकृतेः स्पर्शाद्……। —व्या०शि० ३५५

२. यमो नाम पूर्वसदृशो वर्णः। —सि०कौ० १२

३. कुँ, खुँ…..आदि में उकारानुबन्ध तो उचित है, परन्तु चुँ, छुँ….. आदि में भी उकारानुबन्ध लगाना सर्वथा अनुचित है।

'**अनचि च**' (अष्टा० ८.४.४६) से द्वित्वजन्य वर्ण मानना।[१] द्वित्वजन्य द्वितीय वर्ण ही यम है तो वच्मि, पत्नी आदि में द्वित्वजन्य च्, त् आदि भी यम क्यों नहीं हो सकते?

इन कारणों से यमों को बीस मानकर वर्णमाला की त्रिषष्टि या चतुःषष्टि संख्या की पूर्त्ति के लिए यमों को चार माना जाता है, ऐसा प्रश्न कर्त्ताओं के द्वारा युक्ति दी जाती है। इन विषयों को यथामति आगे विचारते हैं।

'**यमः प्रकृत्यैव सदृक्**' में यम को पूर्व वर्ण के सदृशवान् कहा गया है अर्थात् 'क' के बाद कतुल्य, 'ख' के बाद खतुल्य, 'ट' के बाद टतुल्य आदि। इस प्रकार प्रत्येक वर्ग के पञ्चमवर्ण को छोड़कर शेष बीस वर्णों के तुल्यरूपवान् बीस यम होते हैं। इन सब में पर वर्ण के कारण नासिक्यत्व भी आ जाता है। जैसे कि—क्ँ, च्ँ, ट्ँ, त्ँ, प्ँ। ये सब प्रथम यम कहलाते हैं। प्रथम यम के पूर्व में स्थित प्रथम स्पर्श वर्णों की रूपभिन्नता से व तत्तुल्यत्ववश प्रथम यम को भिन्न-भिन्न रूप में निर्देश किया जाता है। अर्थात् यह भेद आश्रित वर्णों का है, न कि प्रथम यम का। यथार्थतः यह प्रथम यम एक ही है। क्ँ, च्ँ…..आदि को लक्षित कर प्रथम यम को 'कुँ' ऐसा लिखा जाता है। इस उदित् के कारण ग्रहणकशास्त्र (**अणुदित्०** अष्टा० १.१.६८) से यह अपना (क्ँ) और अपने सवर्णियों (च्ँ, ट्ँ, त्ँ, प्ँ) का ग्राहक होता है। अर्थात् प्रथम यम जाति रूप में एक है और व्यक्ति रूप में पाँच हैं।[२] इसी प्रकार द्वितीय वर्णों के बाद द्वितीय यम, तृतीयों के बाद तृतीय यम, और चतुर्थों के बाद चतुर्थ यम की उत्पत्ति समझनी चाहिये।[३]

१. इसका समाधान आगे 'यमों का वर्णान्तरत्व' शीर्षक में भी किया जाएगा।

२. क्ँ, च्ँ, ट्ँ, त्ँ, प्ँ—इन में जो प्रथम यमत्व समान रूप से है, वह जाति है और पूर्ववर्ण के तुल्यत्ववश जो भिन्नता प्रतीत होती है, उसे व्यक्ति समझना चाहिये। वस्तुतः सब एक ही है, जिसे प्रथम यम कहते हैं। जिसका प्रत्येक वर्ग के प्रथम वर्ण के साथ विद्यमान संयोग के प्रदर्शनार्थ पाँच रूपों में लिखा जाता है और उनमें गौण रूप से व्यक्ति की कल्पना कर सबके ग्रहण के लिए उदित लगा दिया जाता है।

३. क्रमशः चारों यमों के उदाहरण—'पलिक्क्ँनी' (ऋ० ५.२.४) इत्यत्र ककारसरूपो यमः, 'चक्ख्ँनथुः' इत्यत्र खकारसरूपो यमः, 'जग्ग्ँमतुः' (ऋ० १०.४०.१४) इत्यत्र गकारसरूपो यमः, 'जग्घ्ँनथुः' (ऋ० ७.९९.४) इत्यत्र घकारसरूपो यमः (उवटः-ऋ०प्रा० १.५०, अपि च द्र० ६.३२)। यहाँ सरूप शब्द से स्पष्ट है कि

यदि कुँ, चुँ·····खुँ, छुँ·····आदि को पृथक्-पृथक् मानकर[1] यमों को बीस माना जाए तो 'कुँ' आदि में उदित व्यर्थ हो जाएगा। जो कि सभी आचार्यों को मान्य है। और दूसरी बात यह है कि यदि पूर्व में स्थित अपञ्चम वर्ण के द्वित्वजन्य को ही यम मानकर उन्हें बीस ही मानना हो तो ऋक्प्रातिशाख्यकार को '**यमः प्रकृत्यैव०**' सूत्र बनाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। क्योंकि पञ्चम वर्ण से पूर्व में रहनेवाले अपञ्चम वर्णों के द्वित्व होने पर, यम अपने आप ही पूर्व रूपवान् हो जाते हैं, पुनः '**प्रकृत्यैव सदृक्**' कहना व्यर्थ है। इससे स्पष्ट ज्ञापित होता है कि यम द्वित्वजन्य नहीं है अर्थात् वे बीस नहीं हैं। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि यम क्, ख्, च् आदि से भिन्न हैं। अतः कुँ, खुँ आदि यम हैं तो चुँ, छुँ आदि यम क्यों नहीं हैं कहना और कुँ, खुँ के सदृश चुँ, छुँ को भी यम मानकर बीस की गणना करना सर्वथा अनुचित है।

यम जाति पक्ष में चार ही हैं, व्यक्ति पक्ष में बीस हैं[2], ऐसा पहले लिख

यम क, ख आदि से भिन्न हैं।

१. अर्थात् जाति और व्यक्ति को न मानकर।

२. इन बीस यमों में से वस्तुतः १४ व्यक्ति ही माननी चाहिये। क्योंकि शेष छः यमों का वैदिक वाङ्मय में प्रयोग नहीं होता। इस विषय में महाभाष्य-प्रदीप प्रकाशकार भूमिका में लिखते हैं कि ''झ्, ठ्, ड्, ढ्, फ् और ब् इन छः वर्णों का पञ्चम स्पर्शों से पूर्व प्रयोग व्युत्पन्न शब्दों में नहीं मिलता। अतः पूर्वोक्त बीस स्पर्शों में से १४ ही पञ्चम स्पर्श के पूर्व अविकृतरूप में प्रयुक्त मिलते हैं। कवर्ग के चार, चवर्ग के तीन, टवर्ग का एक, तवर्ग के चार और पवर्ग के दो'' (पृ० २१, टि० १)। अतः यमों की बीस संख्या अनुपपन्न ही जानें। उक्त चौदह प्रकार के यमों का वर्गशः उदाहरण निम्न प्रकार हैं—

क—रुक्ँम (यजु० १२.१), ख—चख्ँथुः, ग—अग्ँनि (ऋ० १.१.१)

घ—अघ्ँन्याः (तै०सं० १.१.१), च—मुमुच्ँमहे (ऋ० ९.२९.५),

छ—[मृग्य], ज—राज्ँञे [राज्ँञे] (तै०सं० ५.५.११),

ट—आट्ँणारः (तै०सं० ५.६.५), त—आत्ँमा (ऋ० ७.८७.२)

थ—अमथ्ँनाद् (ऋ० १.९३.६), द—ककुद्ँमान् (तै०सं० १.७.७),

ध—दध्ँमसि (ऋ० ८.१०२.२०), प—पाप्ँमानम् (तै०सं० ५.३.१७),

भ—गृभ्ँणामि (ऋ० १०.८५.१६)

यहाँ उदाहरणों में यमों को कुँ, खुँ आदि के रूप में नहीं लिखा, केवल

चुके हैं। इसकी पुष्टि उवट के इन शब्दों से भी होती है—'**एवं विंशतिर्यमाः बह्वृचानां भवन्ति। स्वरूपैश्चत्वार एव**' (ऋ०प्रा० १.५०)। अतः उवट ने जहाँ कहीं भी यमों को बीस लिखा है, वहाँ सर्वत्र व्यक्ति पक्ष को लेकर ही लिखा है, जातिपक्ष को लेकर चार भी लिखा है। अन्यथा भाष्यकार का मत अपने ही वचनों से और सूत्रों के साथ विरोधी हो जायेगा। जैसे कि '**कुँ खुँ गुँ घुँ इति यमाः**' (वा०प्रा० ८.२४) की व्याख्या में उवट ने लिखा है कि '**यमसंज्ञका वर्णा विंशतिसंख्याका भवन्ति।**' सूत्रकार ने तो स्वयं चार गिनाये और व्याख्याकार बीस लिख रहे हैं। यदि उवट के शब्दों से यमों को यथार्थतः बीस मानेंगे तो आगे भी सूत्रकार स्वयं लिखते हैं—'**एते पञ्चषष्टिवर्णा[1] ब्रह्मराशिरात्मवाचः**' (८.२५) '**त्रयोविंशतिरुच्यन्ते स्वराः शब्दार्थचिन्तकैः। द्विचत्वारिंशद्व्यञ्जनान्येतावान् वर्णसंग्रहः**' (८.३८)। इन स्थानों में वर्णों की जो संख्या बताई गई है, उसे भाष्यकार उवट और अनन्तभट्ट दोनों ने माना है। वह गणना यमों को चार मानकर ही की गई है, न कि बीस। अतः सर्वत्र उवट के द्वारा बताई गई बीस संख्या को व्यक्तिपक्ष में ही मानना उचित है।

''**यमौ च प्रथमद्वितीयौ०, यमौ च तृतीयचतुर्थौ०**'' (शिक्षा ४.२, ४) इन सूत्रों में '**प्रथमद्वितीयौ**' आदि में द्विवचन के निर्देश से भी ज्ञात होता है कि प्रथम यम एवं द्वितीय यम आदि एक-एक ही हैं। अन्यथा ''**वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः०, वर्गाणां तृतीयचतुर्थाः०**'' (शिक्षा ४.२, ४) के समान बहुवचन का निर्देश होना चाहिए था।

यहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि बीस यमों को संख्या की पूर्ति के लिए चार माना जा रहा है। वस्तुतः वे हैं ही चार। इसे ऊपर सिद्ध कर चुके हैं। एतदर्थ यह भी एक युक्ति है कि यदि यम चार से अधिक होते तो कुँ·····घुँ के आगे चुँ, छुँ आदि का भी कोई न कोई आचार्य निर्देश अवश्य करता, पर ऐसा किसी ने भी नहीं किया। इससे भी स्पष्ट है कि यम चार से अधिक नहीं है।[2] कुछ आचार्यों ने तो चार से अधिक (पाँचवें आदि) यमों

उनका नासिक्यत्व मात्र दिखाया गया है, जिससे कि यमों को क्, ख् से अभिन्न समझने का भ्रम उत्पन्न न हो जाए।

१. त्रिषष्टि में 'हुँ इति नासिक्यः' और दीर्घ लृवर्ण को मिलाकर वा०प्रा० में पञ्चषष्टि वर्ण माने गये हैं।

२. यमचतुष्टय का उपपादन 'यमों का प्रयत्न' के अवसर पर भी किया जाएगा।

का निषेध भी किया है। जिसे शीघ्र ही उद्धृत करने वाले हैं।

जिह्वामूलीय (ᳵ) एक होता हुआ भी ᳵक, ᳵख के रूप में लिखा जाता है। वैसे ही उपध्मानीय (ᳶ) भी एक ही है, पुनरपि ᳶप, ᳶफ इस प्रकार दो-दो रूपों में लिखा जाता है। यहाँ किसी को भी यह भ्रान्ति वा संशय नहीं होता है कि जिह्वामूलीय एवं उपध्मानीय एक-एक नहीं हैं, अपितु दो-दो हैं। क्योंकि सभी जानते हैं कि वे यथार्थतः एक-एक ही हैं, पर उनके आश्रयत्व के प्रदर्शनार्थ ही क-ख, प-फ लिखे जाते हैं। यतोहि उन वर्णों के विना उनका उच्चारण हो नहीं सकता। वैसे ही यमों के विषय में जान लेना चाहिये। यथा-प्रथम यम यथार्थ में एक ही है, परन्तु तदाश्रयत्व के प्रदर्शनार्थ कुँ, चुँ, टुँ, तुँ, पुँ ऐसा लिखा जाता है। इससे प्रथम यम को पाँच समझना नहीं चाहिये। ऐसे ही द्वितीय यम (खुँ, छुँ, ठुँ, थुँ, फुँ) आदि को जानें। आश्रय के भेद से आश्रयी यम का भेद मान कर यमों को बीस मानना सर्वथा अनुचित है।[1] यदि आश्रय के भेद से आश्रयी का भेद होता तो जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय को भी दो-दो मानना होगा। जो कि किसी को भी स्वीकार्य नहीं है। इसीलिये यम-चार ही हैं, बीस नहीं हैं।

यमचतुष्टय की पुष्टि में अनेकों आचार्यों के वचन भी हैं। जैसे कि—

१. स्वयं उवट ने ही अनेकत्र स्पष्ट रूप में यमों को चार माना है। तद्यथा—

१.१. **'स्वरूपैश्चत्वार एव'** (वा०प्रा० ८.२४)। यहाँ एवकरण चार से अधिक यमों के निराकरणार्थ है।

१.२. **'यमा नासिकास्थानाश्चत्वारः सन्तः'** (ऋ०प्रा० ६.३३)।

१.३. **'स्पर्शा यमाननुनासिकाः स्वान् परेषु०'** (ऋ०प्रा० ६.२९) के 'स्वान्' शब्द की व्याख्या करते हुए उवट लिखते हैं—**'स्वान् इति किमर्थमुच्यते ? संज्ञाप्रकरणे चतस्रो अन्तस्थाः** (१.९), **अष्टा ऊष्माणः** (१.१०), **इति वर्णाः कृतसंख्या निर्दिश्यन्ते, न तथा यमाः। तस्मादिह स्पर्शा यमान् अननुनासिका इत्युच्यमाने विंशतित्वात्स्थानिनामादेशानामपि यमानां विंशतित्वप्रसङ्गः। स

१. जैसे घटाकाश, मठाकाश आदि औपाधिक भेद से एक आकाश को अनेक मानना अनुचित है। 'प्रतिभानस्य नानात्वान्न चैकत्वं विहन्यते' (शंकरः-सर्वदर्शन-सिद्धान्तसंग्रहः ४.२.६)। 'अनेकान्तो ह्यनन्यत्वकर' (म०भा० वार्त्तिकम् १.१.६९) अनियमितो भेदोऽन्यकरो भेदकरो (भेदकः) न भवति।

मा भूत्। चतुर्णामेव यमानां प्रथमाः [स्पर्शाः] प्रथमम्, द्वितीया द्वितीयम् एवमापञ्चमादापद्येरन्नित्युच्यते।'**[1] यहाँ हस्तामलकवत् सूत्रकार एवं भाष्यकार उवट का मत स्पष्ट है कि यम चार ही हैं, न कि पाँच, छः आदि। पुनरपि उवट के **'विंशतिसंख्याकाः'** आदि शब्दों को देखकर यमचतुष्टय को विवादास्पद बनाना सर्वथा अनुचित ही है।

२. **चत्वारो यमाः** (या०शि० वर्णप्रकरण-९३)।

३. **चत्वारश्च यमाः स्मृताः, ते चत्वारो नात्र पञ्चमः, चत्वारो ये यमाः स्मृताः** (व०र०प्र०शि० १४, १७, १७६)।

४. **०यमास्तत्र जानीयाच्चतुरस्तथा, यमो नेति च पञ्चमः** (अ०मा० शि० ११७, ११९)।

५. **चत्वारश्च यमा इति वर्णान्तरत्वेनोपदेशः संयोगशास्त्रात्** (शि० प्र० ४)।

६. **स्वरा द्वाविंशतिर्यमाः चत्वारश्च**..... (षो०शि० २)।

७. **यमाश्चत्वारः प्रथमयमद्वितीययमादिभेदेन विभाजनात्** (श० कौ० १.१.८)।

८. शिक्षा के ४.२ और ४.४ सूत्रों में भी यम चार ही गिनाए गये हैं।

९. **चत्वारस्तु यमाः स्मृताः, चत्वारस्तु यमाः प्रोक्ताः** (शै०शि० पृ० १,२)

७. प्रत्येक यम का संज्ञाकरण—कुँ खुँ गुँ घुँ इनकी यम संज्ञा और उनके चतुष्टयत्व के सिद्ध होने के पश्चात् प्रत्येक की क्या-क्या संज्ञा है, इस विषय में सम्प्रति लिखते हैं। प्रत्येक यम के लिये आचार्य पाणिनि आदि ने क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ संज्ञाओं का प्रयोग किया है। यथा—**'वर्गाणां प्रथमद्वितीया.....यमौ च प्रथमद्वितीयौ.....। .....यमौ च तृतीय-चतुर्थौ.....'** (शिक्षा ४.२,४)। अपि च **'यमाश्चत्वारः प्रथमयमद्वितीय-यमादिभेदेन विभजनात्'** (श०कौ० १.१.८)। **'चतुर्णामेव यमानां प्रथमाः [स्पर्शाः] प्रथमम् [यमम्], द्वितीया द्वितीयम् एवमापञ्चमादापद्येरन्'**

१. आनुपूर्व्याद् यथाक्रमं नासिक्या आगमा भवन्ति। प्रथमस्पर्शात् प्रथमनासिक्यः, द्वितीयाद् द्वितीयः, एवमन्यत्रापि (त्रि०र०-तै०प्रा० २१.१२)। अत्रापि यमचतुष्टयम् उपपद्यते।

(उवट-ऋ०प्रा० ६.२९)।

प्रथमादि शब्दों को यमों की संज्ञा न माननी चाहिये। क्योंकि इन्हीं शब्दों को आचार्य ने वर्गीय वर्णों के लिये भी प्रयोग किया है। यदि वे शब्द संज्ञाओं के रूप में आचार्य को अभीष्ट होते तो वर्गीय वर्णों के लिये और यमों के लिए उनका प्रयोग न कर पृथक्-पृथक् संज्ञाओं का निर्देश करते। ऐसा न करने से ही ज्ञात होता है कि ये संज्ञायें नहीं है, अपितु क्रमत्व व्यवहार की उपपन्नता के लिये व सुबोध के लिये ही पूरणप्रत्ययान्त संख्यामात्र का निर्देश है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। यतोहि व्यवहार की उपपन्नता वा सुगमता मात्र ही प्रयोजन होता तो आचार्य स्पष्टार्थ स्वरूप का ही निर्देश करते। जैसे कि **'कखचछ.....पफाः.....कुँ, खुँ.....'** अथवा वर्गत्व-द्योतन की हानि न होने देने के लिए **'कखौ चछौ टठौ तथौ पफौ.....कुँ, खुँ.....।'** ऐसे ही दूसरे सूत्र (४.४) में भी समझें। ऐसा निर्देश करने में बहु लघुता भी है।[1] लघुता का अनादर करते हुये गुरुता के अनुकरण से ही स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये संज्ञायें हैं। जहाँ तक (वर्गीय वर्णों एवं यमों के लिए प्रयुक्त) समान संज्ञा का प्रश्न है, उसका उत्तर अभी आगे देने ही वाले हैं।

इन संज्ञाओं का विधान पाणिनि ने अपने शास्त्र में कहीं नहीं किया। ये संज्ञाएँ हैं पूर्वाचार्यों की।[2] जैसे कि वर्गीय वर्णों के लिए तै०प्रा० (१.११) में विधान किया गया है कि **'प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थोत्तमाः'।** अर्थात् प्रत्येक वर्ग के वर्ण यथाक्रम प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और उत्तम (पञ्चम) संज्ञक होते हैं। ये संज्ञायें केवल वर्गस्थ स्पर्श वर्णों के लिए मानी गईं है, स्वर, अन्तस्थ, ऊष्म और अयोगवाहों के लिये नहीं। अतः प्रातिशाख्यकारों[3] को ये संज्ञाएँ यमों के लिए अभीष्ट नहीं है।[4]

१. **शिक्षा की यथापाठ मात्रायें—** **ऊहित पाठ की मात्रायें—**

शिक्षा की यथापाठ मात्रायें	ऊहित पाठ की मात्रायें
वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः-२० मात्रायें	कखौ चछौ टठौ तथौ पफौ- २०मात्रायें
	कखचछटठतथपफाः- १६½मात्रायें
यमौ च प्रथमद्वितीयौ-१७½ मात्रायें	कुँ खुँ - ३½ / ४ मात्रायें

२. एतादृश अन्य संज्ञाएँ-स्वर, व्यञ्जन, स्पर्श, विसर्जनीय, यम, अनुस्वार आदि।

३. यद्यपि ऋ०प्रा० के भाष्यकार उवट ने ६.२९ पर यमों के लिए भी प्रथमादि संज्ञाओं का प्रयोग किया है, पुनरपि सूत्रों में कहीं भी न इनका विधान है और न प्रयोग ही है।

४. इदं वचनम् [प्रथमद्वितीय०तै०प्रा० १.११] ककारादीनामेव प्रथमादिसंज्ञाप्रत्य-

यदि वे (प्रातिशाख्यकार) यमों के लिये भी प्रथमादि संज्ञाएँ मानते हैं, तो **'प्रथम ऊष्मपरो द्वितीयम्'** (तै०प्रा० १४.१२) इत्यादि सूत्रों में वर्गीय वर्णों के साथ यमों का भी ग्रहण होने रूपी अतिव्याप्ति दोष आ जाता है। अतः प्रातिशाख्यकारों ने यमों के लिए प्रथमादि संज्ञाओं का विधान नहीं किया। पर पाणिनीय शास्त्र में वर्गीय वर्णों एवं यमों के लिए इन संज्ञाओं की कोई उपयोगिता नहीं है। क्योंकि वर्गीय वर्णों के ग्रहण के लिए आचार्य ने प्रत्याहार सूत्र बना दिये और अयोगवाह घटक यमों के अट्-प्रत्याहार के ग्रहण से गृहीत होने से सब कार्य सम्पन्न होते हैं। अतः पाणिनीय शास्त्र में इन संज्ञाओं से कार्यविधान में कोई अतिव्याप्ति व अव्याप्ति जैसे दोष नहीं आते। पर प्रातिशाख्यकार पाणिनि के सदृश प्रत्याहारों का प्रयोग नहीं करते।[1] अतः उन्हें पृथक्-पृथक् विभिन्न संज्ञाओं की आवश्यकता पड़ती है। पाणिनि के द्वारा शिक्षा में प्रयुक्त ये संज्ञायें केवल पूर्वाचार्यों का अनुकरण मात्र है। संज्ञाओं का विधान व प्रयोग शास्त्र की उपपन्नता के लिए किया जाता है और पृथक्-पृथक् संज्ञाकरण निर्दुष्टतार्थ होता है।[2] जब एक ही (समान) संज्ञा से पाणिनि का शैक्षिक कार्य चल रहा है और कोई दोष भी नहीं आ रहा है, तो पृथक्-पृथक् संज्ञा का निर्देश करके गौरव दोष का सिरदर्द क्यों मोल लेंगे। अतः पाणिन्यादि के यहाँ 'प्रथम' आदि शब्द यमों की संज्ञायें हैं।

प्रथमादि शब्दों को संज्ञा न मानकर केवल क्रमबोधक या संख्यावाचक ही मानेंगे तो प्रथमादि से अन्तस्थों में से यादि का, ऊष्मों में से शादि का, ऐसे ही अयोगवाहों में से विसर्गादि का भी ग्रहण होने लगेगा, जो कि अतिव्याप्ति-दोषग्रसित है और न ही ऐसा व्यवहार कहीं देखा ही जाता है। आचार्य पाणिनि ने भी ४.२-६ सूत्रों में प्रथमादि शब्दों को केवल वर्ग्य वर्णों एवं यमों के लिए ही प्रयोग किया है, स्वर-ऊष्मादि के लिए नहीं। आचार्य के इस नियत वा सीमित व्यवहार से भी ज्ञापित होता है कि ये प्रथमादि शब्द संज्ञाएँ हैं। आचार्य के द्वारा यमों के लिये भी प्रथमादि संज्ञाओं का प्रयोग करने से यह ज्ञात होता है कि आचार्य से पूर्व किन्हीं आचार्यों के द्वारा

यार्थम्, स्वरान्तस्थोष्मप्रभृतिषु तु संख्यासंज्ञाप्रतिषेधार्थम् (त्रि०र०)। इदमपि सूत्रं गणान्तरेषु संज्ञानिवृत्यर्थम्। एवं हि अकाराकारयोः प्रथमद्वितीयसंज्ञानिवृत्या .....(वै०आ०)।

१. ऋक्तन्त्र को छोड़कर।

२. दोषनिवृत्तये संज्ञा क्रियते, प्रयोजनाभिनिर्वृत्तये वा (प्रदीपः-म०भा० १.१.७)।

यमों के लिए भी प्रथमादि संज्ञायें की गईं थीं। जो कि मृग्य हैं।

८. यमों का वर्णान्तरत्व—ऊपर भलीभाँति सिद्ध किया गया है कि वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण अपने-अपने '**यम**' को प्राप्त करते हैं, यदि पञ्चम वर्ण परे हो तो। परन्तु कुछ वैयाकरण एवं शिक्षाकारादि इन्हें '**अनचि च**' (अष्टा० ८.४.४६) से किये हुए द्वित्ववर्णों में से द्वितीयवर्ण की ही यम के रूप में व्याख्या की और करते भी हैं। यथा—'**अग्ग्निमीळे**' (ऋ० १.१.१) '**इति द्वौ गकारौ नकारश्च संयोगः''''द्वितीयो गकारः संयोगादिः स यमीभूतः''''**'(उवटः-ऋ०प्रा० १.२५)।'**आर्त्त्नी इमे**' (ऋ० ६.७५.४) '**इति रेफो द्वौ तकारौ नकारश्च संयोगः''''क्रमजस्तकारः संयोगादिश्च यमीभूतः''''**' (उवटः-तत्रैव १.२६)।'**स्वरात् संयोगपूर्वस्य द्वित्वाज्जातो द्वितीयकः॥ तस्यैव यमसंज्ञा स्यात् पञ्चमैरन्वितो यदि**' (व०र०प्र०शि० १७५, १७६) आदि। पर यह वस्तुस्थिति से बहुत दूर है। इस प्रकार समझने के कारण ही यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि कुँ, खुँ आदि कभी वर्णान्तर नहीं हो सकते। फलतः यम-चार नहीं अपितु बीस होंगे।

यथार्थता इस प्रकार है कि जैसे उदात्तत्व और अनुदात्तत्व से युक्त स्वर को स्वातन्त्र्येण स्वरित माना जाता है[१], ठीक उसी प्रकार अननुनासिक स्पर्श वर्णों एवं अनुनासिक (पञ्चम) वर्णों के उभय धर्म से युक्त प्रथम, द्वितीयादि संज्ञक यमों को स्वतन्त्र अर्थात् स्पर्श वर्णों से भिन्न वर्ण माना जाता है। अतः स्वरित के तुल्य ये भी वर्णान्तर ही हैं।[२] यदि द्वित्वजन्य द्वितीय वर्ण को ही यम मानेंगे तो अनेक दोष आते हैं। जैसे कि—

१. द्वित्वजन्य यम वर्गीय वर्ण ही होने से इनका अयोगवाहत्व ही नष्ट होगा। जब अयोगवाहत्व ही नहीं रहेगा तब तद्घटकत्व से विहीनों को यम नहीं कहा जा सकता है। अतः यम द्वित्वजन्य नहीं है, अपितु एक स्वतन्त्र शुद्ध नासिक्य ध्वनि मात्र है।

२. द्वित्वजन्य द्वितीय वर्ण को यम मानने पर उसमें पर वर्ण के नासिक्यत्व

---

१. समाहारः स्वरितः (अष्टा० १.३.३१), उभयवान् स्वरितः (वा०प्रा० १.११०)। शुक्लगुणः शुक्लः, कृष्णगुणः कृष्णः, य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते—कल्माष इति वा सारङ्ग इति वा। एवमिहापि उदात्त उदात्तगुणः, अनुदात्तोऽनुदात्तगुणः, य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते स्वरित इति (म०भा० १.२.३१)।
२. चत्वारश्च यमा इति वर्णान्तरत्वेनोपदेशः संयोगशास्त्रात् (शि०प्र० ४)।

का आरोप मानना होगा।[१] तब इनके स्थान स्वस्थान (मुख) और नासिका दोनों हो जायेंगे। फिर तो इन यमों की अनुनासिक संज्ञा होगी।[२] जब कि सभी आचार्य इन्हें नासिक्यमात्र मानते हैं।[३] सभी आचार्य निर्विवाद से अचों एवं य्, व्, ल् के ही सानुनासिक एवं निरनुनासिक भेद मानते हैं। इनसे भिन्न किसी वर्ण की परिगणना सानुनासिक के रूप में नहीं करते। फिर सानुनासिक ककारादि (कँ्) को यम मानना कहाँ तक उचित है? पहले लिख चुके हैं और सिद्ध कर चुके हैं कि 'कँ्' आदि यमों में ककारादि का सानुनासिकीकरण नहीं है, अपितु यम कादि से भिन्न शुद्ध नासिक्य ध्वनि मात्र हैं और कादि केवल आश्रय के प्रदर्शनार्थ ही लिखे जाते हैं। **इस बात को सानुनासिकता से रहित वर्णों को सानुनासिक के रूप में लिखने से ही समझ लेना चाहिये था।** परन्तु ऐसा न समझकर सानुनासिक कादि (कँ्'') को ही यम समझना एक महती भूल है। अतः द्वित्वजन्य क्, ख् आदि को यम समझना सर्वथा अनुचित है। फलतः इनके (कँ् आदि यमों के) वर्णान्तरत्व के नष्ट होने की आशंका भी छिन्नवृक्षवत् निर्मूल हो जाती है।

३. अयोगवाहों को महाभाष्यकार तथा वार्त्तिककार ने अट् एवं शर् प्रत्याहारों में माना है।[४] शर् में इसलिये माने हैं कि वे अयोगवाह झल् के अन्तर्गत आकर जश्त्वादि कार्य हो जाय। इस उपसंख्यान से भी स्पष्ट है कि सम्पूर्ण अयोगवाह झल् से भिन्न हैं। अतः तद्घटक (कँ् आदि) यम भी झल् (कादि) से भिन्न हैं।

४. वैयाकरण लोग '**अनचि च**', '**अचो रहाभ्यां द्वे**' (अष्टा० ८.४.४६, ४५) से जो द्वित्व कार्य करते हैं, इसे प्रातिशाख्यकार '**स्वरात् संयोगादिर्द्वि-रुच्यते सर्वत्र, परन्तु रेफहकाराभ्याम्**' (वा०प्रा० ४.१००, १०१) आदि सूत्रों से करते हैं। इसी प्रकार अन्य प्रातिशाख्यकार एवं शिक्षाकार भी अपने-अपने सूत्रों व वचनों से द्वित्व करते हैं। तो '**यक्ँना**' (यजु० ३९.८) आदि में

---

१. पर वर्ण के नासिक्यत्व को आरोपित मानने पर सानुनासिक, निरनुनासिक (कँ्, क्) भेद होने से दोनों सवर्ण होंगे। सवर्ण होने से ग्रहणकशास्त्र से सानुनासिक 'कँ्' यम का ग्रहण होने से ये यम योगवाह कहलायेंगे, न कि अयोगवाह।
२. मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः (अष्टा० १.१.८)।
३. अनुस्वारयमा नासिक्याः (शिक्षा १.१६)। अपि च द्र० वा० प्रा० १.७४, ऋ०प्रा० १.४८, ऋ०त० २.२.२ आदि।
४. अयोगवाहानामट्सु, णत्वम्। शर्षु जश्भावषत्वे (म०भा०हयवरट्)।

संयोग के आदि भूत ककार को द्वित्व कर द्वितीय ककार को यम मानना अभीष्ट होता तो प्रातिशाख्यकार आगे '**यमे**' (वा०प्रा० ४.११४) सूत्र से यम के परे रहने पर द्वित्व का निषेध न करते। इस निषेध से दो बातें ज्ञापित होतीं हैं—

(१) यम के परे रहने पर ककारादि को द्वित्त्व होता ही नहीं। अत: द्वित्त्वजन्य को यम मानना अयुक्त है।

(२) यम ककारादि से भिन्न हैं।

यदि कोई कहे कि द्वित्त्व करके द्वितीय वर्ण को यम मानकर और उसके परे रहने पर प्रथम वर्ण को पुनः द्वित्त्व न होने के लिये यहाँ द्वित्त्व का निषेध किया गया है। सो यह सर्वथा अनभिज्ञता होगी। क्योंकि '**लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते**' न्याय से एक बार ही द्वित्त्व होता है, न कि पुन:-पुन:। अन्यथा अनवस्था दोष आ जायेगा।

५. वर्णसामान्यत्व से प्राप्त 'कार', 'इति' आदि[१] का यम आदि अयोगवाहों के निर्देश में निषेध[२] किया गया है। अन्यथा अकार, इकार, ककार, किति, सिति आदि के सदृश अयोगवाहों से भी 'कार' आदि प्रत्यय प्राप्त थे। अयोगवाह घटक यमों से 'कार' आदि का निर्देश सम्भव ही नहीं है। क्योंकि ये ध्वन्यागम मात्र हैं। जब लिपि ही नहीं है तो इनसे कारादि का निर्देश कैसे सम्भव है ? इसीलिए कारादि के सहित उनके कहीं प्रयोग भी देखे नहीं जाते।[३] अत: इस असम्भावना वा प्रयोगानुपपन्नता को द्योतित कराने हेतु ही आचार्यों ने निषेध किया है। इस निषेध से भी ज्ञापित होता है कि अयोगवाह एवं तद्घटक यम वर्णान्तर हैं। क्योंकि द्वित्व जन्य को यम मानने पर उनसे कार, इति आदि का निर्देश सम्भव है और तत्सहित का प्रयोग (ककार, किति, क) भी देखा जाता है। पुन: निषेध व्यर्थ है और यमों को कादि के अभेद वर्ण मानकर उनसे कारादि का निषेध करने का कोई प्रयोजन भी नहीं है, न ही निषेध न करने से कोई हानि है। अत: निषेध से उक्त ज्ञापन मानना ही होगा कि यमादि वर्णान्तर हैं अर्थात् क्, ख् आदि से भिन्न हैं। यमों के कादि से भिन्नत्व की सिद्धि होने पर उनके बीस होने की आशंका

१. द्र०-वा०प्रा० १.३६, ३७, ४०; तै०प्रा० १.१६, २२.४।
२. द्र०-वा०प्रा० १.४१, तै०प्रा० १.१८।'विसर्जनीयादीनां वर्णत्वाविशेषात् कारोत्तरत्वं प्राप्तम् अनेन निवर्त्यते' (त्रि०र०-तै०प्रा० १.१८)।
३. न खलु विसर्जनीयादीनां कारोतरता भवति कुत: ? सर्वत्र तथाप्रयोगानुपलम्भात् (त्रि०र०-तै०प्रा० १.१८)।

का भी निवारण हो जाता है।

६. यमों का स्थान सभी आचार्यों ने नासिका माना है। यदि क्, ख् आदि के द्वित्वजन्य द्वितीय वर्ण को यम मानेंगे तो इनका स्थान नासिका न होकर कण्ठ, तालु आदि सभी स्थान मानने होंगे। जो कि यह किसी भी आचार्य को अभीष्ट नहीं है। अत: कुँ खुँ आदि द्वित्वजन्य नहीं हैं अर्थात् वे वर्णान्तर हैं।

७. कुँ खुँ आदि यमों में दृश्यमान कवर्ग को भी यम मानकर किन्हीं आचार्यों ने यमों का स्थान नासिका-जिह्वामूल माना है (शिक्षा १.१८), क्योंकि वे आचार्य कवर्ग का स्थान जिह्वामूल ही मानते थे (शिक्षा १.५, व० शि० १.८, वा०प्रा० १.६५)। परन्तु आचार्य पाणिनि ने यमों का स्थान नासिका मात्र माना है (शिक्षा १.१६)। पाणिनि के इस सिद्धान्त से सिद्ध है कि वे यमों में न कवर्ग को मानते थे, न ही कवर्ग का स्थान (जिह्वामूल या कण्ठ)। अत: यम कादि से भिन्न हैं।

८. शिक्षा के '**वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः यमौ च प्रथमद्वितीयौ०**', '**वर्गाणां तृतीयचतुर्थाः यमौ च तृतीयचतुर्थौ०**' (४.२.४) इन दोनों सूत्रों में प्रथमादि यम वर्गों के प्रथम, द्वितीयादि वर्णों से भिन्न परिगणित हैं, सो इससे स्पष्ट है कि प्रथमादि यम वर्गों के प्रथमादि वर्ण (क्, ख् आदि) से भिन्न हैं अर्थात् द्वित्त्वजन्य नहीं हैं।[१]

९. 'कुँ, खुँ' आदि में विद्यमान उकारानुबन्ध यदि ककार का होता तो 'कुँ' से 'कँ्, खँ्, गँ्, घँ्, ङँ्' का ग्रहण होता। पर ऐसा किसी भी आचार्य को मान्य नहीं है। 'कुँ' से सभी आचार्य कँ्, चँ्, टँ्, तँ्, पँ्' का ही ग्रहण करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि उकारानुबन्ध का सम्बन्ध ककार से नहीं, अपितु यम से है। अत: स्पष्ट है कि यम 'कँ्' आदि से भिन्न हैं।

यमों के कादि से भिन्नत्व (वर्णान्तरत्व) की पुष्टि के लिये कुछ स्थल दिखाते हैं। विस्तरभिया केवल दो ही स्थल दिखा रहे हैं।

(१) 'रुक्कँ्मम्' (यजु० १५.१५) इस शब्द के संयुक्त व्यञ्जनों के विषय में उवट और अनन्तभट्ट लिखते हैं कि '**ककारद्वय-यम-मकाराः**[२]

१. यमों का वर्णान्तरत्व आगे 'यमों का प्रयत्न' के अवसर पर भी दिखाया जायेगा।
२. 'यमे' (वा०प्रा० ४.११४) सूत्र से यम के परे होने पर द्वित्व का निषेध किया गया है। पुनरपि यहाँ द्वित्व क्यों और कैसे किया गया, यह विचारणीय है। यदि 'ककार-यम-मकाराः संयोगाः' कहा जाय तो अधिक समीचीन होगा।

संयोगाः' (वा०प्रा० १.१०३)। यहाँ यम की द्वित्वजन्य ककारद्वय से भिन्न परिगणना है। अतः स्पष्ट है कि यम ककारादि से भिन्न अर्थात् वर्णान्तर हैं। इसी प्रकार सभी प्रातिशाख्यों की व्याख्याओं में अनेक स्थल देखे जा सकते हैं।

(२) अब शिक्षा ग्रन्थों में से एक स्थल दिखाते हैं—**'अथ चतुरक्षराणामुदाहरणम्'.... । यज्ज्ँञौ इति द्वौ जकारौ यमञकारौ'** (सा०गौ०शि० २.१)।[1] इसी प्रकार याज्ञवल्क्यादि अनेक शिक्षाओं में देखा जा सकता है।

शिक्षा, व्याकरण एवं प्रातिशाख्यादि सभी शास्त्रीय प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि यम क्, ख् आदि से भिन्न वर्ण हैं। पुनरपि वर्णान्तरत्व के अभाव की भ्रान्ति क्यों और कैसे हुई, यह समझ से बाहर की बात है।

९. यमों का आगमत्व तथा अंगत्व—

९.१ आगमत्व—यमों का सभी आचार्यों ने आगम के रूप में विधान किया है। जैसे कि **'आनुपूर्व्याद्यमानेतान् वर्णयन्त्यागमान् बुधाः'** (व्या० शि० ३५६), **'अयमपि वर्णागमो विधीयते'** (शि०प्र० ४)। इसी प्रकार प्रातिशाख्यों की व्याख्याओं में भी देखा जा सकता है।[2] उवट ने कहीं-कहीं यमों के लिए आदेश शब्द का भी प्रयोग किया है।[3] परन्तु इन स्थलों में भी उनका तात्पर्य आगम से ही है। क्योंकि स्थानी के अभाव में इन्हें आदेश नहीं कहा जा सकता।

९.२ अंगत्व—सभी व्यञ्जन पूर्व अथवा पर स्वर के साथ मिलकर तदङ्गत्वेन गृहीत होते हैं।[4] यतोहि स्वातन्त्र्येण इनकी किसी प्रकार की गति नहीं होती।[5] तद्घटक अयोगवाह भी पूर्व के अङ्ग होते हैं—**'पूर्वस्याङ्गं भवन्त्येते'** (व०र०प्र०शि० ४१)। तदङ्गभूत यम भी पूर्व स्वर के ही अङ्ग (अवयव) होते हैं। जैसे कि—**यमश्च** (वा०प्रा० १.१०३)। **यमः पूर्वगुणः** (ऋ०त० १.२), (शि०प्र० ४)। **सोऽङ्गं पूर्वाक्षरस्य हि** (या०शि० २१३)।

परन्तु तै०प्रा० में पर स्वर का अंग माना गया है—**'नासिक्याः'**

१. अपि च द्रष्टव्य तत्रैव २.२, ५, ६।
२. नासिक्याः [यमाः] वर्णा आगमत्वेन विधास्यन्ते (वै०आ०-तै०प्रा० २१.८), आनुपूर्व्याद् यथाक्रमं नासिक्या आगमा भवन्ति (त्रि०र०-तै०प्रा० २१.१२)।
३. द्र०-ऋ०प्रा० ६.२९।
४. द्र०-ऋ०प्रा० १.२२-२६; वा०प्रा० १.९९-१०५; तै०प्रा० २१.१-९।
५. अन्वग्भवति व्यञ्जनम् (म०भा० १.२.२१)। द्र०- व्यञ्जन-पा०श० ७।

(२१.८)। इस सूत्र से पूर्व स्वर के अंगत्व का निषेध किया गया है और पर स्वर का अंग माना गया है।[1] पूर्व व पर के अंगत्व के प्रयोजनों का उल्लेख आगे 'यमों की उपयोगिता' के विषय में लिखा जायेगा।

इनके आगमत्व व अंगत्व को देखते हुये यह शंका नहीं करनी चाहिये कि ये स्वतन्त्र वर्ण नहीं है। जैसे कि 'भीषयते' आदि में 'षुक्' आदि आगम वर्णान्तर नहीं हैं। क्योंकि वस्तुतः यम न तो आगम हैं, न ही आदेश। यहाँ (पूर्व उद्धृत प्रमाणों में) इनके अंगत्व मात्र अर्थात् इनका पराश्रयत्व मात्र अथवा तदङ्गीधर्मवत्ता मात्र को दिखाना है। इसी में इनका व्यञ्जनत्व एवं अयोगवाहत्व है। जिस प्रकार व्यञ्जन पूर्व व पर स्वर के आश्रित होते व अङ्ग बनते हैं, उसी प्रकार यम भी पूर्व व पर स्वर के अङ्ग होते हैं। इतना मात्र तात्पर्य ग्राह्य है, षुगादि आगमों के तुल्य इनका आगमत्व नहीं है। उक्त तात्पर्य को प्रकट करने के लिए ही इन्हें कहीं आगम कहा गया और कहीं आदेश। वस्तुतः यदि वे षुगादि के सदृश आगम होते तो आदेश शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता, यदि आदेश होते तो आगम नहीं कहा जाता। जब कि यमों के लिये दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है और यमों में टित् वा कित् आदि आगमों के लिङ्ग न होने से वे आगम नहीं हो सकते।[2] पुनरपि उन्हें आगम कहा गया है तो उसे भाक्त (गौण) प्रयोग समझना चाहिये।[3] अतः यहाँ आगम और आदेश शब्दों का अर्थ 'उत्पत्ति' लिया जाना चाहिये, जैसे कि 'यमस्वरूप का निर्णय' के प्रसंग (पृ० १९९, २०१) में लिख चुके हैं।

१०. यमों का व्यञ्जनत्व और मात्रा—

१०.१ व्यञ्जनत्व—'अनुस्वारस्स्वरभक्तिश्च' (तै०प्रा० २१.६), **'इति स्वरं प्रत्यङ्गत्वविधानादनुस्वारस्य व्यञ्जनत्वम्'** (तै०प्रा० १.३४-त्रि०र०)। यहाँ प्रकट किया गया है कि जो स्वरों के प्रति अङ्ग के रूप में अर्थात् उन्हीं के साथ प्रयुक्त होते हैं, वे व्यञ्जन होते हैं।[4] यही भाव व्यञ्जन

१. द्र०-त्रिभाष्यरत्न तथा वैदिकाभरण भाष्य।
२. आगमा अपि षष्ठीनिर्दिष्टस्यैवोच्यन्ते, लिङ्गेन च। न चात्र षष्ठीं, न खल्वप्यागमलिङ्गं पश्यामः (म०भा० १.१.१)।
३. यथार्थतः न कोई आगम होता है, न ही आदेश। यह तो केवल प्रक्रिया मात्र है। कहा भी गया है— सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः।
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते॥
४. ऋक्प्रातिशाख्य के भाष्य में उवट ने अनुस्वार को न स्वर माना है और न ही

की परिभाषा से भी व्यक्त होता है—**'अन्वग्भवति व्यञ्जनमिति'** (म०भा० १.२.२९)। इसी भाव को किसी आचार्य ने **'व्यज्यते स्वरसाहाय्यमादायोच्चार्यते इति व्यञ्जनम्'** के रूप में प्रकट किया है। अयोगवाह भी स्वरों के अङ्गत्व रूप में प्रयुक्त होने से इनका भी व्यञ्जनत्व सिद्ध होता है। जैसे तद्घटक अनुस्वार के विषय में त्रिभाष्यरत्नकार ने लिखा है। अत: यमों का भी व्यञ्जनत्व सिद्ध होता है। महाभाष्यकार के **'अयोगवाहानामट्सु वक्तव्यम्'** (हयवरट्) से व्यक्त होता है कि अयोगवाहों को सामान्य रूप से व्यञ्जनत्व प्राप्त है, पर इन्हें स्वरों में भी मानना चाहिये। इस उपसंख्यान से भी अयोगवाहों का व्यञ्जनत्व सिद्ध होने से तद्घटक यम भी व्यञ्जन हैं। पर स्वरों में भी मानना चाहिये। परन्तु यह मत तैत्तिरीय शाखावालों को अभीष्ट नहीं है।[1]

सर्व:[2] **शेषो व्यञ्जनान्येव** (ऋ०प्रा० १.६), **शेषो व्यञ्जनानि** (तै०प्रा० १.६), **व्यञ्जनं कादि, अथ व्यञ्जनानि** (वा०प्रा० १.४७, ८.१४) इस प्रकार व्यञ्जनों के उपदेश में तथा संज्ञा-विधान में यमों का ग्रहण आचार्यों के द्वारा किये जाने से स्पष्ट ही यमों का व्यञ्जनत्व सिद्ध है।

१०.२ मात्रा—समस्त व्यञ्जनों की मात्रा सभी आचार्यों ने आधी मात्रा मानी है। जैसे कि **'ह्रस्वार्धकालं व्यञ्जनम्'** (तै०प्रा० १.३७), **'इतरे च'** (ऋ०प्रा० १.३४)। परन्तु अनुस्वार को व्यञ्जन सामान्य से प्राप्त आधी मात्रा का निवारण कर ह्रस्व और दीर्घ माना गया है।[3] अनुस्वार को ह्रस्व, दीर्घ मानने से शेष अयोगवाहों की आधी मात्रा का स्पष्टीकरण मिलता है। अत: यम भी आधी मात्रा के हैं। परन्तु आधी मात्रा वाले व्यञ्ज्ञनों के समान स्पष्ट उच्चारण न होने के कारण यमों को आधी मात्रा से न्यून मानना अनुचित न

व्यञ्जन। उसे इन दोनों से भिन्न मानकर उसका ग्रहण अनुस्वार संज्ञा से अथवा वर्ण शब्द से माना है। जैसे—'तत्रोभयधर्मयोगादुभयस्वभावं स्वरव्यञ्जनयोरन्यद् वर्णान्तरं प्रकाशयति-अनुस्वारो व्यञ्जनं स्वरो वा' (ऋ०प्रा० १.५)। प्रातिशाख्यकार शौनक का भी यही मत द्योतित होता है।

१. 'अनुस्वारोत्तमा अनुनासिका:' (तै०प्रा० २.३०) की व्याख्या करते हुये गार्ग्यगोपाल यज्वा लिखते हैं 'अनुस्वारो व्यञ्जनं वा स्वरो वेति परमतम्'। तन्निरासार्थमिदमुच्यते। अनुस्वारोप्युत्तमवद् व्यञ्जनमेवास्मच्छाखायाम्' (वै० आ०)।

२. सर्वशब्दो यमादीनां परिग्रहणार्थ इत्युवटस्तत्रैव।

३. ह्रस्व, दीर्घ अनुस्वारों की मात्रा के विषय में आचार्यों का पर्याप्त मतभेद हैं।

होगा। पर इस विषय में किसी आचार्य का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिला। हाँ! अपने इस विचार को प्रमाणित करने के लिये ऋक्प्रातिशाख्य में एक संकेत अवश्य मिलता है। जिसका विवरण निम्न प्रकार है—

भले ही आज यमों का उच्चारण लुप्त हो गया हो, पर इसका उच्चारण पहले अवश्य होता था। इसके उच्चारण न होने पर एक दोष माना जाता था। अत: उस दोष से बचने के लिये लोग विशेष प्रयत्न करते थे वा ध्यान रखा करते थे। इससे कुछ लोग यमोच्चारण में इतने अभ्यस्त हो गये थे कि पवर्ग और पञ्चम वर्ण के मध्य में दो-दो यमों का उच्चारण करते थे। जिसके निवारणार्थ ऋक्प्रातिशाख्यकार को इसे दोषों में गिनना पड़ा-**'पकारवर्गोपहिताच्च रक्तादन्यं यमम्०'** (ऋ०प्रा० १४.५३)। यथा—**'तृण्णुत'** (ऋ० १.११०.१) का उच्चारण **'तृप्प्ँप्ँणुत'** करना। इन दो यम वा अधिक यम का तात्पर्य यही निकाला जा सकता है कि पवर्ग एवं अनुनासिक के मध्य में यम का उच्चारण तीव्र नासिकता के साथ स्पष्ट रूप से प्रकट होता था। इससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि यम के उच्चारण में तीव्र नासिकता अथवा दीर्घ कालिक नासिकता पूर्वाचार्यों को अभीष्ट नहीं थी। अर्थात् आधी मात्रा में स्पष्टतया उच्चरित होने वाले व्यञ्जनों की भाँति यम का भी उच्चारण अभीष्ट नहीं था। आधी मात्रा से न्यून मात्रा में अर्थात् अदीर्घ (अल्प) कालिक नासिकता के साथ इसका उच्चारण अभीष्ट था।

११. यमों का स्थान, करण और प्रयत्न—

११.१ स्थान—पाणिनि आदि सभी आचार्यों ने यमों का स्थान नासिका माना है।[1] किसी आचार्य ने नासिकाजिह्वामूल भी माना है।[2] **'यत्र वर्णोच्चारणाय करणं स्पृशति तत् स्थानम्'** (तु०-तै०प्रा० २.३३) की निरुक्ति के अनुसार नासिका को स्थान नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वहाँ करण (जिह्वा आदि) का स्पर्श नहीं होता। **'यत्र वर्णा व्यङ्ग्यत्वेन तिष्ठन्ति, यत्र वोपलभ्यन्त उच्चारणेन इति तत् स्थानम्, अथवा वर्णोच्चारणसमये तिष्ठति स्थिरम्, करणवत् चलायमानो न भवतीति स्थानम्'** के अनुसार

१. अनुस्वारयमा नासिक्या:। —शिक्षा १.१६
अथ मुखग्रहणं किमर्थं? 'नासिकावचनोऽनुनासिक:' इतीयत्युच्यमाने यमानुस्वाराणामेव प्रसज्येत। —म०भा० १.१.८। अपि च द्र०-ऋ०प्रा० १.४८, तै०प्रा० २.४९, वा०प्रा० १.७४, ऋ०त०-२.२.२।

२. यमाश्च नासिक्यजिह्वामूलीया एकेषाम्। —शिक्षा १.१८

नासिका को भी स्थान कहा जाता है।

कुँ खुँ आदि यमों में कवर्ग को देखकर ही सम्भवत: कुछ आचार्यों ने यमों को नासिक्यजिह्वामूलीय माना होगा। यतोहि कवर्ग का स्थान पक्षान्तर में जिह्वामूल भी है।[१] परन्तु यम कवर्ग के सन्नियोग में ही नहीं रहता, अपितु अन्य वर्गीय वर्णों के साथ भी रहता है।[२] अत: कवर्ग का जिह्वामूलीयत्व यम में माना जाना उचित नहीं है। इसीलिये सम्भवत: पाणिनि ने सिद्धान्त पक्ष में नासिका मात्र माना है। और यह नासिका स्थान यमों का अपना स्वतन्त्र स्थान है, इसे नैमित्तिक अर्थात् पञ्चम वर्ण के परत्व से यम में नासिक्यत्व आ जाता है, ऐसा नहीं समझना चाहिये। इसमें प्रमाण—**'विज्ञेया नित्यनासिक्या यमानुस्वारपञ्चमाः'** (व्या०शि० ४१३), **यमाश्चानुस्वारश्च पञ्चमाश्च नित्यनासिक्याः नासिक्यस्वभावा भवन्तीति ज्ञातव्याः, न तु निमित्ततः इत्यर्थः** (वेदतैजस-तत्रैव)।

११.२ करण—वर्णों के उच्चारण में करण (अत्यधिक सहायक अवयव) जिह्वा है।[३] परन्तु ओष्ठ्य एवं नासिक्य वर्णों के उच्चारण में जिह्वा का प्रयत्नविशेष न होने के कारण वह करण नहीं बन सकती। फिर ओष्ठ्यादि वर्णों का करण क्या है? उनका अपना स्थान ही करण है—**शेषाः स्वस्थानकरणाः** (शिक्षा० २.८), **समानस्थानकरणा नासिक्यौष्ठ्याः** (वा०प्रा० १.८०)। इससे स्पष्ट है कि यमों का करण नासिका ही है। वा० प्रा० में कुछ विशेष उल्लेख भी मिलता है—**'नासिकामूलेन यमाः'** (१.८२)। अर्थात् यमों का उच्चारण नासिकामूल से करना चाहिये।[४]

११.३ प्रयत्न—यमों की उत्पत्ति दो स्पृष्ट वर्णों (अपञ्चम एवं पञ्चमों) की ध्वनियों के मध्य में शुद्ध नासिक्य के रूप में होती है, जो नासिका के

---

१. कवर्गावर्णानुस्वारजिह्वामूलीया जिह्व्या एकेषाम् (शिक्षा १.५), कवर्ग ऋवर्णश्च जिह्व्यः (व०शि० १.८), ऋ ≍क्कौ जिह्वामूले (वा०प्रा० १.६५)।

२. कुछ लोग 'आत्मा' आदि में 'आत्कँमा' आदि के रूप में यम का निर्देश करते हैं। जो कि नितान्त अशुद्ध है। 'आत्त्ँमा' के रूप में ही लिखना चाहिये। क्योंकि कादि यम नहीं हैं, वे आश्रय के प्रदर्शनार्थ ही लिखे जाते हैं। 'त्' के आश्रित प्रथम यम को 'क्ँ' के रूप में लिखना अशुद्ध ही है।

३. येन स्पर्शयति तत् करणम् (तै०प्रा० २.३४)।

४. यमाश्चत्वारो नासिकामूलेन क्रियन्ते (=उच्चार्यन्ते) इत्युवटस्तत्रैव। यमानुस्वारनासिक्या नासामूलभवा दशा (व०र०प्र०शि० ३४)।

मूलभाग में होती है। अर्थात् इनकी उत्पत्ति में आभ्यन्तरयत्न (आस्यप्रयत्न) नहीं होते। इसीलिये यमों के आभ्यन्तर प्रयत्नों के विषय में कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। इससे यहाँ यह भी स्वत: सिद्ध है कि यम आस्यप्रयत्नक कादि से भिन्न हैं।

शिक्षा के चतुर्थ प्रकरण में बाह्य यत्नों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[१] जो कि निम्न प्रकार है—

संज्ञा	यम	बाह्ययत्न			
प्रथम यम	क्ँ च्ँ ट्ँ त्ँ प्ँ[२]	अल्पप्राण	विवृतकण्ठ	श्वास	अघोष
द्वितीय यम	ख्ँ छ्ँ ठ्ँ थ्ँ फ्ँ	महाप्राण	विवृतकण्ठ	श्वास	अघोष
तृतीय यम	ग्ँ ज्ँ ड्ँ द्ँ ब्ँ	अल्पप्राण	संवृतकण्ठ	नाद	घोष
चतुर्थ यम	घ्ँ झ्ँ ढ्ँ ध्ँ भ्ँ	महाप्राण	संवृतकण्ठ	नाद	घोष

विशेष ध्यातव्य—यम के पूर्व में स्थित अननुनासिक स्पर्श वर्ण के उच्चारण में जिह्वा एवं स्थान का स्पर्श होता है और यम के परवर्ती अनुनासिक स्पर्श वर्ण के उच्चारण में जिह्वा तथा स्थान के स्पर्श के साथ-साथ नासिका का भी प्रयत्न होता है। क्योंकि इसके उच्चारण के समय अलिजिह्वा (कौवा) न तो ढीली रहती है, न ही कठोर। फलत: फेफड़े से आगत वायु कुछ आस्य-विवर में तथा कुछ नासिका-विवर में प्रविष्ट होता है। यम के उभयनिष्ठ वर्णों के एतादृश प्रयत्नों के मध्य में यम का उच्चारण केवल नासिका से होता है। तब अलिजिह्वा शिथिल रहती है। फलस्वरूप आस्यविवर पूरा बन्द हो जाता है। अत: फेफड़े से आगत सम्पूर्ण वायु नासिकाविवर में प्रवेश करता है। प्रविष्ट होते ही नासिका-मूल में यम का उच्चारण होता है। यह समस्त प्रयत्न मात्र डेढ़ मात्रा वा उससे न्यून मात्रा काल में ही होता है। यतोहि उभयनिष्ठ व्यञ्जन आधी-आधी मात्रा के हैं और यम आधी से न्यून मात्रा वाला है। ऐसी स्थिति में यम के उच्चारण में उभयनिष्ठ स्पर्श वर्णों के आस्यप्रयत्नत्व की प्रतीति होना स्वाभाविक है। अत एव आचार्य शौनक ने

---

१. अपि च द्र०-व्या०शि० ३९४।

२. यहाँ सर्वत्र प्रथमादि यमों को क्, च् आदि नहीं समझना चाहिये। वह तो केवल प्रत्येक वर्ग के साथ प्रत्येक यम के सन्नियोगत्व मात्र का प्रदर्शन है। अन्यथा स्थानभेद आदि की आशंका होगी।

कहा है कि यमों के उच्चारण काल में स्पर्शात्मक आस्य प्रयत्न (ध्वनि) प्रतीत होने लगता है—'**श्रुतिर्वा यमेन मुख्यास्ति समानकाला**' (ऋ०प्रा० ६.३३)।[1] इसीलिये तो नासिकास्थान वाले यम स्वरूप के चार होते हुये भी स्थानीरूप लक्षित होकर बीस प्रतीत होते हैं।[2] यम के इस आस्य ध्वनि की प्रतीति के प्रदर्शनार्थ एवं '**यमः प्रकृत्यैव सदृक्**' के आधार पर 'कुँ' आदि में 'क्' आदि पूर्व वर्ण लिखा जाता है, पर यम 'क्' आदि नहीं है।

१२. यमों की उपयोगिता—अनेक प्रमाणों से और विविध युक्तियों से जिन कुँ खुँ आदि को यम सिद्ध किया गया है, शब्दशास्त्र आदि में उनका प्रयोजन ही क्या है? यदि कोई उपयोगिता ही नहीं है तो इन्हें यम मानना व सिद्ध करना भस्मनिहुतवत् व्यर्थ ही है। परन्तु वैसा नहीं है। इनके अनेक प्रयोजन हैं। तद्यथा—

(१) भाष्य के उपसंख्यान से अयोगवाह घटक यमों को भी अट्प्रत्याहार के अन्तर्गत माना जाता है। इससे णत्वादि कार्य सिद्ध होते हैं। अन्यथा—**गृभ्ँणामि** (ऋ० १०.८५.३६), **रुग्ँणः** (तै०सं० ६.४.११) आदि में यम का व्यवधान होने पर णत्व सिद्ध नहीं होगा। इसी प्रकार शर्प्रत्याहार में भी मानकर जश्त्वादि कार्य सिद्ध होते हैं। जैसे कि—चक्ख्ँतुः, जग्घ्ँनु आदि।

(२) तै०प्रा० में यमों को पर स्वर का अङ्ग माना गया और शेष सभी प्रातिशाख्यों में तथा सभी वैयाकरणों ने पूर्व का अङ्ग माना है।[3] कुछ भी हो दोनों पक्षों के आचार्यों ने अपनी-अपनी प्रक्रिया के अनुसार अनिष्ट के निवारणार्थ एवं इष्टसिद्ध्यर्थ[4] ही पूर्व व पर का अङ्ग माना है। अन्यथा पक्ष की स्थापना निरर्थक होगी।

इस अङ्गत्व का प्रयोजन यह भी है कि '**व्यञ्जनं स्वरेण सस्वरम्**' (वा०प्रा० १.१०७) अर्थात् जो व्यञ्जन जिस उदात्तादि धर्मयुक्त स्वर का

१. यमोच्चारणेन समानकाला मुखे भवा श्रुतिरस्ति, यया यमस्तद्रूपो लक्ष्यते (उवटस्तत्रैव)। यमोच्चारण आस्यप्रयत्नः केवलं प्रतीयते, परं न भवतीति भावः।

२. यस्माद्यमा नासिकास्थानाश्चत्वारः सन्तो विंशतिस्थानिनां सरूपा लक्ष्यन्ते (उवटस्तत्रैव)।

३. द्र०-यमों का अंगत्व (पृ० २१७)।

४. इस इष्टत्वानिष्टत्व के कार्य के लिये उदाहरण मृग्य हैं।

अङ्ग होता है, वह उस धर्म से युक्त होता है।[1] जैसे कि याज्ञवल्क्यशिक्षा आदि में कहा गया है—

स्वर उच्चः स्वरो नीचः स्वरः स्वरित एव च।
स्वरप्रधानं त्रैस्वर्यं व्यञ्जनं तेन सस्वरम्॥
व्यञ्जनान्यनुवर्तन्ते यत्र तिष्ठति सस्वरः॥ या०शि० ११८, ११९॥
यद् व्यञ्जनञ्च यस्याङ्गं तत्तेन सस्वरं भवेत्। (व०र०प्र०शि० ४९)

अतः व्यञ्जन घटक यम भी पूर्व व पर स्वर के उदात्तादि धर्मों से युक्त होते हैं अर्थात् उस स्वर के साथ (तद्धर्मत्व से) यम का भी उच्चारण होता है (द्र०-उवट-ऋ०प्रा० १.२५)। इसी में इनका अङ्गत्व है।

(३) '**यमे**' (वा०प्रा० ४.११४) यहाँ यम के परे होने पर संयोगादि पूर्व वर्ण के द्वित्व का निषेध किया गया है। जो कि '**स्वरात् संयोगादिर्द्विरुच्यते सर्वत्र**' (वा०प्रा० ४.१००) [व्याकरण में '**अनचि च**' (अष्टा० ८.४.४६)] से प्राप्त था।

(४) '**यमान्नासिक्या स्वरभक्तिरुत्तरा**' (ऋ०प्रा० ६.३६) यहाँ कहा गया है कि यम से उत्तर नासिका स्थानवाली स्वरभक्ति होती है। यहाँ संख्या ३ और ४ में स्पष्ट रूप से यम-संज्ञा का उल्लेख करते हुये प्रयोजन दिखाया गया है। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं।

१३. प्रातिशाख्यों की प्रामाणिकता—प्रसंगतः यहाँ प्रातिशाख्यग्रन्थों की प्रामाणिकता पर भी लिखते हैं। क्योंकि सम्भव है कुछ लोग इनकी प्रामाणिकता पर प्रश्न उठायें। अतः इस विषय में विस्तृत चर्चा न कर दो विद्वद्वरों के विचार प्रस्तुत करता हूँ।

(१) 'पार्षद=प्रातिशाख्य ग्रन्थ आर्ष हैं' (द्र०-रिसर्च स्कालर पं० भगवद्दत्त विरचित 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास', प्रथम भाग, अध्याय-१५)।

(२) 'ऋषि दयानन्द ने संस्कारविधि में ऋग्वेदादि के पदपाठ और क्रमपाठ के अध्ययन का विधान किया है। इसलिये हम इन्हें [=प्रातिशाख्यों

१. यानि यस्य स्वरस्याङ्गभूतानि व्यञ्जनानि तानि तेनैव स्वरेण समानस्वराणि भवन्ति (उवटः-ऋ०प्रा० १.२२)। व्यञ्जनानि पुनर्नटभार्यावद् भवन्ति (म०भा० ६.१.२) का अभिप्राय भी वही है।

को] ऋषि दयानन्द द्वारा स्वीकृत प्रामाणिक ग्रन्थों में गिन सकते हैं।' [क्योंकि पदपाठ और क्रमपाठ के नियम प्रातिशाख्यों में ही विहित हैं।] (द्र०-म०म०पं० श्री युधिष्ठिर जी मीमांसक के द्वारा मार्च-१९८५ में प्रकाशित वेदवाणी का 'दयानन्द-विशेषाङ्क-२', पृ० ७६)।

प्रातिशाख्यों में निरूपित अनेक संज्ञाओं का आश्रय पाणिनि आदि सभी आचार्यों ने लिया है। इससे भी इनकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है। प्रातिशाख्यों में निरूपित विसर्जनीय, अनुस्वार, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय आदि-आदि अनेक संज्ञाओं को यथावत् पाणिनि आदि आचार्यों ने स्वीकार किया है, तो उनमें निरूपित यम भी पाणिनि आदि को यथावत् स्वीकृत होना चाहिये।[1] यदि नहीं तो यह बताना होगा कि प्रातिशाख्यों में निरूपित यमों को यथावत् स्वीकार न करने में क्या हेतु है और क्या प्रमाण है ? यथावत् स्वीकार करने में हानि ही क्या है ?

—उदयनाचार्य

वाणी की महिमा

ततान श्रवो देवेष्वमृतमजुर्यम् (ऋ० ३.५३.१५)
शुद्धवाणी देवों=विद्वानों को अक्षय यश और अमरत्त्व देती है।
चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम् (ऋ० १.३.११)
वाग्देवी सत्य की प्रेरक और सद्बुद्धि की दात्री है।
सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यान् (अथर्व० ९.१०.७)
वाक्तत्त्व मनुष्यों को चिन्तन की शक्ति देता है।

१. धातुशब्दः पूर्वाचार्यसंज्ञा। ते च क्रियावचनानां संज्ञां कृतवन्तः। तदिहापि पूर्वाचार्यसंज्ञाश्रयणात् क्रियावाचिनामेव भूवादीनां धातुसंज्ञा विधीयते (काशिका १.३.१)।

परिशिष्ट-४

उदात्तादि स्वरों का स्वरूपविवेचन[1]

—उदयनाचार्य

वैदिक वाङ्मय में उदात्तादि स्वरों का विशेष महत्त्व है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि "**आर्त्विज्यं करिष्यन् वाचि स्वरमिच्छेत। तया वाचा स्वरसम्पन्नया आर्त्विज्यं कुर्यात्। तस्माद्यज्ञे स्वरवन्तं दिदृक्षन्त एव**" (श०ब्रा० १४.४.१.२७)। यहाँ ऋत्विक्कर्म (यज्ञ) में मन्त्रों को स्वरयुक्त वाणी से बोलने का विधान है। साथ में यह भी कहा गया है कि ऐसे स्वरयुक्त ऋत्विक् को लोग देखने (सुनने) की इच्छा करते हैं। सस्वर पाठ केवल श्रवण के सौष्ठव के लिए ही नहीं अपितु वेदार्थ जानने के लिए भी अनिवार्य है। वेंकटमाधव ने कहा भी है—"**अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्। एवं स्वैरः प्रणीतानां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इति**" (ऋग्वेदानुक्रमणी १.८.१२)। महर्षि पतञ्जलि ने भी स्वर की अनिवार्यता का निरूपण किया— "**दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्**" (तु० नारदीयशिक्षा १.१.५)॥"**यो वा इमां पदशः स्वरशोऽक्षरशो वाचं विदधाति स आर्त्विजीनो भवति**" (म०भा०पस्प०)। यज्ञों में एकश्रुति के पक्ष में स्वरों का प्रयोजन बतलाते हुए मीमांसा में शबरस्वामी ने कहा—"**अथ त्रैस्र्यादीनां कथं समाम्नानमिति ? उच्यते, अर्थावबोधनार्थं भविष्यति**" (मीमांसा ९.२.३१)। इस प्रकार के अनेकों प्रमाण हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि वेद के अर्थावगति में स्वरों की अत्यन्त आवश्यकता है। पर यह उद्देश्य तभी पूर्ण होगा, जब स्वरों का शुद्ध-शुद्ध उच्चारण ज्ञात होगा। अतः इनके उच्चारण प्रकार को समझाने का प्रयत्न करते हैं—

उदात्त के लक्षण—उदात्त के लक्षणों (जिनसे उच्चारण का प्रकार लक्षित होता है) को आचार्यों ने इस प्रकार बताया है—"**उच्चैरुदात्तः**"

१. यह लेख वेदवाणी के सन् २०११, अगस्त-अक्तूबर के अंकों में और आर्षज्योति के सन् २०१३, अप्रैल-जून के अंकों में क्रमशः प्रकाशित है।

(अष्टाध्यायी १.२.२९, सरस्वतीकण्ठाभरण १.१.९३, तैत्तिरीयप्रातिशाख्य १.१.३८, वाजसनेयप्रातिशाख्य १.१०६)। जैनेन्द्रव्याकरण में "**उच्च-नीचावुदात्तानुदात्तौ**" (१.१.१३) के रूप में कहा गया है तो अनुभूति-स्वरूपाचार्य ने अपने सारस्वत व्याकरण की स्वोपज्ञवृत्ति में लिखा है कि— "**उच्चैरुपलभ्यमान उदात्तः**" (१.२), '**उच्चैरुपलभ्यमानो योऽच् स उदात्तसंज्ञो भवति**' (काशिका १.२.२९)। **समानयमेऽक्षरमुच्चैरुदात्तम्** (शौनकीयाचतुराध्यायिका १.१४)। **तीव्रार्थतरमुदात्तम्** (निरुक्त ४.२५)। इस उदात्त के लिए उत्[1], उच्च[2], उद्घात[3], अनत[4], आद्यस्वर आदि संज्ञान्तर प्राप्त होते हैं।

अनुदात्त के लक्षण—"**नीचैरनुदात्तः**" (अष्टा० १.२.३०, तैत्तिरीय-प्राति० १.१.३९, वाजसनेयप्राति० १.१०९, शौनकीयाचतुराध्यायिका १.१५, सरस्वतीकण्ठाभरण १.१.९४, सारस्वतव्याकरण-स्वोपज्ञवृत्ति १.२), **उच्चनीचावुदात्तानुदात्तौ** (जैनेन्द्रव्याकरण), **नीचैरुपलभ्यमानो योऽच् सोऽनुदात्तसंज्ञो भवति** (काशिका १.२.३०)। **अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम्** (निरुक्त ४.२५)। अनुदात्त के लिए नीच[5], अनुच्च[6], निघात[7], सन्न[8], विक्रम[9], नत[4] आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं।

स्वरित के लक्षण—समाहार स्वरितः (अष्टा० १.२.३१, तै०प्राति० १.१.४०, सरस्वतीकण्ठाभरण १.१.९५)। **व्यामिश्रः स्वरितः** (जैनेन्द्र-व्याकरण १.१.१४), **समवृत्त्या स्वरितः** (सारस्वतव्याकरणस्वोपज्ञवृत्ति १.२), **उभयवान् स्वरितः** (वाज०प्राति० १.१०), **उदात्तानुदात्तसन्नि-कर्षात् स्वरित इति** (पाणिनीयशिक्षा ८.२३), **आक्षिप्तं स्वरितम्** (शौनकीया-चतुराध्यायिका १.१६), **उदात्तानुदात्तसमाहारो योऽच् स स्वरितसंज्ञो भवति** (काशिका १.२.३१), **उदात्तत्त्वानुदात्तत्वे वर्णधर्मौ समाह्रियेते यस्मिन् सोऽच् स्वरितसंज्ञः स्यात्** (सि०कौमुदी ७)। प्रवण[10], द्वियम[11], स्वार[12], रि[13], मध्यम आदि शब्द स्वरित के ही अनर्थान्तर हैं।

१. ऋक्तन्त्र २.६.१; २. फिट्सूत्र ४.१०; ३. पुष्पसूत्र १०.९;
४. नातानतिकम् (द्र० काशिका-पदमञ्जर्यौ ४.३.६७)। ५. ऋक्तन्त्र २.६.४, ५;
६. फिट्सूत्र ४.१०; ७. पुष्पसूत्र १०.८, म०भा० २.१.१; ८. अष्टा० १.१.४०,
९. तै०प्रा० १९.१; १०. तै०प्रा० १.४७; ११.तै०प्रा० १९.३;
१२. उच्चानुदात्तयोर्योगे स्वरितः स्वार उच्यते (याज्ञवल्क्यशिक्षा-२२८), अपि च द्र० वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा १०२, १०३; १३. सामतन्त्र ७.५.६

लक्षणों का विवेचन—उदात्तादि तीनों स्वरों के लक्षणों का निष्कर्ष यह है कि उच्चध्वनि, नीचध्वनि एवं मध्यमध्वनियों को क्रमशः उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित कहते हैं। परन्तु किसी भी लक्षण में यह स्पष्ट नहीं किया गया कि उच्चैस्त्व और नीचैस्त्व क्या होता है। इसका कारण यह हो सकता है कि पाणिनि आदि आचार्यों के समय तक वेदमन्त्र ही नहीं, अपितु लौकिकभाषा में भी उदात्तादि स्वरों का उच्चारण व्यवहार में था। इसके लिए अनेकों स्पष्ट संकेत उपलब्ध होते हैं। काशिकाकार ने कहा भी है कि "**उदात्तादिशब्दाः स्वरे वर्णधर्मे लोकवेदयोः प्रसिद्धा एव**" (१.२.२९), "**लोकवेदयोः प्रसिद्धौ गुणावेव वर्णधर्मावुदात्तानुदात्तौ गृह्येते**" (१.२.३१)।[14] लौकिक व्यवहार और वेदपाठ में उच्चैस्त्व तथा नीचैस्त्व सर्वविदित होने के कारण उनकी अवगति के लिए किसी विशेष व्याख्या की आवश्यकता नहीं हुई।[15] पर आज वे सन्देहास्पद बने हुए हैं। क्योंकि सम्प्रति लोक में संस्कृतभाषा का प्रचलन व व्यवहार ही नहीं, स्वरोच्चारण का कहना ही क्या है? वेदमन्त्र भी विस्वर पढ़े जाते हैं। ऐसी स्थिति में उच्चैस्त्व और नीचैस्त्व अननुभूत होने से विशेषतया व्याख्यातव्य बन जाते हैं।

'**उच्चैः**' शब्द महान्, अत्यधिक ऊँचे शब्द और ऊँचे देश या स्थान अर्थों में प्रयुक्त होता है। सभी अर्थों में यह अव्यय अधिकरण प्रधानार्थक है। अधिकरण कारक होने से क्रिया की अपेक्षा रखता है। "**उच्चैरुदात्तः**" सूत्र में '**उच्चैः**' शब्द अधिकरणभूत ऊर्ध्वस्थान अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उसका अधिकरणत्व उपलब्धि या उच्चारण क्रिया के प्रति है।[16] अत एव काशिकाकार ने "**उच्चैरुपलभ्यमानो योऽच्०**" ऐसा अर्थ किया।[17] अब सूत्रस्थ '**उच्चैः**' शब्द का अर्थ यह निकलता है कि 'ऊर्ध्वस्थान में उपलभ्यमान'। '**ऊर्ध्व**' शब्द अवयव वाची होने से '**अवयवी**' की भी अपेक्षा

१४. उदात्तत्वादीनामज्धर्मतया एव लोकप्रसिद्धत्वेन (लघुशब्देन्दुशेखरः)।
१५. लोकप्रमाणता के आधार पर प्रणीत अशिष्यप्रकरण के सूत्र (अष्टा० १.२.५३-५७) हमारे कथन की पुष्टि करते हैं।
१६. उच्चैरित्यधिकरणशक्तिप्रधानम्, अधिकरणत्वञ्चोच्चारणं प्रति (लघुशब्देन्दुशेखरः, बृहद्शब्देन्दुशेखरः)।
१७. उच्चैरित्यस्याधिकरणप्रधानत्वात् क्रियापेक्षत्वाच्चाधिकरणस्योपलभ्यमान इत्युक्तम् (पदमञ्जरी १.२.२९)।

रखता है, जिसमें ऊर्ध्व, अधः आदि अवयव विद्यमान हों।[१८] सूत्र का निष्कृष्ट अर्थ यह निष्पन्न होता है—'**वर्णाभिव्यक्ति में समर्थ एवं अवयवीभूत कण्ठादि स्थानों के ऊर्ध्वावयव में उपलब्ध या उच्चारित अच् उदात्तसंज्ञक होता है।**' यही अर्थ 'उदात्त' इस महती संज्ञा से भी द्योतित होता है। यतोहि महती संज्ञाएँ अन्वर्थक होती हैं।[१९] उदात्त शब्द उत्पूर्वक आङ्पूर्वक 'दा' धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर बनता है, **स्व-स्व-स्थानस्य उत्=उच्चैः=ऊर्ध्वभागे आदीयते=गृह्यते=उच्चार्यते यः स उदात्तः।**[२०] यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि उदात्तादि लोक और वेद में प्रसिद्ध हैं, जैसे कि पूर्व में कहा गया है, तो पाणिन्यादि लक्षणकारों को ''**उच्चैरुदात्तः**'' आदि लक्षणों को बनाने की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान देते हुए काशिका-कार लिखते हैं कि '**त इह तद्गुणेऽचि परिभाष्यन्ते**'। इसका आशय यह है कि लोकादि में उदात्तादि शब्द वर्णों के गुणों वा धर्मों के लिए प्रसिद्ध हैं, न कि वर्णों के लिए। लोकप्रचलित अर्थ व्याकरण में ग्रहण करने से ''**उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः**'' (अष्टा० ८.४.६५) इस सूत्र का 'उदात्त गुण से उत्तर अनुदात्त गुण को स्वरित गुण हो जाता है', इस प्रकार का अनभीष्ट अर्थ गृहीत होता है। इस अर्थ में यह दोष है कि गुणों में कभी भी पौर्वापर्यभाव और स्थान्यादेशभाव उपपन्न नहीं हो सकते।[२१] अतः लक्षणों के द्वारा उदात्तादि गुणों को गुणवान् अचों में परिभाषित किया जा रहा है, ऐसा अभिप्राय काशिकाकार आदि वैयाकरणों का है।[२२]

---

१८. ऊर्ध्वावयवस्य चावयव्यपेक्षायां तालुकण्ठादिवर्णाभिव्यक्तिस्थानानामित्यर्थाल्लभ्यते (बालमनोरमा ५)।

१९. अन्वर्थत्वं महासंज्ञाः व्यञ्जन्त्यर्थान्तराणि च (गार्ग्यगोपालयज्वा तै०प्राति० १.२) महत्याः संज्ञायाः करण एतत् प्रयोजनमन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत (म०भा०१.२.४३)।

२०. ऊर्ध्वम् आत्तमिति चात उदात्तम् (म०भा० १.२.३२)।

२१. सत्यं प्रसिद्धा एव ते [=उदात्तादयः शब्दाः], कुत्र प्रसिद्धाः? धर्ममात्रे स्वरे [=ध्वनौ], न तु तद्वत्यचि। ततश्च 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' इति स्वरिताख्यस्य धर्मस्यैव विधिः स्यात्, न च धर्मधर्मिणोः स्थान्यदेशभावः सम्भवतीति.... 'तस्मादि-त्युत्तरस्य' इत्येतदपि न प्रवर्तेत (पदमञ्जरी)।

२२. द्र० न्यासपदमञ्जर्यौ; अपि च समानस्थाने मूर्ध्न आसन्ने उपरिभागे जातेन प्रयत्ने उच्चार्यमाणस्वर **उदात्तगुणकत्वादुदात्तसंज्ञो भवति** (वैदिकाभरण तै०प्रा० १.३८)।

उपर्युक्त चर्चा से विशेषतया ध्यातव्य विषय यह है कि ''**उच्चैरुदात्तः**'' आदि लक्षण उदात्तादियों के गुणी या धर्मी अचों के हैं, न कि गुणों या धर्मों के। सभी शिक्षाकार, प्रातिशाख्यकार और वैयाकरणों ने उदात्तादि गुणों को बाह्ययत्न माना है, स्वयं पाणिनि का भी यही मत है।[२३] पाणिन्यादि आचार्य इन्हें बाह्ययत्न मानते हुए 'कण्ठादि के ऊर्ध्वभाग से निष्पन्न अच्' ऐसा अन्तःप्रयत्न (आस्यप्रयत्न) के रूप में कैसे लक्षण कर सकते हैं? अतः ये लक्षण अन्तःप्रयत्नजन्य अचों के बोधक हैं। अर्थात् नाभि से उत्थितवायु कण्ठ आदि स्थानों के ऊर्ध्वभाग में आघात करने पर उत्पन्न हुआ वर्ण 'उदात्त' कहलाता है।[२४] यहाँ यह भी अवधेय है कि ये गुण अचों के हैं और अज्वर्णों के उच्चारण में जिह्वादि करणों का कण्ठादि स्थानों में स्पर्श होता ही नहीं है। करण स्वरसीमा के अन्दर ही रहकर वायु को तत्तद् स्थानों में अभिघात कराता है। जिससे उदात्तादि गुणवान् अज्वर्णों की उत्पत्ति होती है, अस्तु।

''**उच्चैरुदात्तः**'' आदि लक्षणों का इतना व्याख्यान समझने पर भी उदात्तादि का उच्चारण अज्ञात, अप्रत्यक्ष ही प्रतीत होता है। क्योंकि जब तक उदात्तवान् अचों की निष्पत्ति के कारणभूत, निमित्तभूत बाह्ययत्नों को हृदयांगम नहीं कर लिया जाता, तब तक अचों का उदात्तत्व (ऊर्ध्वभाग-निष्पन्नत्व) अज्ञात या अप्रत्यक्ष ही रह जाता है। अत एव काशिकाकार को पुनः ''**यस्मिन्नुच्चार्यमाणे गात्राणामायामः=निग्रहो भवति०**'' इस बाह्य-यत्नविषयक लक्षण को प्रस्तुत करना पड़ा[२५] और यह लक्षण काशिकाकार का स्वकीय नहीं है, अपितु '**उच्चैरुदात्तः**' आदि सूत्रों के प्रणेता महर्षि

---

२३. कालो विवारसंवारो श्वासनादावघोषता। घोषाऽल्पप्राणता चैव महाप्राणः स्वरास्त्रयः॥ बाह्यं करणमाहुस्तान् वर्णानां वर्णवेदिनः (शिक्षा ८.३०, ३१)।

२४. प्रयत्नप्रेरितो वायुर्यदोर्ध्वभागे प्रतिहतोऽचं व्यञ्जयति तदा स उदात्तः (द्र० शब्देन्दु-शेखरद्वयम्)। अष्टौ स्थानानि.....स्थानानि, तेषु चोच्चनीचसमभेदात् त्रयोंऽशास्तत्र नाभिदेशादूर्ध्वमाक्रामदुदानवाय्वाभिघाताद् वर्णाभिव्यक्तिस्तत्रोच्चभागेऽभिव्यक्त उदात्तः (पाणिनीयशिक्षा की प्रभाटीका पृ० १.२)। स्पष्ट है समानस्थान के ऊर्ध्वादि भागों में वर्णाभिव्यक्ति के लिए नाभिप्रदेश के यत्न अनिवार्य हैं। अर्थात् आयामादि बाह्ययत्नों से ही ऊर्ध्वभागनिष्पन्नत्वादि अन्तःप्रयत्न उत्पन्न होते हैं। अत एव काशिकाकार को द्विविधप्रयत्नपरक लक्षण बताना पड़ा।

२५. ऊर्ध्वभागनिष्पत्तेरप्रत्यक्षत्वाद् तन्निश्चये लिङ्गमाह - यस्मिन्निति (पदमञ्जरी)

पाणिनि भी अपनी शिक्षा में लिखते हैं कि **''तत्र यदा सर्वाङ्गानुसारी प्रयत्नस्तीव्रो भवति, तदा गात्राणां निग्रहः, कण्ठबिलस्य चाल्पत्वं, स्वरस्य च वायोस्तीव्रगतित्वाद् रौक्ष्यं भवति तमुदात्तमाचक्षते''** (शिक्षा ८.२१)। अन्य आचार्यों के भी इस प्रकार के लक्षण मिलते हैं।[२६] इन्हीं कारणभूत बाह्ययत्नों से कार्यभूत अन्तःप्रयत्न निष्पन्न होते हैं। अतः ये बाह्ययत्नविषयक (=गुणबोधक) लक्षण अन्तःप्रयत्नविषयक (=गुणी-बोधक) लक्षणों के पूरक हैं। जैसे गुण-गुणी में विधर्मता नहीं हो सकती है, वैसे ही इन द्विविध लक्षणों में भी कोई विधर्मता नहीं है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, इनमें जन्यजनकताभाव या कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। आयामादि बाह्ययत्नों के बिना ऊर्ध्वभागनिष्पन्नत्वादि अन्तःयत्न सम्भव नहीं है और ऊर्ध्वभागनिष्पन्नत्वरूपी लक्षण (उच्चैरुदात्तः) के बिना आयामादि गुणबोधक लक्षण निरर्थक हो जाते हैं, क्योंकि गुणी के बिना गुण, आश्रय के बिना आश्रयी का अस्तित्व नहीं रहता। अत एव महर्षि पाणिनि को शिक्षाशास्त्र में आयामादि गुणबोधक लक्षणों के उपदेश के बाद अष्टाध्यायी में गुणी बोधक **'उच्चैरुदात्तः'** आदि लक्षणों को भी बताना पड़ा। इसी प्रकार का विवेचन **''नीचैरनुदात्तः''** एवं **''यदा मन्दः प्रयत्नो भवति, तदा गात्राणां प्रसन्नत्वम्, कण्ठबिलस्य च महत्त्वम्, स्वरस्य च वायोर्मन्दगतित्वाद् स्निग्धता भवति, तमनुदात्तमाचक्षते''** (शिक्षा ८.२२) इन लक्षणों में भी जान लेना चाहिए। इतने विवेचन के पश्चात् मैं यह कहना चाहता हूँ कि जो परम्परया उदात्तादि स्वरों के उच्चारण में पूर्ण अभ्यस्त हैं तथा लक्षणविद् भी हैं, उनके लिए आयामादि बाह्यलक्षण एवं ऊर्ध्वभागनिष्पन्नत्वादि उदात्त के लक्षण अनुभव से बाहर नहीं है। हाँ! जो केवल उच्चारण मात्र जानता है, लक्षणों को नहीं अथवा जो लक्षणमात्र को जानता है, उच्चारण को नहीं, उनके लिए तो ये विषय अनुभूत नहीं हो सकते हैं।

२६. आयामो दारुण्यमणुता खस्येति उच्चैःकरणानि शब्दस्य (तै०प्राति० २२.९, म०भा० १.२.२९, ३०)। आयामो नाम वायुनिमित्तमूर्ध्वगमनं गात्राणाम्, तेन य उच्यते स उदात्तः (उवटः ऋ०प्रा० ३.१, अपि च द्र०वाज० प्राति० १.१०६)। समानस्थाने मूर्ध्नि आसन्ने उपरिभागे जातेन प्रयत्नेन उच्चार्यमाणस्वर **उदात्तगुणकत्वादुदात्त-संज्ञो भवति** (वैदिकाभरण तै०प्रा० १.३८)। उच्चैरुच्चार्यते यस्तु स उदात्त उदाहृतः। आयामो दृढता सौक्ष्म्यं गात्रेऽङ्गेषु तथा गले। उच्चत्वकारकानेतानाहुः प्राज्ञा विशेषतः (कौहिलीशिक्षा ३)।

ऋक्प्रातिशाख्य में त्रैस्वर्य का लक्षण इस प्रकार प्राप्त होता है कि—

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः।
आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्ते॥ (ऋ०प्रा० ३.१)

इसकी व्याख्या करते हुए उवट लिखते हैं—**''आयामो नाम वायु-निमित्तमूर्ध्वगमनं गात्राणां, तेन य उच्यते स उदात्तः। विश्रम्भो नामाधोगमनं गात्राणां वायुनिमित्तम्। आक्षेपो नाम तिर्यग्गमनं गात्राणां वायुनिमित्तम्''**। यहाँ स्पष्टरूप से व्याख्यात है कि उदात्त के उच्चारण में वायु के निमित्त से शरीरावयव ऊर्ध्वगमन करते हैं तो अनुदात्त के उच्चारण में अधोगमन। उदात्त और अनुदात्त के उच्चारण में उपयुक्त सभी अवयवों में यदि ऊर्ध्वगमन और अधोगमन होता है, तो उसमें जिह्वा अपवाद नहीं हो सकती। जब कि जिह्वा वर्णोच्चारण में उपयुक्त सभी अवयवों में प्रधानतम साधन है। इतना ही नहीं उवट के वचन में **'गात्र'** शब्द का मुख्य अर्थ **'जिह्वा'** ही प्रतीत होता है, क्योंकि स्वरित के उच्चारण में वायुनिमित्तक जो तिर्यग्गमन (आक्षेप) कहा गया है[२७], वह जिह्वा के अतिरिक्त किसी अन्य गात्रावयव में देखा नहीं जाता। अतः जब उदात्त इवर्ण एवं अनुदात्त इवर्ण का उच्चारण करना होगा, तब जिह्वा की गति अन्य अवयवों के सदृश तालु स्थान में ही क्रमशः ऊर्ध्व एवं अधः भाग की ओर होगी ही।[२८] इसमें सन्देह का अवसर ही नहीं है। जहाँ तक अप्रत्यक्षत्व या अननुभवत्व का प्रश्न है, वह एक सामान्य व्यक्ति व स्वरोच्चारण के अनभ्यस्त व्यक्ति के प्रति कथित कथन है। सूक्ष्मदर्शी वा सूक्ष्मनिरीक्षक के लिए तो वह सब प्रत्यक्ष एवं अनुभूत का ही विषय है। वर्णों के नाद, श्वास, घोष, अघोषादि गुण भी सभी के लिए प्रत्यक्षविषयक नहीं है, तो क्या कोई उनका भी निषेध कर सकेगा?

२७. इसके लिए 'शिक्षाभाष्यभूमिका', पृ० ३९-४० देखें।

२८. उदात्तोच्चारणे तस्य देहदैर्घ्यं भवेद्यतः। उच्चारणेऽनुदात्तस्य देहस्य ह्रस्वता भवेत् (व्यासशिक्षा २८८, २८९)। यहाँ भी स्पष्टतया कहा गया है उदात्तानुदात्त के उच्चारण में अध्येता के शरीरावयवों में क्रमशः दीर्घता एवं ह्रस्वता होती है। यहाँ भी शरीरावयवों में जिह्वा अपवाद नहीं हो सकती। इवर्ण के उदात्त तथा अनुदात्त गुणों को उच्चारण करते समय क्रमशः जिह्वा में दीर्घता एवं ह्रस्वता होगी, परिणामतः उदात्त के उच्चारण में वायु का आघात तालु के ऊर्ध्वभाग में होगा और अनुदात्त के उच्चारण में तालु के अधोभाग में।

अब महाभाष्य की ओर प्रस्थान करते हैं—१.१ ''**इदमुच्चनीचमनवस्थितपदार्थकम्, तदेव हि कञ्चित् प्रत्युच्चैर्भवति, कञ्चित् प्रति नीचैः। एवं हि कश्चित् कञ्चिदधीयानमाह किमुच्चै रोरूयसे शनैर्वर्ततामिति। तमेव तथाऽधीयानमपर आह किमन्तर्दन्तकेनाधीषे उच्चैर्वर्ततामिति। एवमुच्चनीचमनवस्थितपदार्थकम्, तस्यानवस्थितत्वात् [उदात्तादेः] संज्ञाया अप्रसिद्धिः।**

१.२ **एवं तर्हि लक्षणं करिष्यते-आयामो दारुण्यमणुता खस्येति उच्चैःकराणि शब्दस्य [=अचः]** (तै०प्राति० २२.९)। **आयामो गात्राणां निग्रहः। दारुण्यं स्वरस्य दारुणता रूक्षता। अणुता खस्य कण्ठस्य संवृतता। उच्चैःकराणि शब्दस्य [=अचः]। अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य [=अचः]** (तै०प्राति० २२.१०)। **अन्ववसर्गो गात्राणां शिथिलता। मार्दवं स्वरस्य मृदुतास्निग्धता। उरुता खस्य महता कण्ठस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य [=अचः]।**

२.१ एतदप्यनैकान्तिकम्। यद्ध्यल्पप्राणस्य सर्वोच्चैस्तद्धि महाप्राणस्य सर्वनीचैः॥

२.२ सिद्धमेतत्। कथम्? समाने प्रक्रम इति वक्तव्यम्। कः पुनः प्रकमः? उरः कण्ठः शिर इति।[२९] (म०भा० १.२.२९, ३०)।

भाष्यकार ने यहाँ दो खण्डों में अपने मत को प्रश्नोत्तर शैली में प्रस्तुत किया। सर्वप्रथम सूत्रस्थ उच्चैः नीचैः शब्दों के श्रुतिप्रकर्ष अर्थ को लेकर उन्हें अनवस्थितपदार्थक कहा, अर्थात् श्रुतिप्रकर्ष अर्थ को अप्रासंगिक मानकर निराकरण कर दिया। तत्पश्चात् आयाम, अन्ववसर्ग आदि के द्वारा उच्चत्व एवं नीचत्व का सैद्धान्तिक समाधान प्रस्तुत कर दिया। पुनः द्वितीय खण्ड में आक्षेप उठाया कि उदात्तादि गुणों के कारणभूत आयामादि यत्न वक्ता के शरीरगत होने से वक्ता के ही अनुभव में आ सकते हैं, न कि श्रोता के अनुभव में। श्रोता को तो कार्यभूत श्रुतिप्रकर्ष ही अनुभूत होता है, जो कि

२९. भाष्यकार के इस अन्तिम समाधान पर सभी विद्वान् गम्भीरता से विचार करें। क्योंकि जहाँ तक मैंने अध्ययन किया है, प्रायः सभी विद्वानों ने यहाँ बड़ी कठिनाई का अनुभव किया है। इसमें कैयट, पं० मधुसूदन ओझा आदि भी अपवाद नहीं हैं। सभी ने अपने-अपने ढंग से निष्कर्ष निकाला है। मैं अपनी स्वल्पमति के आधार पर संगति व समाधान प्रस्तुत कर रहा हूँ।

अनवस्थितपदार्थक ही है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि प्रथम खण्ड के आक्षेप और द्वितीय खण्ड के आक्षेप के भाव व तात्पर्य में कोई भेद नहीं है। तथा च ''**एतदप्यनैकान्तिकम्०**'' शब्दों से भाष्यकार ने जो आयामादि लक्षण का निराकरण किया है, वह श्रोता की अपेक्षा से है, न कि वक्ता की अपेक्षा से। अर्थात् वक्ता को वे अनुभूतविषयक होने से वक्ता की दृष्टि में भाष्यकार ने आयामादि लक्षण को सिद्धान्ततः स्वीकार कर लिया है, सर्वथा निराकारण नहीं किया। अन्यथा अर्वाचीन आचार्य पौनःपुन्येन इन्हीं लक्षणों को उद्धृत नहीं करते। अस्तु, अब उदात्तादि स्वर श्रोता[३०] को भी अनुभव के विषय बन सके, उसके लिए[३१] उत्तर देते हैं कि ''**समाने प्रकमे......उरः, कण्ठः, शिर इति।**'' यहाँ भाष्यकार ने जिस उद्देश्य से अन्तिम समाधान दिया है, उसे उसी के परिप्रेक्ष्य में समझना चाहिए। यद्यपि कैयट ने '**प्रकम**' का अर्थ 'स्थान' कर लिखा है कि ''**एकस्मिंस्ताल्वादिके स्थाने ऊर्ध्वाधरभागयुक्ते ऊर्ध्वभागेनोच्चार्यमाण उदात्तः, अधरभागनिष्पन्नोऽनुदात्तः। एवं चोच्चैरित्यनेनोर्ध्वभागो गृह्यते, नीचैरित्यधरभागः।**'' यह व्याख्यान श्रोतृविषयक न होने से भाष्यविरुद्ध सिद्ध होता है। अतः कैयट का व्याख्यान अनुचित ही है। यह व्याख्यान इसलिए भी अनुचित है कि कैयटकृत वह अर्थ तो सूत्र से भी प्राप्त हो जाता है। जैसे कि लेख के आरम्भ में वर्णन किया गया है। सूत्र से ही वह अर्थ ज्ञात होने के कारण ही और समाधानान्तर के विद्यमान होने से भाष्यकार ने उसे '**उच्चनीचमनवस्थितपदार्थकम्**' आक्षेप के समाधान में प्रस्तुत नहीं किया।

पाठकों का ध्यान पुनः एक बार इस ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि उच्चत्वादि के अनवस्थितपदार्थक प्रश्न का सैद्धान्तिक समाधान भाष्यकार ने अपनी ओर से आयामादि के रूप में दे दिया है। उरः कण्ठ और शिरः के समानप्रक्रम का समाधान केवल श्रोता की सन्तुष्टि के लिए प्रस्तुत किया है। भाष्यकार के आशय को समझने से पूर्व यह लिखना अप्रासंगिक नहीं होगा कि संगीत के षड्ज, ऋषभ, गान्धार आदि सप्त स्वरों के प्रशिक्षण काल में

३०. यहाँ श्रोतृशब्द छात्रादि का उपलक्षक है।

३१. श्रोता हि वक्तृगतानायामादीन् धर्मान् कार्यादवस्यति, कार्यं च संकीर्णम्। तथाहि महाप्राणो नीचैरप्युच्चारयन् स्वरेण महान्तं देशं व्याप्नोति। अल्पप्राणस्तूच्चैरपि वदन्नल्पं देशं व्याप्नोति (प्रदीपः)। उद्योतोऽप्यत्र द्रष्टव्यः।

अध्यापक छात्रों (श्रोताओं) की सुविधा के लिए हस्तादि अवयवों का विशेष रूप से संचालन करता है, जिससे उन स्वरों के उच्चारण प्रकार का बोध सरलतया हो जाता है और वैसे ही हस्तादि का संचालन उन छात्रों से भी कराया जाता है, जिससे कि हस्तादि के साथ–साथ तदनुकूल शरीरगत प्रयत्नों का अभ्यास हो सके। ऐसा ही सामगान के प्रशिक्षण में भी देखा जाता है, अपि च तद्विषयक ग्रन्थों में हस्तादि के संचालन का विधान भी मिलता है। पर जब पूर्ण अच्छा अभ्यास हो जाता है, उन हस्तादि के संचालनों को छोड़ा भी जाता है। इतना ही नहीं जब गायकवृन्द सामूहिक रूप से गान करते हैं, तो उनके सामने एक व्यक्ति बिना गायन के ही केवल हस्तादि का संचालन करता है। जिससे गायकों के स्वर, श्रुति, लय आदि में एकता व समानता बनी रहे। लिखने का तात्पर्य यह है कि सामने के व्यक्ति या श्रोता को स्वरबोध कराने के लिए हस्तादि का संचालन किया जाता है, यह सर्वविदित ही है। अस्तु, प्रकृतमनुसरामः। उदात्तादि स्वरों के उच्चारण में भी कहा गया है कि—

समं स्वरं पठेन्नित्यं मार्गं हस्ते प्रदर्शयेत्।
यद् वाणी गच्छति स्थानं तद्धस्तेन प्रदर्शयेत्॥
दक्षिणाक्षिनिपातेन दृष्टिं हन्यात् कनीयसीम्।
नासागण्डभ्रुवोः सन्धिमुदात्तविषये विदुः॥

(चारायणीयशिक्षा, पूना पां०सं० २१, २५; गटिंगनपत्र ६)

यथा वाणी तथा पाणी रिक्तं तु परिवर्जयेत्।
यत्र यत्र स्थिता वाणी पाणिस्तत्रैव तिष्ठति॥
यथा धनुष्यवितते शरे क्षिप्ते पुनर्गुणः।
स्वस्थानं प्रतिपद्येत तद्वद्धस्तगतः स्वरः॥

(याज्ञवल्क्यशिक्षा ४६,४७)

अपि च द्रष्टव्य कौहलिशिक्षा (३६), मल्लशर्मकृता शिक्षा (७)। इन वचनों में स्पष्टतया कहा गया है कि वाणी उच्चत्व आदि जिन अवस्थाओं में रहती है, उन अवस्थाओं को पाणी के द्वारा दिखावें। वाजसनेयप्रातिशाख्य में भी उदात्तादि स्वरों को हाथ से प्रदर्शित करने का उल्लेख है—''**हस्तेन ते**'' (१.१२१)।

उदात्तादि का बाह्यप्रदर्शन निम्नप्रकार से किया जाता है—''**तत्रोदात्ते**

ऊर्ध्वगमनं हस्तस्य, अनुदात्तेऽधोगमनं हस्तस्य०'' (उवटः–वा०प्राति० १.१२१)।''**हृद्यनुदात्तः, मूर्धन्युदात्तः, श्रुतिमूले स्वरितः**'' (प्रतिज्ञासूत्र–परिशिष्ट १.४–६)। इन सूत्रों के अनन्तभाष्य का कथन है—''**हृदयसमीपे दक्षिणहस्तेनानुदात्तप्रदर्शनं भवतीति भावः....। मूर्धनि मुखप्रदेश इत्यर्थः....। उदात्तानुदात्तधर्मविशिष्टः स्वरितः श्रुतिमूले दक्षिणकर्ण–मूलसमीपे दर्शनीयमिति।**'' श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षा में भी वर्णित है—

अनुदात्तो हृदि ज्ञेयो मूर्ध्न्युदात्त उदाहृतः।
स्वरितः कर्णमूलीयः सर्वास्ये प्रचयः स्मृतः॥

(पा० शिक्षा ४८; शैशिरीयशिक्षा, पृ० ७)

उदात्तं भ्रुवि पातेन प्रचयं नासिकाग्रतः।
हृत्प्रदेशेऽनुदात्तं तु तिर्यग्जात्यादिकाः स्वराः॥

(प्रातिशाख्यप्रदीपशिक्षा १.११)

अनुदात्तादुदात्तश्चेत्स्वरितोत्तर एव च।
हृच्छिरः कर्णमूलेषु न्यसेद्धस्तमसंशयम्॥
अनुदात्तादुदात्तश्चेदनुदात्तपरस्तथा।
अनुदात्तं हृदि न्यस्योदात्तं वामभ्रुवि न्यसेत्॥
पुनर्हृदि न्यसेन्नीचमिति शास्त्रव्यवस्थितिः।
प्रचितोच्चारणे न्यासो हस्तस्य नासिकाग्रतः॥

(केशवीशिक्षा १.३)

इसी बात को भाष्यकार ने कहा कि आयामादि प्रयत्नजन्य उदात्तादि को '**उरः, कण्ठः, शिरः**' से श्रोतृगण के अवबोधार्थ प्रदर्शित करें।[३२] इस प्रसंग में भाष्य के '**प्रक्रम**' शब्द का नाभितल के प्रयत्नों से कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि वह तो '**आयामो दारुण्यं....**' के अन्तर्गत ही गृहीत होता है। नाभितल के यत्न आयामादि से भिन्न नहीं है, अपितु नाभितल के यत्नों से ही आयामादि यत्न निर्वर्तित होते हैं। भाष्यस्थ '**प्रक्रम**' शब्द का तात्पर्य **उदात्तादि के उच्चारण में आयामादि बाह्ययत्न एवं ताल्वादि के**

३२. स्वरित का प्रदर्शन भाष्य में कण्ठदेश से कहा है तो उद्धृत वचनों में श्रुतिमूल या कर्णमूल के प्रदेश से कहा गया है। वैसे ही उदात्त के प्रदर्शनार्थ भाष्य में शिरोदेश का वर्णन है, तो उक्त वचनों में मूर्धा व भ्रू (वामभ्रू) देश का उल्लेख है।

ऊर्ध्वभागस्थ अन्तःप्रयत्नों के साथ-साथ हस्तसंचालन की क्रिया भी प्रारम्भ होनी चाहिए। इसी के लिए भाष्य में '**समानप्रक्रम**' (=एकसाथ क्रियाद्वय का प्रारम्भ) शब्द का प्रयोग किया गया है। यही भाव नीचे के श्लोकों में वर्णित है—

निवेश्य दृष्टिं हस्ताग्रे शास्त्रार्थमनुचिन्तयन्।
सममुच्चारयेद् वर्णान् हस्तेन च मुखेन[३३] च।
स्वरश्चैव तु हस्तश्च द्वयं तु युगपद् भवेत्॥
हस्तात् भ्रष्टः स्वराद् भ्रष्टो न वेदफलमश्नुते।

(शैशिरीयशिक्षा पृ० ८; याज्ञवल्क्यशिक्षा २२-२४; तु० माण्डूकीशिक्षा ३०-३१)

इन श्लोकों में प्रयुक्त '**हस्तेन च मुखेन च समम्**' एवं '**द्वयं युगपद्**' शब्दों से '**समानप्रक्रम**' शब्द के मत्कृत अर्थ की पुष्टि होती है।

भाष्यकार के उक्त आशय को समझे बिना ही पौराणिक जगत् के प्रसिद्ध विद्वान् पं० मधुसूदन ओझा जी ने अपने 'वर्णसमीक्षा' नामक ग्रन्थ में काशिकादि को उपेक्षणीय लिखा है—"**यत्तु कैयटेन प्रकमः स्थानमुच्यते, स्थानञ्च ताल्वादिकमूर्ध्वाधरभागयुक्तम्.....इत्येवं व्याख्यातम्। काशिकाकौमुदीकारादिभिरपि कैयटवत्मैवानुसृतम्। तदेतत् सर्वं भगवत्पतञ्जल्यादिमहर्षितात्पर्यविरुद्धत्वादुपेक्ष्यम्। न हीमानि ताल्वादि-स्थानानि तथोर्ध्वाधरभागयुक्तानि श्रूयन्ते वा स्मर्यन्ते वानुभूयन्ते वा।[३४] तिर्यग्भागैः सभागत्वेऽप्यूर्ध्वाधरभागैः सभागत्वस्याप्रामाणिकत्वात्। अथ खल्वेकैकस्मिन् स्थाने प्रकल्पितेषु अग्रमध्यमपश्चाद्भागेषु उच्चादीनामभिनिष्पत्तिरिष्यते इति चेत् स्यादेतदेवम्, यदि नाम ताल्वादिनि स्थानानीह विवक्षितानि स्युः। न च तथा विवक्षां पश्यामः। द्विविधानि हि वर्णस्थानानि भवन्ति-सवनस्थानानि च मुखस्थानानि च। तत्रोरःकण्ठशिरोरूपस्त्रिभिः सवनस्थानैरेवैतेषां सम्बन्ध सूत्रवार्त्तिक-भाष्येषु प्रदर्श्यते।.....तस्मात् ताल्वादिसभागस्थानेषूर्ध्वभागनिष्पन्न**

३३. यहाँ 'मुख' शब्द आयामादि बाह्ययत्नों का भी उपलक्षक है।

३४. ताल्वादि के ऊर्ध्व, अधर, मध्य विभागों को सप्रामाणिक युक्तियों से लेखारम्भ में सिद्ध कर चुके हैं। और यह भी बताया जा चुका है कि इन भागों से उच्चारण करना अनुभव से बाहर नहीं है।

उदात्तः। अधोभागनिष्पन्नोऽनुदात्त इत्येवमुक्तिः केषाञ्चिदपदार्थत्वादु-पेक्ष्येति दिक्" (पृ० १४४)। ओझा जी के इन विचारों से पूर्ण सहमत होते हुए इन्हीं युक्तियों से डॉ० विजयपाल प्रचेता जी ने भी एक लेख लिखा है, जो कि आचार्य श्री विजयपाल विद्यावारिधि जी के अभिनन्दनग्रन्थ (पृ० १५५-१६३) में और वेदविद्या (जनवरी-जून २०१२, पृ० ११३-१३०) में "कैयटादिभाष्यव्याख्याताओं की उदात्तादिस्वरूपविषयक महती भ्रान्ति" के शीर्षक से मुद्रित हुआ। अब इनके विचारों की समीक्षा की जाती है—

उरः कण्ठः शिरश्चैव स्थानानि त्रीणि वाङ्मये।
सवनान्याहुरेतानि सन्ति चाप्यधरोत्तरे॥ (नारदीयशिक्षा १.१.७)

इन सवनों के विषय में स्वमत प्रकट करते हुए ओझा जी ने लिखा है—"**सवनः प्रक्रमः। मूलस्थानात् प्रक्रममाणस्य गम्यस्थानसंसर्गं यावन्मध्यतः संविभक्ते पर्यवस्थाने यो यः संयोगः स सवनः। स प्रायेण सर्वत्र त्रेधा कृत्वाभ्युपगम्यते "इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्" इति....। इह नाभिस्थानादुत्थितस्य वायोरुरसि प्रथमः प्रक्रमः।[३५] कण्ठे द्वितीयः। शिरसि तृतीयः। ......अस्ति किञ्चिदुच्चारणमुरसैव प्रक्रमते, न कण्ठान्न शिरसः। अपरे कण्ठादेव नोरसो न शिरसः। अथान्यच्छिरस एव नोरसो न कण्ठात्। तथा चैते त्रयःस्वरा सिद्धाः मन्द्रः, मध्यः, तारश्चेति।**

हृदि मन्द्रो गले मध्यो मूर्ध्नि तार इति क्रमात्॥ इति

प्रातःसवनोच्चारणे गम्भीरः स्वरो भवति स मन्द्रः। स एष उरःकण्ठशिरःस्थानानामौत्तराधर्यक्रमेण सन्निविष्टानामधरादुत्पन्न इत्यनुदात्तः। मध्यन्दिनसवनेनोच्चारणे तु मध्यः स्वरो जायते। स स्वरितः मन्द्रतारोभयधर्मवत्वात्। अथ सायंसवनेनोच्चारणेऽत्युच्चैः स्वरो जायते। स तारः। स उदात्तः। उच्चस्थानगृहीतत्वात् (वर्णसमीक्षा पृ० १३५-१३६)।

कः पुनरसौ प्रक्रम इति चेदुच्यते, वर्णस्वरूपसम्पत्तये नाभ्युत्थितो वायुः प्रथमं यदाहत्य, यत्र वाऽऽत्मानं निपात्य पुनः क्रममाणो वर्णान्

३५. उदात्तादि के उच्चारण के प्रसंग में एवं भाष्य के प्रकरण में 'प्रक्रम' शब्द का नाभितलगत वायु से अथवा प्रयत्नों से कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसा सप्रमाण प्रतिपादन किया जा चुका है। साथ में यह भी प्रतिपादित है कि स्वर के उच्चारण के साथ-साथ हस्तप्रदर्शन का प्रक्रम (=प्रारम्भ) होना चाहिए।

जनयति स प्रक्रमः। स त्रिविधः, उरः कण्ठः शिरः इति (तत्रैव पृ० १४२)।

इन्हीं विचारों को अन्यान्य शिक्षाकार आदि के वचनों को उद्धृत करते हुए डॉ० प्रचेता जी ने अपना शोधलेख लिखा है। इन दोनों विद्वानों का मत यह है कि वर्णों को उत्पन्न करने के उद्देश्य से अग्निप्रेरित वायु नाभितल से उत्थित होकर मध्य में अर्थात् मुख में वर्णों को उत्पन्न करने से पूर्व ही कुछ स्थानों पर आघात करता है, वे आहत स्थान एक, दो या तीन भी हो सकते हैं, उससे अधिक नहीं। वे तीन स्थान हैं—उरः, कण्ठः, शिरः। इन्हीं तीन स्थानों को सवन या प्रक्रम कहते हैं। इन्हीं स्थानों से क्रमशः अनुदात्त, स्वरित और उदात्त गुणों की उत्पत्ति होती है। ये सब विषय अविचारितरमणीय अवश्य हैं, पर तथ्य से सुदूर हैं। क्योंकि इनके मत में स्वरित का उच्चारण तब होता है, जब नाभितल से उत्थित वायु की गति उरः एवं शिरः के मध्य में विद्यमान कण्ठ तक ही होती है, अर्थात् वह वायु उदात्त के उच्चारण स्थान शिर तक पहुँचता ही नहीं है। फिर स्वरित में उदात्त का मिश्रण कहाँ हुआ? जिसे पाणिन्यादि सभी आचार्य मानते हैं। स्वरितोत्पादक मध्यमगति वाला वह वायु यदि केवल कण्ठ को आहत करता है तो उसमें उदात्त एवं अनुदात्तों का सर्वथा अभाव है। यदि उरः और कण्ठ दोनों को आघात करता है तो उसमें केवल अनुदात्त का ही मिश्रण है। ऐसी स्थिति में अनुदात्त तथा स्वरित में भेद ही क्या है? यदि वह वायु कण्ठ और शिरः में आहनन करता है तो उसमें केवल उदात्त का ही मेल है। तब स्वरित उदात्त से भिन्न कैसे हुआ? ''**य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते स्वरित इति**'' भाष्य की यह पंक्ति कैसे सुसंगत होगी? यह विद्वद्वृन्द ही स्वयं विचार करें।

इन दोनों विद्वानों की महती भूल यह भी है कि इन्होंने स्वरित को उदात्त एवं अनुदात्त के मध्य में माना है, जब कि सभी शिक्षाकार, प्रातिशाख्यकार एवं वैयाकरणों ने इसे उदात्त और अनुदात्त का मिश्रण मानते हैं। इतना ही नहीं आचार्य शौनक[३६] और चतुरध्यायिकाकार[३७] ने स्वरित को 'आक्षिप्त' माना है। आक्षिप्त का अर्थ करते हुए उवट ने लिखा है—''**आक्षेपो नाम तिर्यग्गमनं गात्राणां वायुनिमित्तम्**'' (ऋक्प्राति० ३.१) जिसका तात्पर्य

३६. उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्चैव त्रयः स्वराः। आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्ते (ऋक्प्राति० ३.१)।

३७. आक्षिप्तः स्वरितः (च०अ० १.१६)।

है कि स्वरित के उच्चारण में पहले अनुदात्त और उसके बाद उदात्त का उच्चारण नहीं करना चाहिए, अपितु उसके विपरीत (उल्टी गति से) पहिले उदात्त का उच्चारण कर उसके पश्चात् अनुदात्त का करना चाहिए।[३७] यही सर्वमान्यसिद्धान्त है।[३८] पर इनके मत में जब उरः एवं शिरः के मध्य में स्थित कण्ठदेश से स्वरित का उच्चारण होगा, तब वे '**आक्षिप्तः**' का क्या अर्थ करेंगे? वे ही प्रष्टव्य हैं। इनके मत में तो यही कहना पड़ेगा कि स्वरितोत्पक वायु पहिले शिर में आघात कर, पुनः पीछे लौटकर कण्ठ में आघात करेगा। इसे कौन बुद्धिमान् मान सकता है विज्ञ ही विचार करें।

उक्त दोनों विद्वानों ने अपने-अपने शोधलेख में कहीं भी यह बताने का पुरुषार्थ नहीं किया कि उरः, कण्ठः और शिरः ये नाम किस स्थान के हैं? क्या ये बाह्ययत्नों के क्षेत्रीय हैं? या बाह्याभ्यन्तर यत्नों के उभयक्षेत्रीय हैं? यहाँ यह भी विचारणीय है कि उदात्तादियों को तीन सवनों या प्रक्रमों से उत्पाद्यमान मानने पर वे उदात्तादि गुण बाह्ययत्न कहलायेंगे या अन्तःयत्न? उरः आदि का अर्थ लोकप्रचलित अर्थ ही यदि इन्हें स्वीकार्य हैं, तो इनके मत में तो यही कहना पड़ेगा कि अनुदात्त एवं स्वरित गुण बाह्ययत्न हैं और उदात्त शिरोज (मूर्धज, आस्यज) होने से अन्तःयत्न है। जब कि मुनित्रय आदि सभी आचार्य इन्हें केवल बाह्ययत्न मानते हैं। काशिकाकार, कैयट, नागेश, भट्टोजीदीक्षित आदि वैयाकरणों के वचनों को मुनित्रय के आशय से विरुद्ध मानकर उन्हें अमान्य या उपेक्षणीय सिद्ध करने वाले विद्वद्वरेण्य ओझाजी और प्रचेता जी मुनित्रय को कहाँ प्रामाणिक रहने दिया? शिरः शब्द का अर्थ इन्होंने तदेकदेशीभूत मूर्धा में संकुचित कर दिया, अन्यथा लोकप्रसिद्ध अर्थ लेते तो नाभितल का वायु उदात्त के उच्चारणार्थ तीव्रगति से आकर जैसे ही सीधा शिर के मस्तिष्क आदि किसी भी अवयव में आघात करेगा, वैसे ही व्यक्ति या तो उन्मत होगा या मृत हो जायेगा। है ना, अद्भुत ऊहापोह। उदात्तोत्पादक वायु स्वरयन्त्र (कण्ठ) में आघात किये बिना ही यदि सीधा शिरः (मूर्धास्थान, तृतीयप्रक्रम) में पहुँच जाएगा, तो क्या किसी वर्ण की उत्पत्ति होगी? वर्ण (गुणी या धर्मी) के विना उसके गुण या धर्म का अस्तित्व रहेगा? इतना ही नहीं 'शिरः' का अर्थ 'मूर्धा' मानना भी

३८. तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम् (अष्टा० १.२.३२), ऋ०प्रा० ३.४, तै०प्रा० १.४१, वा०प्रा० १.१२६, च०अ० १.१७, ना० शिक्षा २.३.६, या०शिक्षा १.९१ आदि।

उचित नहीं है। क्योंकि अनेकत्र उदात्त का उच्चारण भ्रूमध्य व भ्रूप्रान्त माना गया है।[३९] जहाँ वायु का आघात हो ही नहीं सकता। हाँ, वहाँ उदात्त के प्रदर्शनार्थ हाथ पहुँच सकता है। इसमें न ही कोई असम्भावना है, न ही दोष। यही आचार्यों को अभीष्ट भी है। जैसे कि मैंने पूर्व में प्रतिपादित किया।

स्वरयन्त्र की विशेषक्रियाओं वा अवस्थाओं के कारण एक ही वायु में नाद, श्वास, घोष, अघोष आदि विभिन्न व विरुद्ध धर्म उत्पन्न होते हैं, यह एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है। पर उरः आदि तथाकथित सवनत्रय (प्रक्रमत्रय) में ऐसी क्या-क्या क्रियायें होती हैं, जिससे नाभितल से उत्थित समानधर्मी (एक ही) वायु में उदात्तादि भिन्न-भिन्न धर्म उत्पन्न होते हैं, इसका विवेचन उक्त पण्डितद्वय ने कहीं भी नहीं किया। जिसे ओझा जी अनुभूतविषयक मानते हैं। और एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय विषय यह है कि अनुदात्त का उच्चारण इन्होंने उरः स्थान से माना। इसका तात्पर्य है—अनुदात्तगुणवान् कण्ठ्य अवर्ण, तालव्य इवर्ण, मूर्धन्य ऋवर्ण आदि सभी अच् उरः स्थान से बोले जाते हैं। क्या ऐसा उच्चारण सम्भव है? क्या इसके लिए किसी भी प्रामाणिक आचार्य का प्रमाण है? महर्षि पाणिनि ने तो यह सिद्धान्त उपस्थित किया था कि केवल 'ह्' और 'विसर्जनीय' ही उरःस्थान से बोले जाते हैं—''**हविसर्जनीयावुरस्यावेकेषाम्**''[४०] (पाणिनीयशिक्षा १.३)। यहाँ यह भी अवधेय है कि उरः स्थानीय वर्ण केवल उरः (छाती) से ही बोले जाते हैं, उसमें स्वरयन्त्र (कण्ठ) और मुख के किसी भी अवयव का कोई उपयोग नहीं होता।[४१] अनुदात्तगुणवान् सभी अचों को उरस्य मानना, वैसे ही स्वरितगुणी सभी अचों को कण्ठ्य मानना और उदात्तगुणविशिष्ट अचों को

३९. वाज०प्राति० १.३०, याज्ञवल्क्यशिक्षा ५१, १०८, प्रातिशाख्यप्रदीपशिक्षा १.११, केशवीशिक्षा २ आदि।

४०. एकेषाम्=आचार्य शौनक (ऋक्प्राति० १.४०), शाकटायन (ऋक्तन्त्र ३) आदि।

४१. The authoritu who called the aspirations chest-Sounds may also be commended for his acuteness, since in thair production it may even be said that the throat has no part. It is only, like the mouth, the avenue by which the breath expelled form the chest find exit. (ह्विटनी-चतुरध्यायिका १.१९)।

अपि च ''अस्ति किञ्चिदुच्चारणमुरस्यैव प्रक्रमते, न कण्ठान्न शिरसः (ओझा-वर्णसमीक्षा, पृ० १३५)।

शिरस्य मानना क्या पाणिनि एवं उनके प्रागर्वाचीन आचार्यों के सिद्धान्तों का अवमूल्यन नहीं है? अवश्य है; पुनरपि ओझा जी के द्वारा इन्हें अनुभवविषयक एवं भाष्यादि के अनुकूल व प्रामाणिक मानना उपहास के योग्य हैं।

पूर्व में सिद्ध किया जा चुका है कि भाष्यकार का 'उरः कण्ठः शिर इति' का समाधान वक्ता की अपेक्षा से नहीं, अपितु श्रोता की दृष्टि से है। यह बात केवल भाष्य में ही नहीं अपितु जिस-जिस ग्रन्थ में उरः आदि का वर्णन आया है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र स्पष्टतया हस्तसंचालन द्वारा स्वरप्रदर्शन ही अभिप्रेत है, न कि तत्तद् स्थानों में होने वाले कोई विशेष प्रयत्न या वायु के त्रिविध (मन्द्र, मध्य, तार) गतिक आघात का वर्णन। इसमें हेतु यह भी है कि उरः आदि का वर्णन उन्हीं ग्रन्थों में है, जिस-जिस में मन्त्रोच्चारण में हस्तसंचालन का विधान है। तद्यथा प्रातिशाख्यों में वाजसनेयप्रातिशाख्य में उदात्तादि स्वरों को हस्त के द्वारा भी प्रदर्शित करने का विधान है—''**हस्ते ते**'' (१.१२१)। इसीलिए इस प्रातिशाख्य में वर्णित है—''**सवनक्रमेणोरः-कण्ठभ्रूमध्यानि**'' (१.३०)[४२] त्रैस्वर्य के प्रदर्शनार्थ हाथ के स्थान सवनों के क्रम से उरः, कण्ठ और भ्रूमध्य (शिरः) होते हैं। ''**आयाममार्दवाभि-घाताः**'' (१.३१)=त्रैस्वर्य के प्रदर्शनार्थ जब हाथ उरः आदि स्थानों में पहुँच जाता है, उसी (समान) समय आयामादि शरीरगत यत्न प्रारम्भ (प्रक्रम) करना चाहिए। यही समानप्रक्रम है। इस प्रकार सर्वत्र ''**यद् वाणी गच्छति स्थानं तद्धस्तेन प्रदर्शयेत्**'' इत्यादि वचनों के परिप्रेक्ष्य में समानप्रक्रम को या उरः, कण्ठ (कर्णमूल), शिरः (भ्रूमध्य) स्थानों को समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी, न ही व्यर्थ के अशास्त्रीय कपोल कल्पनाओं की आवश्यकता पड़ेगी, अस्तु।

जिन ग्रन्थों में त्रैस्वर्य के उच्चारण में हस्तसंचालन का विधान नहीं है, उनमें न सवनों का उल्लेख है, न उरः आदि शब्दों (तथाकथित प्रक्रमों) का वर्णन है। जैसे पाणिनीयशिक्षा (सूत्रात्मक), आपिशलिशिक्षा, चान्द्रशिक्षा, ऋक्प्रातिशाख्य आदि। उरः आदि शब्द यदि शरीरगत अवयवों में होने वाले प्रयत्नविशेषों के द्योतक हैं, तो सभी ग्रन्थों में इनका उल्लेख मिलना चाहिए। इतना ही नहीं जहाँ-जहाँ उल्लेख मिलता है, वहाँ-वहाँ मतभेद नहीं होना

४२. इस सूत्र के भाष्य में लिखित ''....त्रीणि स्थानानि वायोर्भवन्ति'' इस प्रकार के उवट एवं अनन्तभट्ट के शब्दों से ही सम्भवतः ओझा जी भ्रमित हुए।

चाहिए था। जबकि मतभेद देखा जाता है।[४३] यह मतभेद हस्तसंचालन में सम्भव है, पर उच्चारण में नहीं। शुक्लयजुर्वेद में जिस प्रकार उरः आदि तीन स्थानों पर उदात्तादि का प्रदर्शन होता है, सामगान में वैसा नहीं होता। उसमें तो केवल हाथ की अंगुलियों में ही स्वर प्रदर्शित होते हैं। अतः यजुःसम्बन्धी भारद्वाज आदि शिक्षाओं में और सामसम्बन्धी नारदीयशिक्षादि में हस्तसंचालन के विधान में पर्याप्त मतभेद देखा जाता है। तैत्तिरीयसंहिता सम्बन्धी व्यासशिक्षा में सामलक्षणों से मिलता-जुलता हुआ हस्तसंचालन का विधान मिलता है (व्या०शिक्षा० ३२६-३२९)। स्पष्ट है यजुः के विधान सामादि में घटित नहीं हो सकते और साम की विधियाँ यजुः आदि में प्रवर्तित नहीं हो सकतीं। भाष्यकार के शब्दों में कहूँ तो ये सभी विधियाँ पार्षदकृतियाँ हैं, जब कि पाणिनि के शास्त्र (उपदेश) सर्ववेदपारिषद् हैं—''**सर्ववेदपारिषदं हीदं[४४] शास्त्रम्**'' (म०भा० २.१.५७)। अतः ये पार्षदकृतियाँ (हस्तसंचालन की विधियाँ) पाणिनि के तन्त्र में स्वीकृत नहीं हो सकती।[४५] अर्थात् ''**उच्चैरुदात्तः**'' आदि सूत्रों से हस्तसंचालन के विधानों को (उरः-कण्ठ-शिरः गत प्रयत्नविशेषों को) ग्रहण करना महती भूल ही नहीं, अपितु अपाणिनीय भी होगा।[४६] भाष्यकार ने तो सैद्धान्तिक समाधान प्रस्तुत करने के पश्चात् वेदपाठ में प्रचलित हस्तसंचालन के परिप्रेक्ष्य में श्रोता की सन्तुष्टि के लिए 'समानप्रक्रम' का समाधान दिया है। भाष्यपारग सभी विद्वान् भलीभांति जानते हैं कि भाष्यकार के सभी समाधान सैद्धान्तिक नहीं होते और उनसे कदापि यह भूलते नहीं बनता कि ''**पक्षान्तैररपि परिहारा**

४३. इस मतभेद का उल्लेख पूर्व में हो चुका है।

४४. 'इदम्' शब्द से प्रायः 'अष्टाध्यायी' का ही ग्रहण किया जाता है। पर यहाँ पाणिनि के पांचों उपदेशों का ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि पतञ्जलि की भावना पाणिनि के किसी एक शास्त्र के प्रति नहीं है, अपितु पाणिनि की प्रामाणिकता की ओर इंगित करती है। अतः 'इदम्' शब्द पाणिनीय शिक्षादि सभी उपदेशों का उपलक्षक है। भाष्यकार ने भी ''पार्षदकृतिरेषा तत्रभवताम्। नैव हि लोके नान्यस्मिन् वेदेऽर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वास्ति'' (एओङ् ऐऔच्)। इन शब्दों से छन्दोगों के मत का निराकरण कर पाणिनीय शिक्षा को भी सर्ववेदपारिषद् घोषित कर दिया।

४५. तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम् (म०भा० २.१.५७)।

४६. साक्षात् पतञ्जलि भी अपाणिनीयत्व से भयभीत होकर अनेकत्र नतमस्तक हो जाते हैं—''सिध्यत्येवम् अपाणिनीयं तु भवति। यथान्यासमेवास्तु।'' तब हमारा अस्तित्व ही क्या है ?

भवन्ति''। यहाँ प्रसंगतः मैं यह भी कहना अप्रासंगिक नहीं समझता कि श्लोकात्मकशिक्षा पाणिनीय नहीं है। क्योंकि इसमें हस्तसंचालनादि पार्षदकृतियाँ विद्यमान हैं। विद्वद्वृन्द पूर्वाग्रह को त्यागकर सत्य को स्वीकार करें।

लक्षणों का निर्माण यद्यपि अतिव्याप्ति आदि दोषों से रहित ही किया जाता है, पर उसमें स्व-स्व शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय भी विशेषतया अपेक्षित होते हैं। अतः उनकी दृष्टि से ही लक्षण बनाये जाते हैं। तद्यथा प्रकृत प्रसंग में उदात्तादि स्वरों के लक्षणों को देखें। वे चार प्रकार के दृग्गोचर होते हैं—१. गुणबोधक, २. गुणीबोधक, ३. अर्थबोधक और ४. उपलक्षक (गौण)।

१. ''**आयामो दारुण्यम्०**'' आदि लक्षण उदात्तादि गुणों के बोधक हैं। इस प्रकार के लक्षणों से महर्षि पाणिनि का व्याकरणकार्य चल नहीं सकता। २. अतः उन्हें '**उच्चैरुदात्तः**' आदि गुणी बोधक लक्षण बनाने पड़े। यहाँ गुणियों के माध्यम से उदात्तादि गुणों का बोध होता है। ३. उक्त द्विविध लक्षणों से निरुक्तकार का कार्य चल नहीं सकता, क्योंकि उन्हें न तो वर्णोच्चारण सिखाना है, न ही शब्दों की निष्पत्ति सिखानी है। उन्हें तो शब्दों के अर्थ का प्रतिपादन करना अभीष्ट है। अतः तद्दृष्ट्या आचार्य यास्क ने लक्षण बनाया कि ''**तीव्रार्थतरमुदात्तम्, अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम्** (निरु० ४.२५)।[४७] ये त्रिविध लक्षण लोक तथा सभी वेदों के लिए समानरूप से घटित होते हैं। अतः ये सर्ववेदपारिषद् के लक्षण हैं। चतुर्थ प्रकार के लक्षण की चर्चा से पूर्व मैं स्वकल्पित लक्षण को प्रस्तुत करना चाहता हूँ—''**भूसमानान्तराधस्तनरेखांकितोऽजनुदात्तः, वृक्षवदुपरितनरेखांकितोऽच् स्वरितः, निरंकितोऽजुदात्तः।**'' ये लक्षण सभी संहिता व ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रवृत्त नहीं हो सकते, क्योंकि सभी ग्रन्थों में स्वराङ्कन का प्रकार एक समान नहीं है। इतना ही नहीं ये लक्षण लोक व्यवहार के लिए सर्वथा अनुपयुक्त हैं, क्योंकि लोकव्यवहार में उदात्तादि उच्चारणविषयक हैं या श्रवणविषयक हैं। उसमें स्वराङ्कन का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। इसलिए ये लक्षण अमान्य हैं। अब चतुर्थ प्रकार के लक्षण को देखते हैं—

४७. इसके विशेष विवरण के लिए निरुक्त के उक्त पूरे सन्दर्भ को और उसकी व्याख्याओं को देखें। साथ में युधिष्ठिर मीमांसक विरचित 'वैदिक-स्वर-मीमांसा' के पंचम अध्याय को भी देखें।

४. **''हृद्देशेनोच्चार्यमाणोऽजनुदात्तः, कण्ठदेशेनोच्चार्यमाणोऽच् स्वरितः, शिरोदेशेन भ्रूप्रान्तेन वोच्चार्यमाणोऽजुदात्तः।''** हस्तसंचालन सम्बन्धी ये लक्षण भी सर्ववेद-पारिषद् न होने से और लोकव्यवहार के लिए अनुपयुक्त होने से अर्थात् अव्याप्तिदोषदूषित होने से पाणिनीय परम्परा में मान्य नहीं हो सकते।

उदात्तादि के उच्चैस्त्व, नीचैस्त्व एवं समाहार (समभाव) को लेकर जहाँ कहीं भी थोड़ा बहुत सादृश्य देखा गया है, वहाँ-वहाँ उदात्तादि के साथ उपमान-उपमेय-भावरूपी सम्बन्ध स्थापित किया गया है। तद्यथा—

शुक्लमुच्चं विजानीयात् नीचं लोहितमेव च।
श्यामं तु स्वरितं विद्यादग्निरुच्चस्य दैवतम्॥
नीचं सोमं विजानीयात् स्वरिते सविता भवेत्।
उदात्तं ब्राह्मणं विद्यान्नीचं क्षत्रियमेव च।
वैश्यं तु स्वरितं विद्याद् भारद्वाजमुदात्तकम्।
नीचं गौतममित्याहुर्गार्ग्यं तु स्वरितं विदुः॥
विद्यादुदात्तं गायत्रं नीचं त्रैष्टुभमेव च।
जागतं स्वरितं विद्यादेवमेव नियोगतः॥

(या०शिक्षा० २.५; शैशिरिशिक्षा पृ० ७.८)

इनके अतिरिक्त अन्यत्र अनुदात्त, स्वरित और उदात्तों को क्रमशः काल में प्रातः, मध्याह्न, सायं, यज्ञों में प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन, तृतीयसवन, प्राणों में अल्पप्राण, मध्यप्राण, महाप्राण आदि के रूप में वर्णन किया गया है। इन वचनों को देखकर कोई कहे कि ब्राह्मण उदात्त को, क्षत्रिय अनुदात्त को, वैश्य स्वरित को बोलता है। वैसे ही प्रातः या प्रातःसवन में अनुदात्त, मध्याह्न वा माध्यन्दिनसवन में स्वरित एवं सायम् अथवा तृतीयसवन में उदात्त बोला जाता है। इस कथन को सर्वथा अव्यावहारिक, अशास्त्रीय, अप्रामाणिक ही मानना चाहिए। उन उपमान उपमेयों में जिस रूप में, जितने परिमाण में सादृश्यता सम्भव है, उतना अंश ही ग्राह्य है। न कि सर्वांशतः, यतोहि सर्वांशता का ग्रहण करने में उपमानोपेयता नहीं रहती। अन्यथा शास्त्रों में अनेकत्र अनेकविधि अनिष्ट ही अनिष्ट दृग्गोचर होंगे।

प्रातः पठेन्नित्यमुरः स्थितेन स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन।
मध्यन्दिने कण्ठगतेन चैव चक्राह्वसंकूजितसन्निभेन॥

तारं तु विद्यात् सवनं तृतीयं शिरोगतं तच्च सदा प्रयोज्यम्।
मयूरहंसान्यभृतस्वराणां तुल्येन नादेन शिरः स्थितेन॥

(श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षा ३६, ३७)

क्या मन्द्र (अनुदात्त) स्वर केवल प्रातःकाल ही पढ़ा जाता है? मध्याह्न तथा सायं में नहीं पढ़ा जाता? वैसे ही क्या मध्य (स्वरित) एवं तार (उदात्त) स्वर क्रमशः मध्याह्न तथा सायं ही पढ़े जाते हैं? अन्य कालों में नहीं? वेद-पाठियों और संगीतज्ञों का अनुभव क्या इसी प्रकार का है? इस प्रकार के प्रश्नों का समाधान इन श्लोकों के रचयिता वा अध्येताओं से ही पूछना चाहिए।

डॉ० प्रचेता जी ने अपने लेख में दो स्थानों पर लेख का निष्कर्ष लिखा है—''इस पूर्वोक्त विवेचन से यह बात सुतराम् स्पष्ट हो गई है कि जोर लगाकर ऊँचे से बोलने पर उदात्त स्वर बनता है तथा बिना जोर लगाए शरीर को ढीला छोड़कर मन्दध्वनि वाला अनुदात्त स्वर बनता है'' (पृ० १५९.१)। ''जबकि सूत्रकार, वार्त्तिककार व भाष्यकार का आशय सर्वथा स्पष्ट है कि जोर से बोलना उदात्त व धीरे से बोलना अनुदात्त है, जिसे मन्द व्यक्ति भी समझ सकता है और यह लोक में आबालवृद्ध द्वारा प्रयुक्त है'' (पृ० १६२.२)। भाष्यकार ने जिस उच्च, नीच भाव (श्रुतिप्रकर्ष) को अनवस्थित-पदार्थक मानकर खण्डन किया था, उसे ही प्रचेता जी ने सिद्धान्तित किया है। यह आश्चर्यजनक है। प्रचेता जी का निष्कर्ष उपांशुकी स्थिति में घटित न होने से अव्याप्तदोषदूषित है।[४८] सबसे बड़ा असत्य यह है कि उदात्तादि को आबालवृद्ध जानते हैं। यथार्थ यह है कि परम्परागत गुरु के मुख से प्रशिक्षित हुए बिना कोई भी व्यक्ति उदात्तादि को बोल नहीं सकता।

आधारहीन ऊहापोह की कल्पनाओं में प्रवाहित होने में ही अपना पाण्डित्य समझने वालों में अग्रगण्य है पं० मधुसूदन ओझा जी। ऐसे विद्वान् के आलेखों को प्रामाणिक मानकर सर्वाङ्गीणतया विचार किये बिना ही डॉ० प्रचेता जी के द्वारा यह निर्णय निश्चित कर लेना कि **''तत्र यः समाने स्थाने ऊर्ध्वभागनिष्पन्नेऽच् स उदात्तः''** इत्यादि काशिकाकार के वचनों को हटाकर **''अल्पप्राणमहाप्राणयोः समाने प्रक्रमे उच्चैरुचार्यमाणोऽ-जुदात्तसंज्ञो भवति''** तथा इसी प्रकार **''अल्पप्राणमहाप्राणयोः समाने**

४८. नात्र श्रुतिकृतमुच्चैस्त्वम्, उपांशुप्रयोगेऽव्याप्तेः (शब्देन्दुशेखरद्वयम्-उच्चैरुदात्तः)। नादधर्मविशेष उच्चैस्त्वं नेह विवक्षितम्, उपांशूच्चार्यमाणे अव्याप्तेः (बालमनोरमा ५)।

प्रक्रमे नीचैरुच्चार्यमाणोऽजनुदात्तसंज्ञो भवति'' इस प्रकार का संशोधन कर लेना चाहिए। यह सर्वथा अनुचित ही नहीं, अपितु प्रातिशाख्य, शिक्षा, व्याकरण आदि की शास्त्रीय परम्परा का अवमूल्यन भी है। अत: डॉ० प्रचेता जी से मेरा नम्र निवेदन है कि इस विषय पर शास्त्रीय दृष्टिकोण से आप पुन: विचार करें।

निर्दुष्ट वाणी की प्रार्थना

यन्मे छिन्द्रं मनसो यच्च वाचः सरस्वती मन्युमन्तं जगाम।
विश्वैस्तद् देवैः सह संविदानः सं दधातु बृहस्पतिः॥
(अथर्व० १७.४०.१)

मेरे मन एवं वाणी का जो दोष है, यदि मेरी वाणी वा बुद्धि क्रोधदोषयुक्त हो, तो उस दोष को सभी विद्वानों के साथ विचार करके, वेदविद्विद्वान् दूर करें, ठीक करें।

परिशिष्ट –५

(म०म० पं० श्री युधिष्ठिर जी मीमांसक के लेख)

१. वेदाङ्ग परिचय*

वेद के छह अङ्ग माने जाते हैं। इन्हें षडङ्ग भी कहते हैं। इनके नाम हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दः और ज्योतिष[१]। ये नाम ६ विद्यास्थानों अर्थात् विद्या के क्षेत्रों के हैं, ग्रन्थविशेषों के नाम नहीं हैं। विभिन्न काल में इन विद्याओं के कौन–कौन से अथवा किन–किन आचार्य द्वारा प्रोक्त ग्रन्थ वेदाङ्ग नाम से विशेषित होते थे, यह सम्प्रति अज्ञात हैं।[२] यत: भारत–युद्ध से पूर्व का कोई ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। विक्रम से लगभग ३००० तीन सहस्र[३] वर्ष पूर्व से जो इन विषयों के ग्रन्थ शिष्टजनों द्वारा परिगृहीत हैं, उनके क्रमश: नाम हैं—पाणिनीय शिक्षा, कात्यायन आपस्तम्ब प्रभृति के कल्पसूत्र, पाणिनीय अष्टाध्यायी, यास्कीय निघण्टु–निरुक्त, पिङ्गल की छन्दोविचिति (छन्द:सूत्र) और लगध का ज्योतिष ग्रन्थ।

'वेदाङ्ग' शब्द में अङ्ग शब्द लक्षणा से **'अङ्गमिव अङ्गम्'** अर्थात् जो हस्त पाद आदि अङ्ग के समान वेद का उपकारक हो, वह अभिप्रेत है। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में चक्षु, नासिका, श्रोत्र, मुख, हाथ, पाँव आदि शरीर के साक्षात् अवयव हैं, और वे शरीरधारी के अपनी–अपनी क्रियाओं के द्वारा उपकारक होते हैं, इसी प्रकार शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त,

---

* इस परिशिष्ट में संगृहीत सभी लेख 'म०म०श्री पं०युधिष्ठिर जी मीमांसक' के हैं। जो कि 'वैदिक–सिद्धान्त–मीमांसा' के द्वितीय भाग से स्वीकृत हैं।

१. दुर्गाचार्य ने निरुक्तवृत्ति के आरम्भ में इन वेदाङ्गों का शिक्षा, छन्दः, कल्प, ज्योतिष, व्याकरण, निरुक्त के क्रम से संक्षिप्त परिचय वा प्रयोजन का उल्लेख किया है।

२. सम्प्रति उपलब्ध वेदाङ्गों तथा तद्विषयक अन्य ग्रन्थों में तत्तद्विषय के अनेक पूर्वाचार्यों के नाम निर्दिष्ट उपलब्ध होते हैं।

३. यह सामान्य निर्देश है। सौ दो सौ वर्ष न्यून भी हो सकते हैं। हमने पाणिनि का काल विक्रम से २९ सौ वर्ष पूर्व 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ में स्थापित किया है।

छन्द और ज्योतिष भी वेदरूपी शरीर के उपकारक होने से वेदाङ्ग कहे जाते हैं। कौन सा वेदाङ्ग शरीर के किस अङ्ग के समान वेद का उपकारक होता है, इसका निर्देश प्राचीन आचार्यों ने इस प्रकार किया है—

छन्दः पादौ तु वेदस्य, हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्, निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव, ब्रह्मलोके महीयते।

—पाणिनीयशिक्षा (श्लोकात्मिका)

अर्थात् **छन्दःशास्त्र** पैरों के समान उपकारक है। जिस प्रकार प्राणी का शरीर पैरों पर ही आधृत रहता है, उसी प्रकार वेद के पद्यात्मक और गद्यात्मक मन्त्रों का स्वरूप भी गायत्री आदि छन्दों पर ही आधृत है। इन छन्दों का स्वरूप और वेदार्थ में उनकी उपयोगिता[१] छन्द:शास्त्र में ही जानी जाती है। **कल्पशास्त्र** वेद का हस्तस्थानीय है। जैसे शरीरधारी हाथों से स्व अभिप्रेत विविध कार्य करता है, उसी प्रकार कल्पसूत्र भी वेद के याज्ञिक प्रयोग में 'किस मन्त्र से कौन सा कार्य किया जाये और किस प्रकार किया जाये, इसके व्यवस्थापक होते हैं। **ज्योतिषशास्त्र** वेद का चक्षुस्थानीय है। जैसे शरीरधारी के चक्षु मार्गदर्शक होते हैं उसी प्रकार ज्योतिष शास्त्र वेद की याज्ञिक प्रक्रिया में मास पक्ष तिथि नक्षत्र आदि के निर्देश द्वारा मार्ग-निदर्शक होता है और आधिदैविक प्रक्रिया में तत्तत् लोक-लोकान्तरों, तत्रस्थ ग्रहोपग्रहों के निर्देश के द्वारा वेदार्थ में सहायक होता है। **निरुक्तशास्त्र** वेद का श्रोत्रस्थानीय है। जैसे मनुष्य श्रोत्र द्वारा शब्द को ग्रहण करके उसके अर्थ को जानने में समर्थ होता है उसी प्रकार निरुक्तशास्त्र वेद के शब्दों के निर्वचन द्वारा उनके यथावत् अर्थों का बोधक होता है। जैसे शरीर में नासिका सुगन्ध और दुर्गन्ध को ग्रहण करके उनके ग्राह्य-अग्राह्य स्वरूप को प्रकट करती है, ऐसे ही **शिक्षाशास्त्र** वेद के शब्दों के यथार्थ उच्चारण का निर्देश करके शब्द के साधु वा असाधु स्वरूप को प्रकट करता है। जैसे मनुष्य मुख के द्वारा अपने हृदयगत भावों को अन्य मनुष्य तक पहुँचाता है, वैसे ही **व्याकरणशास्त्र** वैदिक शब्दों के प्रकृति-प्रत्ययादि विभाग का ज्ञान कराकर उनके गूढ़ अर्थों तक पहुँचने में सहायक होता है। इसलिये साङ्ग वेद का

१. वेदार्थ में छन्द:शास्त्र भी अन्य वेदाङ्गों के समान उपयोगी है। इसका प्रतिपादन हम छन्दः प्रकरण के लेख में दर्शायेंगे।

अध्ययन करके ही मनुष्य ब्रह्मलोक अर्थात् अमृतत्व को प्राप्त करने में समर्थ होता है। दूसरे शब्दों में वेदाङ्गों की सहायता से ही कोई मनुष्य ब्रह्म=वेद के यथावत् अर्थ के परिज्ञान में समर्थ होता है।

१.१ शिक्षा आदि अङ्गों की प्राचीनता

शिक्षा आदि छह वेदाङ्ग प्रायः षडङ्ग शब्द से भी व्यवहृत होते हैं। षडङ्ग शब्द का प्रयोग गोपथब्राह्मण[१], बौधायन आदि धर्मशास्त्र[२] और रामायण[३] आदि प्राचीन ग्रन्थों में प्रायः मिलता है। पतञ्जलि मुनि ने भी '**ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च**'[४] यह आगम[५] वचन उद्धृत किया है। इन प्रमाणों से शिक्षादि षडङ्गों की प्राचीनता स्वतः सिद्ध है।

१.२ शिक्षा आदि वेदाङ्गों का आदि प्रवक्ता

शिक्षा आदि वेदाङ्गों का आदि प्रवक्ता कौन था, इस विषय में निर्णीत रूप में कुछ कहना कठिन है। सामान्यरूप से इतना ही कहा जा सकता है कि शिक्षादि छहों वेदाङ्गों का आदि प्रवचन देवाधिदेव शिव ने सर्वप्रथम किया था। यह महाभारतस्थ शिवसहस्रनाम में पठित **वेदात् षडङ्गान्युद्धृत्य** (शान्तिपर्व २८४.१९३) वचन से जाना जाता है।

व्याकरणशास्त्र में जैसे ऐन्द्र (माहेन्द्र) और माहेश्वर (शैव) दो सम्प्रदाय हैं और इन सम्प्रदायों के आदि प्रवक्ता इन्द्र और महेश्वर (शिव) हैं। तद्वत् क्या शिक्षा वेदाङ्ग में भी सम्प्रदायभेद रहा है अथवा नहीं, यह हमें ज्ञात नहीं। हाँ, इतना कह सकते हैं कि वर्तमानकाल में शिक्षा के जिस पाणिनीय ग्रन्थ को वेदाङ्ग के रूप में स्वीकार किया जाता है, वह निश्चय ही माहेश्वर सम्प्रदाय का है, क्योंकि पाणिनीय व्याकरण का माहेश्वर सम्प्रदाय से सम्बन्ध

१. षडङ्गविदस्तत् तथाधीमहे। गो०ब्रा०पू० १.२७॥
२. बौधा०धर्म २.१४.२। गौतमधर्म० १५.१८॥
३. नाषडङ्गविदत्रासीन्नाव्रतो नाबहुश्रुतः। रामा० बाल० १४.२१॥
४. महाभाष्य अ० १, पा० १, आ० १॥
५. आगमो वेद इति वैयाकरणः द्र०—शिवरामेन्द्रकृत महाभाष्य की रत्नप्रकाश पत्रा ५, सरस्वतीभवन काशी का हस्तलेख, पाण्डिचेरी से मुद्रित भाग १, पृष्ठ ३५॥ स्मृतिरिति मीमांसकाः। तन्त्रवार्त्तिक पूनासंस्करण पृष्ठ २६५, प० १२। न्यायसुधा पृष्ठ २८४ प० ९॥

सर्वलोक विदित है।

२. शिक्षा-परिचय

शिक्षा शब्द '**शिक्ष विद्योपादाने**' धातु से भाव में '**गुरोश्च हलः**' (अष्टा० ३.३.१०३) सूत्र से '**अ**' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। यद्यपि इसका सामान्य अर्थ 'विद्याध्ययन' है किन्तु षडङ्गों में समाविष्ट 'शिक्षा' शब्द विशेष अर्थ में प्रयुक्त है। लोक में शिक्षा शब्द 'दण्ड' अर्थ में भी प्रयुक्त होता है।

शिक्षा शब्द के दो रूप—सामान्यतया शिक्षा शब्द में ह्रस्व इकार का ही प्रयोग होता है, परन्तु तैत्तिरीय उपनिषद् की 'शीक्षावली' में यह शब्द दीर्घ ईकारवान् '**शीक्षा**' के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में दीर्घ ईकारवान् 'शीक्ष' स्वतन्त्र धातु भी प्रयुक्त होती थी।

शिक्षा का लक्षण—सायणाचार्य ने ऋग्वेदभाष्य की उपक्रमणिका के वेदाङ्ग-प्रकरण में शिक्षा के विषय में लिखा है—**वर्णस्वराद्युच्चारण-प्रकारो यत्र उपदिश्यते सा शिक्षा।** अर्थात् वर्ण स्वरादि का उच्चारण प्रकार जिसमें उपदिष्ट है, वह शिक्षा कहाती है। शिक्षा का यही प्रयोजन तैत्तिरीय उपनिषद् में भी दर्शाया है—

शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः, स्वरः, मात्रा, बलम्, साम, सन्तान इत्युक्तः शीक्षाध्यायः। शीक्षावल्ली, अनुवादक २॥

अर्थात्—शीक्षा का व्याख्यान करेंगे। वर्ण=व्यञ्जन, स्वर=अकारादि स्वर, मात्रा=एकमात्रिक द्विमात्रिक ह्रस्व दीर्घ प्लुत, बल=प्रयत्न, साम=समवृत्ति से उच्चारण, सन्तान=संहिता (सन्धि)। इनका परिज्ञान शिक्षाशास्त्र का प्रयोजन है।

उपनिषद् के उक्त वचन को वर्णों के यथावत् उच्चारण में जो-जो स्थान प्रयत्न आदि ज्ञातव्य विषय है, उन सबका उपलक्षक जानना चाहिये।

शिक्षाशास्त्र का अन्य महत्त्वपूर्ण प्रयोजन—शिक्षाशास्त्र का प्रयोजन इतना ही नहीं है कि किस वर्ण का किस स्थान वा प्रयत्न (आभ्यन्तर-बाह्य) आदि से उच्चारण करना चाहिये। यद्यपि वर्णों के यथावत् उच्चारण-प्रकार का ज्ञान होने से असाधु उच्चारण की निवृत्ति संभव है, तथापि वर्णों का उच्चारण किन कारणों से होता है, इसका साक्षात् ज्ञान होने से मनुष्य उच्चारण में अधिक सावधान हो जाता है। अतः शिक्षाशास्त्रकारों ने कतिपय

उच्चारण-दोषों का भी वर्णन किया है। यहाँ महाभाष्यकार ने प्रथम पस्पशाह्निक के अन्त में **आकृत्युपदेशात् सिद्धमिति चेत् संवृतादीनां प्रतिषेधः** के व्याख्यान में लिखा है— **के पुनः संवृतादयः? संवृतः कलो ध्मात एणी-कृतोऽम्बूकृतोऽर्धको ग्रस्तो निरस्तः प्रगीत उपगीतः क्ष्विण्णो रोमश इति।**

इसके अनन्तर अपर आह लिखकर एक श्लोक उद्धृत किया है—

ग्रस्तं निरस्तमविलम्बितं निर्हतमम्बूकृतं ध्मातमथो विकम्पितम्।
सन्दष्टमेणीकृतमर्धकं द्रुतं विकीर्णमेताः स्वरदोषभावनाः॥

इस प्रकार महाभाष्य के दोनों पाठों में उच्चारण में होनेवाले निम्न दोषों का परिगणन किया गया है—

गद्यपाठ	**पद्यपाठ**
संवृत	ग्रस्त*
कल	निरस्त*
ध्मात*	अविलम्बित
एणीकृत*	निर्हत
अम्बूकृत*	अम्बूकृत*
अर्धक*	ध्मात*
ग्रस्त*	विकम्पित
निरस्त*	सन्दष्ट
प्रगीत	एणीकृत*
उपगीत	अर्धक*
क्ष्विण्ण	द्रुत
रोमश	विकीर्ण

यद्यपि प्रत्येक वर्ग में १२-१२ दोष गिनायें हैं, परन्तु इन दोनों में समानरूप से पठित दोषों (जिन पर * चिह्न लगा है) की एक बार ही गणना करें तो सब मिलकर इनकी १८ संख्या होती है।

इनके अतिरिक्त चरकसंहिता में स्वर अथवा उच्चारण के ९ दोष गिनाये हैं—

अतिमात्र	अनवस्थितपद	अति वलीब
तान्त	अतिद्रुत	अति उच्च

विस्वर विलम्बित अति नीच

ऋक्प्रातिशाख्य के १४ वें पटल में भी उच्चारण–दोष दर्शाये हैं।

इन दोषों के स्वरूप का ज्ञान तत्तद्ग्रन्थों की व्याख्याओं से जनाना चाहिये। यहाँ विस्तारभय से नहीं लिखते हैं।

इन दोषों के अतिरिक्त प्रमाद, अशक्ति, सरलीकरण आदि कुछ अन्य भी हैं, जिनका शब्दस्वरूप पर सीधा प्रभाव पड़ता है।

अपभ्रंशों में सहायक—उच्चारण में उक्त दोषों से विशेषरूप से बचने का उपदेश शास्त्रकारों ने इसलिए दिया है कि इन दोषों से शुद्ध वर्ण वर्णान्तर में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार के अपभ्रंशों से ही अपभ्रष्ट भाषाएं उत्पन्न होती हैं। हम यहाँ केवल दो उच्चारण–दोषों से ही कैसे वर्णान्तर उच्चरित होकर अपभ्रंश को जन्म देते हैं, का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

चवर्गीय जकार का स्थान तालु और प्रयत्न स्पृष्ट है। यकार का स्थान भी तालु है और प्रयत्न है ईषत्स्पृष्ट। **इचुयशास्तालव्याः। स्पृष्टप्रयत्नाः स्पर्शाः, ईषत्स्पृष्टप्रयत्ना अन्तःस्थाः।** इस प्रकार जकार और यकार का समान स्थान होते हुए प्रयत्न में किञ्चित् भेद है। इसलिए कोई वक्ता यकार के उच्चारण में 'ईषत्' प्रयत्न के स्थान में 'अधिक' प्रयत्न से उच्चारण करे तो ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न स्पृष्ट प्रयत्न में परिणत होकर यकार को जकाररूप में परिणत कर देता है। इसी दोष से यमुना शब्द जमुनाशब्द में परिवर्तित हुआ है। यजमान जजमान, यज्ञ जग्य आदि भी इसी प्रकार जानने चाहियें। अब यदि राजा के जकार के स्पृष्ट प्रयत्न में अर्धक दोष का योग हो जाये तो 'ज' 'य' में परिणत हो जायेगा। यथा राजा—राया, राजा साहब—रायसाहब, राजबहादुर—रायबहादुर।

अर्थ–दोष—श ष स के उच्चारण में प्रमाद से वर्णान्तर का प्रयोग कोई करेगा तो अर्थ का अनर्थ हो जायेगा। सम्पूर्णवाचक 'सकल' का 'शकल' उच्चारण करने पर अर्थ होगा—टुकड़ा। 'स्वजन' का 'श्वजन' उच्चारण करने पर अर्थ होगा—कुत्ते का सम्बन्धी।'शास्त्री' का उच्चारण यदि 'सास्त्री' कर दिया जाये तो अर्थ होगा वह स्त्री। 'अश्वमानय' (घोड़े को लाओ) के स्थान में कोई यात्रा पर जानेवाला व्यक्ति 'अस्वमानय' बोले और सुननेवाला तदनुसार उस समय धनरहित व्यक्ति को लाकर उपस्थित कर दे तो क्या उच्चारयिता परिहास का पात्र न बनेगा?

शिक्षाशास्त्र के तीन भेद—शिक्षाविषयक जितने भी ग्रन्थ सम्प्रति

उपलब्ध होते हैं, वे तीन भागों में विभक्त हैं। प्रथम वे शिक्षाग्रन्थ हैं जिनका सम्बन्ध वेद के किसी शाखा के साथ प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से है। यथा—याज्ञवल्क्यशिक्षा, भारद्वाजी शिक्षा आदि। दूसरे शिक्षाग्रन्थ वे हैं जो लोकमात्र से सम्बन्ध रखते हैं। यथा—कातन्त्रशिक्षासूत्र[1], जैनेन्द्रशिक्षासूत्र[2] आदि। इनका सम्बन्ध लोकभाषामात्र के कातन्त्र और जैनेन्द्र व्याकरण के साथ है। तीसरे ग्रंथ वे हैं जो लोक–वेद दोनों के साथ सामान्यरूप से सम्बन्ध रखते हैं। यथा—आपिशलशिक्षा, पाणिनीयशिक्षा (सूत्रात्मक और श्लोकात्मक दोनों)। इन तीन प्रकार के शिक्षाग्रन्थों में वैदिक शाखाविशेष के साथ सम्बन्ध रखनेवाले शिक्षाग्रन्थों का ही बाहुल्य है। इसका कारण वेदों की विभिन्न शाखाओं में कुछ–कुछ उच्चारणगत भिन्नता है।

वेदाङ्गरूप से परिगृहीत शिक्षाग्रन्थ—जिन शिक्षाग्रन्थों का सम्बन्ध केवल लोक भाषा के साथ है, उनके वेदाङ्गत्व का अभाव तो वेद के साथ सम्बन्ध न होने से स्वतः सिद्ध है। जिन शिक्षाग्रन्थों का सम्बन्ध वेद की विभिन्न शाखाओं वा चरणों के साथ ही है, उनको भी मुख्यरूप से वेदाङ्ग नहीं माना जा सकता, क्योंकि तत्तत् शाखा वा चरण से सम्बद्ध शिक्षाग्रन्थ अन्य शाखाओं वा चरणों के अध्येताओं के उपकारक नहीं होते। शौनकप्रोक्त ऋक्प्रातिशाख्य के १३, १४ वें पटल 'शिक्षापटल' कहाते हैं। इनमें वर्णोच्चारण विषयक सभी विषयों का विस्तार से वर्णन मिलता है। इस शिक्षाप्रकरण, जिसे 'शौनकीयशिक्षा'[3] कहा जा सकता है, का सम्बन्ध ऋग्वेद के शाकल चरण के साथ होने पर भी प्रातिशाख्यकार ने इसे वेदाङ्ग कहा है—**कृत्स्नं च वेदाङ्गमनिन्द्यमार्षम्** (१४ वें पटल के अन्त में)। यहाँ गौणरूप से वेदाङ्गत्व जानना चाहिए। जिन शिक्षाग्रन्थों का सम्बन्ध लोक और वेद दोनों के साथ है वे ही वेदाङ्गरूप से स्वीकृत किये जाते हैं, ऐसी शिष्ट परम्परा ही प्रायः देखी जाती है। तदनुसार वेदाङ्ग शिक्षा के रूप में पाणिनीय शिक्षा ही शिष्ट जनों द्वारा परिगृहीत है, चाहे वह सूत्रात्मक हो, चाहे श्लोकात्मक। सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा के चिरकाल से दुष्प्राप्य होने से सम्प्रति श्लोकात्मक शिक्षा को ही षडङ्ग अध्येता वेदाङ्ग रूप में पढ़ते हैं।

---

१. कातन्त्रशिक्षासूत्र 'कातन्त्रव्याकरणविमर्श' ग्रन्थ के पृष्ठ ५४–५५ पर उद्धृत हैं।

२. जैनेन्द्रशिक्षासूत्र जैनेन्द्रव्याकरण की 'महावृत्ति' १.१.२ में उद्धृत हैं। वहाँ ४० सूत्र पठित हैं। जैनेन्द्रशिक्षा में इतने ही सूत्र थे वा इनसे अधिक, यह हमें ज्ञात नहीं।

३. क्या काशिका ४.३.१०६ में इसे ही 'शौनकीय शिक्षा' कहा है।

यह स्थिति व्याकरण और छन्दःशास्त्र की भी है। व्याकरण में वैदिक शाखा वा चरणों से सम्बद्ध प्रातिशाख्य ग्रन्थ वेदाङ्ग शब्द से परिगृहीत नहीं होते। लौकिक शब्दव्युत्पादक कातन्त्र, जैनेन्द्र आदि के ग्रन्थ भी वेदाङ्गरूप से परिगृहीत नहीं होते। व्याकरणशास्त्र में लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों का साधुत्व प्रतिपादक पाणिनीय व्याकरण ही वेदाङ्गरूप से वैदिकों द्वारा परिगृहीत है। छन्दःशास्त्रों में भी इसी प्रकार शाखाविशेषों से सम्बद्ध छन्दोग्रन्थ वेदाङ्ग की परिधि में नहीं आते। लौकिक छन्दःशास्त्रों का तो वेदाङ्गत्व स्वीकार करना दूर की बात है। यहाँ भी लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के छन्दों का प्रतिपादक पिङ्गलछन्दःसूत्र अथवा पिङ्गलछन्दोविचिति ही वेदाङ्गरूप से परिगृहीत है। तात्पर्य यह है कि जिन शिक्षा, व्याकरण, छन्द आदि विषय के ग्रन्थों का लोक–वेद दोनों के साथ सम्बन्ध है, वे ही वेदाङ्गरूप से परिगृहीत होते हैं।[1]

शिक्षाग्रन्थों का बाहुल्य—सम्प्रति लगभग सौ–सवा–सौ शिक्षाग्रन्थ विभिन्न पुस्तकालयों में हस्तलिखित रूप में उपलब्ध होते हैं। सम्भव है इनकी संख्या इससे अधिक हो। उनमें से निम्न शिक्षाग्रन्थ छप चुके हैं।

१. यतः शाखाविशेषों से सम्बद्ध छन्दोग्रन्थ प्रायः यज्ञप्रक्रिया को लक्ष्य में रखकर लिखे गए हैं, अतः उनका सामान्यरूप से वेदार्थ में कोई उपयोग नहीं होता। इसीलिए स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेदभाष्य में दो–तीन स्थानों पर कात्यायनकृत सर्वानुक्रमणी के आधार पर सायण, मैक्समूलर, विल्सन प्रभृति द्वारा निर्दिष्ट छन्दों के प्रत्याख्यान में लिखा है—

छन्दःशास्त्रस्याभिप्रायमविदित्वा अन्यथा व्याख्याता इति।

अर्थात् इन लोगों ने छन्दःशास्त्र का अभिप्राय न जानकर अन्यथा व्याख्यान किया है।

कात्यायनसर्वानुक्रमणीनिर्दिष्ट छन्द, जो कि केवल यज्ञप्रक्रिया में उपयोगी थे, स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अर्थनिर्देशकाल में, उनके निर्देश करने वाले व्याख्याकारों की आलोचना की है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदभाष्य में वेदाङ्गरूप में परिगृहीत पिङ्गलछन्दःशास्त्र से प्रतिपादित छन्दों का ही सर्वत्र उल्लेख किया है। तात्पर्य यह है कि यज्ञप्रक्रिया मात्र में उपयोगी छन्दों का, जो मन्त्रार्थ में उपयोगी नहीं हैं, का निर्देश करनेवाले सायण आदि की स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आलोचना की है, कात्यायन की आलोचना नहीं, क्योंकि उसके द्वारा निर्दिष्ट छन्दों का तो क्षेत्र यज्ञप्रक्रिया तक सीमित है। इस विषय में हमने 'वैदिकछन्दोमीमांसा' ग्रन्थ के अठारहवें अध्याय में विस्तार से लिखा है।

(१) आपिशलशिक्षा।

(२) पाणिनीयशिक्षा (सूत्रात्मक) के वृद्ध और लघु पाठ।

(३) चान्द्रशिक्षासूत्र।

इन तीनों को हमने 'शिक्षासूत्राणि' नाम से मुद्रित किया है।

निम्न शिक्षाग्रन्थ काशी से प्रकाशित 'शिक्षा–संग्रह' में ५०–६० वर्ष पूर्व प्रकाशित हुए थे। इसी संग्रह का नया संस्करण 'सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय' से सं० २०४६ में प्रकाशित हुआ है।[1] इस संग्रह में निम्न शिक्षाएँ प्रकाशित हुई हैं—

(४) याज्ञवल्क्य शिक्षा,
(५) वाशिष्ठी शिक्षा
(६) कात्यायनी शिक्षा,
(७) पाराशरी शिक्षा
(८) माण्डव्यमहर्षिप्रणीता शिक्षा
(९) अमोघानन्दिनी शिक्षा
(१०) लघ्वमोघानन्दिनी शिक्षा,
(११) माध्यन्दिनीय शिक्षा
(१२) लघुमाध्यन्दिनीय शिक्षा
(१३) वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा
(१४) केशवी शिक्षा
(१५) पद्यात्मिका केशवी शिक्षा
(१६) मल्लशर्मकृता शिक्षा
(१७) स्वराङ्कुश शिक्षा
(१८) षोडशश्लोकी शिक्षा
(१९) अवसाननिर्णय शिक्षा
(२०) स्वरभक्तिलक्षणपरिशिष्ट शिक्षा
(२१) क्रमसन्धान शिक्षा
(२२) गलदृक् शिक्षा
(२३) मनःस्वार शिक्षा
(२४) प्रातिशाख्यप्रदीप शिक्षा
(२५) विसर्गाङ्गुलिप्रदर्शनप्रकारः
(२६) यजुर्विधान शिक्षा
(२७) स्वराष्टक शिक्षा
(२८) क्रमकारिका शिक्षा
(२९) पाणिनीय शिक्षा (श्लोकात्मिका)
(३०) शिक्षाप्रकाशः
(३१) नारदी शिक्षा
(३२) सामवेदीया गौतमी शिक्षा
(३३) सामवेदीया लोमशी शिक्षा
(३४) अथर्ववेदीया माण्डूकी शिक्षा
अन्त में—**अथर्वपरिशिष्ट**

शिक्षा–संग्रह में मुद्रित ३१ शिक्षाओं में से २९ संख्या पर पाणिनीय शिक्षा छपी है। इस श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षा के दो पाठ हैं—आर्च

१. इसके सम्पादक हैं—रामप्रसाद जी त्रिपाठी। यद्यपि मुद्रणादि श्रेष्ठ है, परन्तु सम्पादन में कुछ परिश्रम नहीं किया गया है। इतना ही नहीं, काशी से पूर्व प्रकाशित शिक्षा–संग्रहस्थ शिक्षाओं को यथावत् प्रकाशित कर दिया गया है। परन्तु अपने नाम से पूर्व 'संकलयिता' विशेषण (जो धोखा देनेवाला है) जोड़ने के लोभ से प्राचीन मुद्रित शिक्षा–संग्रह का उल्लेख भी नहीं किया।

(ऋग्वेदीय) और याजुष (यजुर्वेदीय)। आर्च पाठ में न्यूनाधिक रूप से पचास से साठ तक श्लोक हैं। याजुष पाठ में लगभग ३०–३५ तक श्लोक हैं। २९ संख्या पर पाणिनीयशिक्षा का जो पाठ छापा गया है वह आर्च पाठ है। याजुष पाठ के मुद्रण की उपेक्षा क्यों की गई है, यह समझ में नहीं आया। आर्च पाठ भी यथावत् प्राचीन परम्परा के अनुसार नहीं है। प्राचीन परम्परा में आर्च पाठ ११ वर्गों वा खण्डों में विभक्त है।

पाणिनीय शिक्षा को श्लोकात्मक रूप पाणिनि के अनुज पिङ्गलाचार्य ने दिया था, यह प्रकृत पाणिनीय शिक्षा की 'शिक्षाप्रकाश' नामक टीका के रचयिता का मत है। परन्तु शिक्षाप्रकाश टीका में और दूसरी '**शिक्षा–पञ्जिका**'..... टीका में लगभग २५ श्लोक ही व्याख्यात मिलते हैं। इसलिए यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता कि पिङ्गलाचार्य द्वारा श्लोकरूप में परिणमित पाणिनीय शिक्षा का आर्च पाठ था, अथवा याजुष। श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा में कुछ ऐसे अंश भी हैं जो अष्टाध्यायी से विपरीत हैं। इनके निर्देश आगे मुद्रित किये जा रहे '**मूलपाणिनीयशिक्षा**' शीर्षक लेख में देखें। संख्या ३० पर मुद्रित 'शिक्षा–प्रकाश' उक्त पाणिनीय शिक्षा की टीका है। उस पर पृथक् संख्या देने से आपाततः भ्रम होता है कि यह भी कोई शिक्षाग्रन्थ है।

शिक्षासंग्रह में शिक्षा नाम से मुद्रित कई शिक्षाएँ वस्तुतः शिक्षाएँ नहीं हैं। जैसे संख्या ५ पर मुद्रित वाशिष्ठी शिक्षा। इसमें माध्यन्दिनसंहिता में कौन–कौन से मन्त्र ऋक्संज्ञक हैं और कौन–कौन से यजुःसंज्ञक, इसी की विवेचना की है। यह शिक्षा वेदाङ्ग के प्रयोजन से बहिर्भूत है। इसी प्रकार १९ संख्या पर **अवसाननिर्णय शिक्षा** में माध्यन्दिनसंहिता के याजुष मन्त्रों में कहां पर अवसान करना चाहिए, इसका ही निर्देश है। २२ संख्या पर मुद्रित **गलदृक् शिक्षा** में माध्यन्दिनसंहिता में पुनः पठित कौन–कौन सी ऋचा पुनः नहीं पढ़ी जाती, इसका निर्देश है। इसी प्रकार संख्या २४ पर निर्दिष्ट **प्रातिशाख्यप्रदीप शिक्षा** में कात्यायनप्रातिशाख्य के कतिपय सूत्रों को प्रक्रियानुसार रखकर उनकी व्याख्या मात्र की गयी है।

इस प्रकार यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाए तो शिक्षाशास्त्र के प्रयोजन का व्याख्यान करनेवाली बहुत ही प्राचीन या अर्वाचीन शिक्षाएँ इस संग्रह में उपलब्ध होती हैं। याज्ञवल्क्यशिक्षा जैसी महत्त्वपूर्ण शिक्षा का भी प्राचीन परम्परानुसार जैसा पाठ है उसके अनुसार नहीं छापा गया। वस्तुतः श्री पं० रामप्रसाद त्रिपाठी जी ने पूर्वमुद्रित शिक्षासंग्रह को ही यथावत् छाप दिया है। केवल मुद्रण में श्लोकों अथवा सन्दर्भों को पृथक्–पृथक् सुन्दर रूप में छापने के अतिरिक्त कुछ कार्य नहीं किया।

(३५) शैशिरीय शिक्षा, (३६) कोहली शिक्षा

इन दो प्राचीन शिक्षाओं का मुद्रण डा० रघुवीर जी ने लाहौर से प्रकाशित होनेवाले 'वैदिक स्टडीज' नामक पत्र में किया था, ऐसा मुझे स्मरण पड़ता है। निश्चय रूप से कहां छपी, यह मैं नहीं कह सकता।

(३७) शौनकीया शिक्षा—इसका उल्लेख काशिकाकार ने **शौनका–दिभ्यश्छन्दसि** (४.३.१०६) की व्याख्या में 'छन्दसि' पद के प्रत्युदाहरण रूप में किया है—**शौनकीया शिक्षा।** ऋक्प्रातिशाख्य के १३–१४ वें पटल को 'शिक्षा–पटल' कहते हैं। यदि काशिकाकार का इस शिक्षा की ओर संकेत हो, तो मानना होगा कि शौनकीया शिक्षा भी उवट के भाष्यसहित मुद्रित उपलब्ध होती है। अडियार (मद्रास) के पुस्तकालय में 'शौनकीया शिक्षा' का एक हस्तलेख भी है। द्र०–सूचीपत्र, भाग २, सन् १९२८, परिशिष्ट, पृष्ठ २१। उसका अवलोकन करना चाहिये। क्या वह ऋक्प्रातिशाख्य के १३–१४ पटल का ही हस्तलेख है वा उससे भिन्न किसी शौनकीया शिक्षा का।

(३८) भारद्वाजी शिक्षा (व्याख्यासहित)—यह शिक्षा नागेश्वरकृत व्याख्या सहित पुणे नगर स्थित भण्डारकर प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित हुई है।

(३९) व्यासशिक्षा (व्याख्यासहित)—इसका सम्पादन श्री पण्डित पट्टाभिराम जी शास्त्री मीमांसकाचार्य (वाराणसी) ने किया है। वेदवेदाङ्गानु–संधान केन्द्र ४.७ हनुमान् घाट वाराणसी से प्रकाशित हुई है।

(४०) कातन्त्रशिक्षासूत्र—ये शिक्षासूत्र 'कातन्त्रव्याकरणविमर्श' नामक शोधग्रन्थ के पृष्ठ ५४–५५ पर मुद्रित हैं।

(४१) जैनेन्द्रशिक्षासूत्र—ये शिक्षासूत्र जैनेन्द्रव्याकरण की महावृत्ति में १.१.२ पर उद्धृत हैं।[१]

हमारी दृष्टि में अभी तक इतनी ही शिक्षाएँ मुद्रितरूप में आई हैं। शेष शताधिक शिक्षाएँ अभी तक अमुद्रित अवस्था में हस्तलेखों के रूप में विभिन्न पुस्तकालयों में संगृहीत हैं। जब तक उनका प्रकाशन न हो जाये तब तक

१. कौण्डिन्यशिक्षा (४२)—यह शिक्षा सन् १९८० ई० में उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद (तेलंगाणा) से प्रकाशित है। —उदयनाचार्य

शिक्षाशास्त्र का क्रमिक ऐतिहासिक अध्ययन कठिन है।

बहुत वर्ष पूर्व हमने शिक्षा-शास्त्र का इतिहास लिखने का प्रयास किया था। मुद्रित शिक्षाओं के सम्बन्ध में कुछ अंश पाण्डुलिपि के रूप में लिखा भी था, परन्तु कार्याधिक्य से विभिन्न पुस्तकालयों में हस्तलिखित रूप में विद्यमान शिक्षाओं से सम्बद्ध ऐतिहासिक सामग्री का संकलन नहीं कर सके। अत: 'शिक्षाशास्त्र का इतिहास' का लेखन हम नहीं कर सके। मुद्रित शिक्षाओं के सम्बन्ध में लिखी गई सामग्री भी यत: पाण्डुलिपि के रूप में है, अत: उसका संशोधन भी शारीरिक स्वास्थ्य की वर्तमान शोचनीय स्थिति में करना असम्भव है। अत: हम उसे भी उपस्थित नहीं कर रहे हैं।

सूत्रात्मक पाणिनीयशिक्षा के सम्बन्ध में हमारे दो लेख पूर्व छपे थे, उन्हें हम आगे छाप रहे है।

३. मूल पाणिनीय शिक्षा

सूत्रात्मक अथवा श्लोकात्मक ?

[यह लेख 'पटना' से प्रकाशित होनेवाली 'साहित्य' पत्रिका के वर्ष ७, अंक ४ (सन् १९५७) में प्रकाशित हुआ था। इस समय तक स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा हिन्दी व्याख्या सहित 'वर्णोच्चारण शिक्षा' के नाम से प्रकाशित पाणिनीय शिक्षा के आधार पर लिखा था। स्वामी दयानन्द सरस्वती को पाणिनीय शिक्षा का जो हस्तलेख मिला था वह स्थान-स्थान पर खण्डित था। अष्टम प्रकरण तो सारा ही त्रुटित था। लेख उसी रूप में छापा है जैसा साहित्य पत्रिका में छपा था। टिप्पणियों में कुछ अंश [ ] कोष्ठक में बढ़ाया है। युधिष्ठिर मीमांसक]

दो प्रकार की पाणिनीय शिक्षा—पाणिनीय शिक्षा के दो प्रकार के ग्रन्थ इस समय उपलब्ध हैं। एक है श्लोकात्मक और दूसरा सूत्रात्मक। श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा ही चिरकाल से पठन-पाठन में व्यवहृत हो रही है। सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा का पठन-पाठन न होने से यह प्राय: उत्सन्न हो चुकी है। इस सूत्रात्मक शिक्षा का एकमात्र खण्डित हस्तलेख स्वामी दयानन्द को प्राप्त हुआ था, जिसे उन्होंने हिन्दी व्याख्यासहित वर्णोच्चारण-शिक्षा के नाम से सं० १९३९ में प्रकाशित किया था।[१]

१. इस सूत्रात्मक पाणिनीय वर्णोच्चारण-शिक्षा और इसकी व्याख्या के विशेष परिचय के लिए देखिए मेरा 'स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास'।

प्रो० मनोमोहन घोष ने श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा को उसके विभिन्न पाठों और उसकी दो टीकाओं के साथ सम्पादित किया है और कलकत्ता-विश्वविद्यालय से सन् १९३९ ई० में प्रकाशित कराया है[१]। ग्रन्थ के आरम्भ में घोष जी ने पाणिनीय शिक्षा शीर्षक एक अंग्रेजी-भाषा-निबद्ध लेख लिखा है।

घोष जी की दो स्थापनाएँ—घोष जी के उपर्युक्त विवेचन में दो भाग हैं। पूर्व भाग में घोष जी ने श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा को पाणिनि-विरचित सिद्ध करने का यत्न किया है और उत्तर भाग में स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा को स्वामी दयानन्द द्वारा कल्पित सिद्ध करने की चेष्टा की है।

हम इस लेख में घोष जी की उक्त दोनों स्थापनाओं की सप्रमाण समालोचना करेंगे, जिससे पाठकों को वस्तुस्थिति का ज्ञान हो जाये।

श्लोकात्मक शिक्षा का प्रथम श्लोक—घोष जी के लेख की समालोचना करने के पूर्व हम श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा के प्रथम श्लोक के पूर्वार्द्ध की ओर विचारशील पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक समझते हैं। वह पूर्वार्द्ध इस प्रकार है—

'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा।'

अर्थात्—अब मैं शिक्षा को कहूँगा, पाणिनीय मत के अनुसार।

इस वचन से स्पष्ट है कि जिस श्लोकात्मक शिक्षा का यह प्रथम वचन है, वह शिक्षा पाणिनि द्वारा साक्षात् कही हुई नहीं है। पाणिनि से भिन्न किसी अन्य व्यक्ति ने पाणिनीय मतानुसार इस शिक्षा की रचना की है।

प्रकाश-टीकाकार का मत—इस श्लोकात्मक शिक्षा पर एक 'शिक्षा-प्रकाश' नाम की टीका (जिसका प्रकाशन घोष जी ने इसी ग्रन्थ में किया है) के रचयिता का नाम अज्ञात है, परन्तु घोष जी के मतानुसार यह 'प्रकाश'

१. इस ग्रन्थ में घोष जी ने प्रथम पाणिनीय शिक्षा का स्वयं-ऊहित मूल पाठ छापा है। उसमें केवल १८ श्लोक हैं। तदनन्तर अग्निपुराणान्तर्गत शिक्षा-श्लोक मुद्रित हैं। ये संख्या में २१ हैं। इसके पीछे पञ्जिका-व्याख्या और उसके आधार पर ऊहित मूल पाठ दिया है। इसमें २३ श्लोक हैं। तत्पश्चात् शिक्षा-प्रकाश टीका और उसके आधार पर ऊहित मूल पाठ प्रकाशित किया है। तदनन्तर पाणिनीय शिक्षा का ३५ श्लोकात्मक यजु:शाखीय और ६० श्लोकात्मक ऋक्शाखीय पाठ दिया है। सबसे अन्त में चान्द्रवर्णसूत्र छापे हैं।

टीका सन् १३०० ई० से अर्वाचीन नहीं है।[1] इस टीका में उक्त श्लोक की व्याख्या में लिखा है—

ज्येष्ठभ्रातृभिर्विहितो व्याकरणे अनुजस्तत्र भवान् पिङ्गलाचार्यः तन्मतमनुभाव्य शिक्षां वक्तुं प्रतिजानीते—अथ शिक्षामिति।

अर्थात् ज्येष्ठ भाई पाणिनि द्वारा व्याकरण में कथित मत को जानकर उसका अनुज पिङ्गलाचार्य शिक्षा कहने की प्रतिज्ञा करता है—**अथ शिक्षामिति।**

इस वचन से स्पष्ट है कि शिक्षा–प्रकाश के टीकाकार के मत में इस पाणिनीय शिक्षा का रचयिता आचार्य पिङ्गल है, पाणिनि नहीं।

अब पाठक स्वयं इस बात का निर्णय करें कि जब उक्त श्लोकात्मक शिक्षा का लेखक और उसका प्राचीन टीकाकार ही इसे पाणिनि–विरचित नहीं कहते हैं, तब घोष जी का इसको पाणिनि–विरचित सिद्ध करने के लिए हाथ–पैर मारना 'मुद्दई सुस्त और गवाह चुस्त' आभाणक को स्मरण कराता है।

घोष जी का दुस्साहस—इस श्लोकात्मक शिक्षा के यजुःशाखीय और ऋक्शाखीय लघु तथा बृहत् पाठ और इसकी जो दो टीकाएँ उपलब्ध होती हैं, उनके सभी लेखों में उक्त प्रथम श्लोक असन्दिग्ध रूप से पठित है। इतना होने पर भी घोष जी ने इस शिक्षा का जो **स्वकल्पित मूलपाठ** सर्वप्रथम छापा है, उसमें इस श्लोक को स्थान नहीं दिया। वे जानते थे कि इस श्लोक के रहते हुए इस शिक्षा को किसी भी प्रकार पाणिनीय सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः उन्होंने इस श्लोक का बहिष्कार करना ही श्रेयस्कर समझा। घोष जी की इस अनधिकार चेष्टा को दुःसाहस अथवा दुराग्रह के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है?

घोष जी के पाणिनीय साधक हेतुओं की समीक्षा

अब हम घोष जी के उन हेतुओं को उपस्थित करते हैं, जिनके बल

१. हमारे विचार में इस टीका के रचयिता का नाम यादवप्रकाश है। उसने छन्दःसूत्र की भी व्याख्या रची है (इसके हस्तलेख उपलब्ध हैं)। इस टीका के प्रारम्भिक श्लोक में भी इस बात का संकेत है। अतः इसका काल सन् ११००–११५० ई० के मध्य में है। [अब यह पिङ्गलछन्दःसूत्र की व्याख्या 'पिङ्गलछन्दोविचिति' के नाम से छप चुकी है और 'रामलाल कपूर ट्रस्ट, रेवली, डाक० ई०सी० मुरथल (पिन–१३१ ०३९)' सोनीपत–हरयाणा से उपलब्ध है।]

पर घोष जी ने इस कल्पित ग्रन्थ को पाणिनि–रचित सिद्ध करने की चेष्टा की है।

प्रथम हेतु—'यह निश्चय है कि शिक्षा के छन्द बृहद्देवता के छन्द (४०० ईसापूर्व) से कम पुराने नहीं है।'

समीक्षा—यह केवल प्रतिज्ञा है, हेतु नहीं। हेतु वह होता है जो वक्ता के पक्ष का पोषक हो। विना हेतु और उदाहरण के प्रतिज्ञामात्र से किसी पक्ष की सिद्धि नहीं होती। इतना ही नहीं, केवल छन्दोरचना के आधार पर किसी ग्रन्थ के काल के निर्णय का प्रयत्न करना अवैज्ञानिक मार्ग है। इस प्रकार अवैज्ञानिक मार्ग का अनुसरण वे ही किया करते हैं, जिन्हें अपनी कल्पनाओं की सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं मिलता और जो अपनी असत्य कल्पनाओं को संसार के मत्थे मढ़ना चाहते हैं। इसी अवैज्ञानिक मार्ग पर चलकर योरोपी विद्वानों ने पाणिनि–विरचित '**पातालविजय**' अपर नाम '**जाम्बवती–विजय**' को अपाणिनीय सिद्ध करने का दुःसाहस किया है।[1]

इतना ही नहीं, घोष जी ने उक्त लेख में तीन भयंकर भूलें की हैं। उनसे विदित होता है कि घोष जी को भारतीय प्राचीन इतिहास का कुछ भी ज्ञान नहीं है। यथा—

पहली भूल—बृहद्देवता का रचियता वही बह्वृचसिंह कुलपति शौनक हैं, जो अथर्व शौनकसंहिता, ऐतरेयारण्यक के पञ्चम आरण्यक और ऋक्प्रातिशाख्य के प्रवक्ता तथा ऐतरेयब्राह्मण का प्रतिसंस्कर्त्ता हैं। यह कुलपति शौनक भारत–युद्ध का समकालिक है। उसका काल किसी भी अवस्था में २९०० विक्रम पूर्व से अर्वाचीन नहीं है।[2] उस शौनक के बृहद्देवता को केवल मैक्डॉनेल के प्रमाण से ४०० ईसापूर्व मान लेना[3] सर्वथा चिन्त्य है।

पाश्चात्त्य विद्वानों द्वारा भारतीय प्राचीन इतिहास का नाश—मैक्समूलर तथा मैकडॉनेल प्रभृति योरोपियन विद्वानों ने सहस्रों वर्ष पूर्व प्राचीन अनवच्छिन्न भारतीय इतिहास को ईसाइयत के पक्षपात तथा राजनैतिक

१. देखें मेरा 'संस्कृत–व्याकरण–शास्त्र का इतिहास', प्रथम भाग। ['जाम्बवती विजय' के उपलब्ध सभी श्लोक हमने उक्त इतिहास के तृतीय भाग में प्रकाशित कर दिये हैं।]

२. देखें 'संस्कृत–व्याकरण–शास्त्र का इतिहास', प्रथम भाग।

३. बृहद्देवता, मैक्डॉनेल–संस्करण की भूमिका, पृष्ठ २२–२३।

कारणों से जान-बूझ कर तोड़-मरोड़ कर अधिक से अधिक २००० ईसा-पूर्व के अन्तर्गत लाने की दुश्चेष्टा की है।[१] घोष जी भारतीय हैं। वे यत्न करने पर भारतीय परम्परा को भले प्रकार समझ सकते थे, परन्तु उन्होंने उसे समझने की चेष्टा न कर बलात् प्रवर्त्तित योरोपियन मिथ्या विचारों का अनुकरण ही श्रेयस्कर समझा।

दूसरी भूल—घोष जी ने जोश में आकर जिस कारण इस कल्पित पाणिनीय शिक्षा को शौनक-विरचित बृहद्देवता से प्राचीन सिद्ध करने की चेष्टा की, उसे लिखते समय वे भूल गये कि स्वयं पाणिनि अपनी अष्टाध्यायी ४.३.१०६ में उस कुलपति शौनक को स्मरण करता है, जिसने बृहद्देवता का प्रवचन किया है। जब बृहद्देवता का रचयिता पाणिनि से पूर्वभावी है, तब भला पाणिनीय शिक्षा शौनक-विरचित बृहद्देवता से प्राचीन कैसे हो सकती है?

तीसरी भूल—यदि यह भी मान लिया जाय कि 'इस शिक्षा के छन्द बृहद् देवता के छन्द से कम पुराने नहीं हैं, तो इससे यह कैसे सिद्ध होगा कि यह श्लोकात्मक शिक्षा पाणिनि-रचित है। यदि यह व्याप्ति होती है कि 'जो-जो ग्रन्थ बृहद्देवता से प्राचीन हैं वे-वे पाणिनि-रचित हैं' तभी घोष जी उक्त कथन से श्लोकात्मक शिक्षा को पाणिनि-रचित सिद्ध कर सकते थे।

द्वितीय हेतु—'शबर (मीमांसा १.१.२२) और भर्तृहरि (१.४७) को शिक्षा ज्ञात थी।'

समीक्षा—यदि घोष जी का अभिप्राय शिक्षा-सामान्य से है, अर्थात् शबर और भर्तृहरि शिक्षा-शास्त्र से परिचित थे तो इस लेख से लेखक का अभिप्राय (श्लोकात्मक शिक्षा पाणिनि-रचित है) किञ्चिन्मात्र भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि शबर और भर्तृहरि के शिक्षाशास्त्र से परिचित होने मात्र से यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि यह श्लोकात्मक शिक्षा पाणिनि-रचित है? शिक्षा-सामान्य का निर्देश तो शबर और भर्तृहरि के सहस्रों वर्ष पूर्वभावी गोपथब्राह्मण और तैत्तिरीयारण्यकान्तर्गत उपनिषद् में भी विद्यमान है।

यदि उक्त वाक्य में घोष जी का अभिप्राय श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा से है, अर्थात् शबर और भर्तृहरि इस श्लोकात्मक शिक्षा को पाणिनि-विरचित

१. पं० भगवद्दत्तजी कृत 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' भाग १। भारतीय इतिहास की विकृति के कारण, अध्याय ३, पृष्ठ ३५-४२ (प्र०सं०) तथा उन्हीं की पुस्तक Western Indologists.

मानते थे, तो कहना पड़ेगा कि घोष जी ने दोनों आचार्यों का मिथ्या साक्ष्य उपस्थित किया। मीमांसाभाष्य १.१.२२ में शबरस्वामी का वचन इस प्रकार है—

शिक्षाकारा आहुः—वायुरापद्यते शब्दतामिति।

इस प्रसङ्ग में शबरस्वामी ने किसी व्यक्तिविशेष के नाम का निर्देश नहीं किया, केवल '**शिक्षाकाराः**' ऐसा सामान्य निर्देश किया है। शबरस्वामी-निर्दिष्ट वचन इस श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा के किसी पाठ में उपलब्ध नहीं होता। यदि उक्त वचन इस श्लोकात्मक शिक्षा में मिल जाता, तब भी कुछ कल्पना की जा सकती थी।

दूसरा नाम घोष जी ने भर्तृहरि का लिखा है; उन्होंने पादटिप्पणी में वाक्यपदीय (१.४७) का जो श्लोक उद्धृत किया है, वह इस प्रकार है—

वितर्कितः पुरा बुद्ध्या क्वचिदर्थे निवेशितः।
करणेभ्यो विवृत्तेन ध्वनिना सोऽनुगृह्यते॥

इस श्लोक में शिक्षा का कोई प्रसङ्ग नहीं है, न शिक्षा शब्द का ही निर्देश है। हाँ, पाणिनीय शिक्षा के 'आत्मा बुद्ध्या' श्लोक का अभिप्राय इससे कुछ मिलता है। इस किञ्चित् अर्थसाम्य से यह नहीं कहा जा सकता कि भर्तृहरि इस श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा से परिचित थे।

अब हम भर्तृहरि का वह स्थल उपस्थित करते हैं, जिससे यह प्रतीत होता है कि भर्तृहरि इस श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा से परिचित थे।

वाक्यपदीय १.१.१६ की स्वोपज्ञ व्याख्या में भर्तृहरि ने 'आचार्यः खल्वाह' कह कर '**आत्मा बुद्ध्या**' श्लोक उद्धृत किया है। यह श्लोक श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा तथा अग्निपुराणान्तर्गत शिक्षा-प्रकरण में उपलब्ध होता है। इस प्रसंग में भर्तृहरि ने अनेक शिक्षाकारों के मत उद्धृत किये हैं। '**आत्मा बुद्ध्या**' श्लोक को उद्धृत करते समय भर्तृहरि ने किसी व्यक्ति का नाम नहीं लिखा, अतः यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता कि यहाँ भर्तृहरि को आचार्य शब्द से कौन व्यक्ति अभिप्रेत है। पुनरपि, इससे इतनी कल्पना कथंचित् अवश्य की जा सकती है कि यह श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा भर्तृहरि से प्राचीन है और भर्तृहरि उससे परिचित थे।

तृतीय हेतु—'मधुसूदन सरस्वती और पराशर-शिक्षा के लेखक इसे पाणिनिकृत मानते हैं।'

समीक्षा—मधुसूदन सरस्वती अभी १७ वीं शती पूर्वार्द्ध के हैं; उनकी अपेक्षा तो इस शिक्षा के दोनों अज्ञातनामा टीकाकार कहीं अधिक प्राचीन हैं। अतः मधुसूदन सरस्वती द्वारा इस शिक्षा का उल्लेख होना कोई महत्त्व नहीं रखता।

अब रहा पराशर–शिक्षा का प्रमाण। पराशर–शिक्षा के विषय में अभी यह साध्य है कि यह किस काल की रचना है। घोष जी ने भी इसके रचनाकाल का कोई निर्देश नहीं किया। वह पराशर–शिक्षा कृष्ण द्वैपायन के पिता महर्षि पराशर की कृति नहीं है। यह निश्चित है, क्योंकि इस शिक्षा में पराशर से बहुत उत्तरकाल में होनेवाले याज्ञवल्क्य, पाणिनि, कात्यायन और माध्यन्दिन आदि का उल्लेख है। यदि इतना मान भी लें कि यह पराशर–शिक्षा पराशर मुनि प्रोक्त ही है, तब भी इतना ही सिद्ध होगा कि पराशर–शिक्षा के प्रवचन–काल में पाणिनि की कोई शिक्षा प्रसिद्ध थी। यह श्लोकात्मक पाणिनि–शिक्षा पराशर–शिक्षा से पुरानी है, यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि पराशर–शिक्षा में इस श्लोकात्मक पाणिनि–शिक्षा का कोई श्लोक अथवा श्लोकांश उद्धृत नहीं। इस प्रकार घोष जी का यह तीसरा हेतु भी उनके पक्ष का पोषण नहीं करता।

चतुर्थ हेतु—'शुक्रनीतिकार भी इसे जानता था।'

इसके प्रमाण में घोष जी ने पाद–टिप्पणी में शुक्रनीति का निम्न मुद्रित श्लोक उद्धृत किया है—

स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः।
सवनाद्यैश्च सा शिक्षा वर्णानां पाठशिक्षणात्॥

समीक्षा—उक्त श्लोक–शुक्रनीति में कहाँ आया है, इसका निर्देश घोष जी ने नहीं किया। अस्तु, यह पद्य शुक्रनीति के चतुर्थाध्याय के तृतीय प्रकरण में शिक्षा–अङ्ग के वर्णन में (सं० ४१) मिलता है। शुक्रनीति में यहाँ शिक्षा नामक अङ्ग का सामान्य वर्णन है। इस पद्य का पूर्वार्द्ध श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा में उपलब्ध होता है। इसी बल पर घोष जी ने इस शिक्षा को शुक्रनीति से प्राचीन सिद्ध करने की चेष्टा की है। ध्यान रहे कि यह पद्यांश अग्नि–पुराणान्तर्गत शिक्षा–प्रकरण में भी विद्यमान है। अतः केवल अर्ध श्लोक के तीनों स्थानों पर उपलब्ध हो जाने मात्र से यह नहीं कहा जा सकता कि श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा शुक्रनीति से प्राचीन है।

पञ्चम हेतु—'पाणिनीय शिक्षा और अष्टाध्यायी दोनों एक की कृतियाँ

हैं, यह सिद्ध किया जा सकता है।'

समीक्षा—यह केवल प्रतिज्ञा है, प्रतिज्ञामात्र से किसी पक्ष की सिद्धि नहीं होती। घोष जी ने श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा और अष्टाध्यायी को एक व्यक्ति की सिद्ध करने के लिए दोनों ग्रन्थों की कोई तुलना नहीं की।

श्लोकात्मक शिक्षा और अष्टाध्यायी एक की कृति नहीं

घोष जी की प्रतिज्ञा के विपरीत हमारा मत है कि इस श्लोकात्मक शिक्षा के उच्चारण सम्बन्धी मत अष्टाध्यायी से बहुत विरोध रखते हैं। उदाहरण के लिए हम कतिपय प्रमाण उपस्थित करते हैं—

(क) घोष जी ने इस पाणिनीय शिक्षा के विभिन्न पाठों के आधार पर जो स्वकल्पित मूलपाठ उपस्थित किया है, उसमें एक श्लोक इस प्रकार है—

अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीषत् नेमस्पृष्टाः शलस्तथा।
शेषाः स्पृष्टा हलः प्रोक्ता निबोधानुप्रदानतः॥

अर्थात् अचों (स्वरों) का अस्पृष्ट आभ्यन्तर–प्रयत्न है। यणों (=अन्तस्थों) का ईषत्स्पृष्ट, शलों (ऊष्मों) का अर्धस्पृष्ट और शेष हलों (=व्यञ्जनों) का स्पृष्ट–प्रयत्न है।

इस श्लोक के अनुसार अचों का अस्पृष्ट और शलों का अर्धस्पृष्ट–प्रयत्न होने से अचों और ऊष्मों की परस्पर सवर्ण संज्ञा प्राप्त ही नहीं होती। सवर्ण संज्ञा के लिए उच्चारण–स्थान और आभ्यन्तर–प्रयत्न का सामान्य होना आवश्यक है।[1]

इस शिक्षा के अनुसार अचों और ऊष्मों के आभ्यन्तर प्रयत्न में भिन्नता होने के कारण जब दोनों की परस्पर सवर्ण संज्ञा प्राप्त ही नहीं होती, तब ह की अ के साथ, श की इ के साथ, ष की ऋ के साथ और स की लृ के साथ परस्पर सवर्ण संज्ञा के निषेध के लिए पाणिनि का '**नाज्झलौ**' (अ० १.१.१०) सूत्र बनाना ही व्यर्थ है। **नाज्झलौ** सूत्र के निर्माण से स्पष्ट ही है कि पाणिनि के मत में ऊष्मों और अचों के आभ्यन्तर प्रयत्न समान हैं। इससे यह व्यक्त है कि श्लोकात्मक शिक्षा पाणिनिरचित नहीं है।

इस पाणिनीय शिक्षा के ऋक्शाखीय और यजुःशाखीय पाठ में एक

---

१. इस सम्बन्ध में 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' (अ० १.१.९) पाणिनीय सूत्र तथा इसके व्याख्यान–ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

श्लोक और मिलता है (शिक्षाप्रकाश–टीका में वह व्याख्यात है।) वह है—

स्वराणामूष्मणां चैव विवृतं करणं स्मृतम्।
तेभ्योऽपि विवृतावेडौ ताभ्यामैचौ तथैव च॥

इस श्लोक के अनुसार स्वरों और ऊष्मों का विवृत प्रयत्न है। दोनों का विवृतप्रयत्न मानने पर यद्यपि अष्टाध्यायी का '**नाज्झलौ**' सूत्र संगत हो जाता है, परन्तु यह श्लोक वस्तुतः इस शिक्षा का अंग है, यही अभी साध्य है। इस श्लोक के प्रक्षिप्त होने के निम्नलिखित कारण हैं—

(१) यह श्लोक इस शिक्षा के सम्पूर्ण पाठों में उपलब्ध नहीं होता। पञ्जिका नामक व्याख्या के रचयिता ने भी श्लोक की व्याख्या नहीं की। इन्हीं कारणों से स्वयं घोषजी ने भी अपने मूलपाठ में इस श्लोक को स्थान नहीं दिया।

(२) इस शिक्षा के ऋक्पाठ में '**स्वराणामूष्मणां चैव**' (२१) और '**अचोऽस्पृष्टाः**' (३८) इन दोनों आभ्यन्तर प्रयत्नप्रतिपादक श्लोकों के मध्य में १६ श्लोक ऐसे हैं जो अप्रासङ्गिक हैं। अप्रासङ्गिक श्लोकों के व्यवधान से शिक्षा का पाठ ही सन्दिग्ध है। पाठ के सन्दिग्ध होने से कोई निस्सन्दिग्ध परिणाम नहीं निकाला जा सकता।

(३) इस शिक्षा के यजुःशाखीय पाठ तथा प्रकाश टीका में यद्यपि दोनों '**स्वराणामूष्मणां**' तथा '**अचोऽस्पृष्टाः**' श्लोक साथ–साथ पढ़े हैं, पुनरपि दोनों श्लोकों की उपस्थिति में एक सन्देह और होता है कि स्वरों और ऊष्मों का प्रयत्न विवृत है अथवा अस्पृष्ट और नेमस्पृष्ट। यदि '**अचोऽस्पृष्टाः**' पदों को अस्पृष्ट–प्रयत्न का विधायक न मानकर 'अच् स्पृष्ट–प्रयत्नवाले नहीं होते' इस प्रकार पूर्व श्लोकप्रतिपादक अर्थ का अनुवाद मानें, तब भी एक सन्देह तो रह ही जाता है कि ऊष्मों का विवृत–प्रयत्न माना जाय अथवा **नेमस्पृष्ट=अर्धस्पृष्ट**। स्वरों का विवृत और ऊष्मों का नेमस्पृष्ट–प्रयत्न होने पर दोनों की सवर्ण संज्ञा नहीं होगी, पुनः '**नाज्झलौ**' सूत्र की व्यर्थता तदवस्थ ही है।

(ख) शिक्षा के मतानुसार ह्रस्व 'अ' का अस्पृष्ट अथवा विवृत–प्रयत्न है [देखें पूर्वोद्धृत दोनों श्लोक]। परन्तु पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा पातञ्जल महाभाष्य से स्पष्ट है कि पाणिनि ह्रस्व 'अ' का मूलतः संवृतप्रयत्न मानता है। संवृतप्रयत्न होने पर दीर्घ और प्लुत अवर्ण के साथ ह्रस्व अ की सवर्ण संज्ञा प्राप्त नहीं होती, अतः पाणिनि ने स्वशास्त्रीय कार्य निर्वाहार्थ '**अइउण्**' सूत्र में उसका विवृत उपदेश किया है और शास्त्र के अन्त में '**अ अ**' सूत्र द्वारा प्रथम विवृत–उपदिष्ट ह्रस्व **अ** को पुनः संवृत किया है।[1] यदि पाणिनि के मत में ह्रस्व अ स्वभावतः विवृत होता तो पाणिनि प्रथम सूत्र में उसका विवृत–उपदेश और अन्तिम सूत्र में पुनः उसका संवृत–विधान न करते।

यदि यह कहा जाये कि शिक्षा में व्याकरणशास्त्र के कार्यनिर्वाहार्थ ही ह्रस्व अ को विवृत कहा है, तो भी अयुक्त है। क्योंकि शिक्षा स्वतन्त्र वेदाङ्ग है। वह स्वतन्त्र रूप से वर्णों के उच्चारण की शिक्षा देता है। शिक्षा के लोकवेदसाधारण होने से उसमें ह्रस्व अ का संवृत प्रयत्न ही कहना चाहिए। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी स्पष्ट लिखा है—

'नैव लोके न च वेदेऽकारो विवृतोऽस्ति। कस्तर्हि ? संवृतः।'

—अइउण् सूत्र

हां, अधिक से अधिक शिक्षा में यह कहा जा सकता था कि ह्रस्व अ का स्वाभाविक प्रयत्न संवृत है, परन्तु पाणिनीय व्याकरणशास्त्र में कार्यनिर्वाहार्थ इसे विवृत माना है। किन्तु, सम्पूर्ण पाणिनीय शिक्षा में ह्रस्व 'अ' का वास्तविक संवृत–प्रयत्न का उल्लेख ही नहीं किया गया। इससे **इस शिक्षा के किसी शिक्षा–शास्त्रज्ञ द्वारा रचित होने में भी सन्देह है।**

(ग) इस शिक्षा के ऋक्शाखीय पाठ में एक श्लोक इस प्रकार है—

संवृतं मात्रिकं ज्ञेयं विवृतं तु द्विमात्रिकम्।
घोषा वा संवृताः सर्वे अघोषा विवृताः स्मृताः॥

अर्थात् एक मात्रावाले वर्ण संवृत–प्रयत्नवाले होते हैं और द्विमात्रिक विवृत प्रयत्न वाले।

यदि इस श्लोक में ह्रस्व अकार के संवृत–प्रयत्न का विधान माना जाये तो इसमें निम्नांकित आपत्तियाँ हैं—

(१) यह श्लोक ऋक्शाखीय पाठ के अतिरिक्त अन्य पाठों में उपलब्ध नहीं होता। दोनों टीकाकारों ने भी इसकी व्याख्या नहीं की है। अतः इस श्लोक का मूलपाठान्तर्गत होना ही सन्दिग्ध है।

(२) यदि इस श्लोक को मूलपाठ का अंग मान भी लें, तब भी इसमें दो अपरिहार्य दोष आते हैं। यथा—

प्रथम—इस श्लोक के अनुसार समस्त एकमात्रिक (=ह्रस्व) स्वरों

१. 'अइउण्' सूत्र का महाभाष्य।

(अ इ उ ऋ लृ) का संवृत-प्रयत्न होगा। उस अवस्था में ह्रस्व इ उ ऋ लृ वर्णों की अपने दीर्घ और प्लुतों के साथ सवर्ण संज्ञा नहीं होगी, क्योंकि ह्रस्वों का संवृत-प्रयत्न कहा है और दीर्घों का विवृत। ऐसी अवस्था में पाणिनि का समस्त व्याकरण अव्यवस्थित हो जायेगा तथा पाणिनि को ह्रस्व अ के समान ह्रस्व इ उ ऋ लृ के संवृत-प्रयत्न का भी शास्त्रीय-कार्य-निर्वाहार्थ विवृत उपदेश करना होगा (जो कि नहीं किया) और शास्त्रान्त में पुनः संवृतप्रत्यापत्ति करनी होगी (जो कि नहीं की)।

द्वितीय—इस श्लोक में एकमात्रिक द्विमात्रिक स्वरों के ही प्रयत्नों का विधान किया है, प्लुतों का निर्देश ही नहीं किया। यदि कहना ही था, तो इसे इस प्रकार पढ़ना चाहिए था—

'संवृतं मात्रिकं ज्ञेयं विवृतं तु ततः परम्।'

इससे स्पष्ट है कि इस श्लोक के आधार पर ह्रस्व अ के संवृत-प्रयत्न का विधान नहीं माना जा सकता। इस श्लोक को अप्रामाणिक ही मानना होगा।

(घ) ऊपर इस श्लोकात्मक शिक्षा के जो दो श्लोक उद्धृत किये हैं, उनमें शल् (श ष स ह) वर्णों का विवृत अथवा नेमस्पृष्ट (अर्धस्पृष्ट) प्रयत्न कहा है। परन्तु **'नाज्झलौ'** (अ० १.१.१०) सूत्र के महाभाष्य में पतञ्जलि ने लिखा है—

स्पृष्टं करणं स्पर्शानाम्। ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्।

विवृतमूष्मणाम्, ईषदित्यनुवर्त्तते स्वराणां च, ईषद् इति निवृत्तम्।

अर्थात् स्पर्श-वर्णों का स्पृष्ट-प्रयत्न है, अन्तःस्थों का ईषत्-स्पृष्ट, ऊष्मों का ईषद् विवृत, स्वरों का विवृत।

पतञ्जलि ने प्राचीन शिक्षा-सूत्रों के आधार पर ऊष्मों का जो ईषद्विवृत-प्रयत्न दर्शाया है, उसका इस शिक्षा में कहीं भी निर्देश नहीं मिलता।

उपर्युक्त हेतुओं से स्पष्ट है कि घोष जी की प्रतिज्ञा के ठीक विपरीत इस श्लोकात्मक शिक्षा तथा अष्टाध्यायी में स्वीकृत शिक्षा-मतों में विरोध होने से ये दोनों ग्रन्थ एककर्तृक नहीं हो सकते।

घोष जी की भूल का कारण—घोष जी ने श्लोकात्मक शिक्षा और अष्टाध्यायी का ऊपर-ऊपर से ही अवलोकन किया, इन दोनों ग्रन्थों के शिक्षाविषयक मतों की सूक्ष्म विवचेना नहीं की। इसलिए, उन्हें दोनों ग्रन्थों

के शिक्षाविषयक मतभेद ज्ञात नहीं हुए, केवल अष्टाध्यायीस्थ कतिपय प्रत्याहारों का श्लोकात्मक शिक्षा में उल्लेख देखकर दोनों के एककर्तृक होने की असम्भव प्रतिज्ञा कर बैठे।

इस प्रकार घोष जी के लेख के प्रथम भाग की विवेचना से स्पष्ट है कि यह श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा वैयाकरण पाणिनि मुनि-विरचित नहीं है। अब हम उनके लेख के द्वितीय भाग की विवेचना करते हैं, जिसमें उन्होंने स्वामी दयानन्द सरस्वती पर सूत्रात्मक शिक्षा को पाणिनि के नाम पर प्रसिद्ध करने का दोषारोपण किया।

सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा और स्वामी दयानन्द सरस्वती—हम पहले लिख चुके हैं कि पठन-पाठन में श्लोकात्मक शिक्षा के अधिक प्रवृत्त हो जाने से मूल सूत्रात्मक शिक्षा-ग्रन्थ लुप्तप्राय हो चुका है। चिरकाल के प्रयत्न के पश्चात् सं० १९३६ के पूर्वार्द्ध में, स्वामी दयानन्द सरस्वती को प्रयाग के एक वृद्ध ब्राह्मण के घर से पाणिनीय शिक्षा-सूत्र का एक हस्तलेख प्राप्त हुआ। यह हस्तलेख त्रुटि-बहुल और अन्त में खण्डित था। उन्होंने उसी त्रुटि-बहुल और खण्डित ग्रन्थ को हिन्दी व्याख्यासहित, सं० १९३६ के अन्त में, अपने वैदिक यन्त्रालय (काशी) में छापकर 'वर्णोच्चारण-शिक्षा' के नाम से प्रकाशित किया। इसकी भूमिका में प्रथम बार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने चिरकाल से प्रसिद्ध श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा को पाणिनि मुनि विरचित मानने की भ्रान्ति का निवारण किया।[1]

इस सूत्रात्मक शिक्षा के प्रकाशित होने के लगभग ५३ वर्ष के पश्चात् डॉ० रघुवीर जी ने 'पाणिनि के लुप्त शिक्षा-सूत्रों की खोज' नामक लेख में सिद्ध किया कि स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा वर्णोच्चारण-शिक्षा के नाम से प्रकाशित शिक्षासूत्र ही मूल पाणिनीय शिक्षा है।

डॉ० रघुवीर जी के इस स्थापना पर घोष जी लिखते हैं—

''डॉ० रघुवीर 'पाणिनि के लुप्त शिक्षा-सूत्रों की खोज' नामक लेख में पाणिनि के लुप्त शिक्षा-सूत्रों को ढूंढ लेने का दावा करता है। अनेक युक्तियों से जो वे जोश में उपस्थित करते हैं, यह प्रतीत होता है कि उनके खोजे सूत्र (दयानन्द के शिक्षा-सूत्र) वेदाङ्ग शिक्षा है। परन्तु सूक्ष्म परीक्षा से हमें ज्ञात

१. इसके विषय में देखें हमारे 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास' पृष्ठ २१९-२२०, संस्क० २।

होता है कि वे युक्तियाँ इतनी गम्भीर नहीं, जितनी डॉ० रघुवीर सोचते हैं।''

समीक्षा—यदि घोष जी डॉ० रघुवीर की युक्तियों को, जिन्हें उन्होंने स्वामी दयानन्द–प्रकाशित शिक्षा–सूत्रों की प्रामाणिकता और वेदाङ्गत्व में दी है, क्रमशः उद्धृत करके प्रत्याख्यान करते तो उन्हें ज्ञात होता कि डॉ० रघुवीर की युक्तियां गम्भीर हैं या नहीं। घोष जी ने उसका स्पर्श किये विना ही 'वे युक्तियां उतनी गम्भीर नहीं' लिखकर छोड़ दिया।

घोष जी न तो अपने पक्ष की पुष्टि में ही कोई हेतु देते हैं (केवल प्रतिज्ञा करके छोड़ देते हैं, जैसे कि हमने ऊपर दिखाया है) और न विरुद्ध पक्ष की युक्तियों को उद्धृत करके प्रमाण–पुरस्सर उनका प्रत्याख्यान ही करते हैं। क्या विरोधी पक्ष की युक्तियों का निराकरण किये विना केवल प्रतिज्ञामात्र से कोई पक्ष पुष्ट हो सकता है?

यहाँ यह भी ध्यान रहे कि घोष जी पाणिनीय शिक्षा–सूत्रों को 'दयानन्द शिक्षा–सूत्र' लिखकर आरम्भ में ही अपनी मनोवृत्ति का परिचय स्वयं दे रहे हैं।

घोष जी पुनः लिखते हैं—

'वे (डॉ० रघुवीर) यह मानकर चलते हैं कि दयानन्दीय शिक्षासूत्र पाणिनि के लुप्त शिक्षा–सूत्र हैं। यद्यपि कोई स्वतन्त्र प्रमाण उनके अस्तित्व का नहीं है। और न ही उनके खोजने की कोई कहानी है।'

समीक्षा—डॉ० रघुवीर का मूल लेख इस समय हमारे सामने नहीं है। इसलिए हम नहीं कह सकते हैं कि उन्होंने शिक्षा–सूत्रों को पाणिनीय सिद्ध करने में क्या प्रमाण दिये थे।

हमें घोष जी के बारे में आश्चर्य है कि जो दोष वे डा० रघुवीर पर आरोपित करते हैं, उनसे वे स्वयं भी मुक्त नहीं हैं। वे आरम्भ से ही विना परीक्षा किये स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित पाणिनीय शिक्षा–सूत्रों को दयानन्द शिक्षा–सूत्र के नाम से लिखते हैं। चाहिए तो यह था कि वे पहले स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षा–सूत्रों के पाणिनियत्व–अपाणिनीयत्व के सिद्ध हो जाने पर उनको 'दयानन्द शिक्षा कृत' की संज्ञा देते। अस्तु,

अब हम वे प्रमाण उपस्थित करते हैं। जिनसे स्पष्ट ज्ञात हो जायेगा कि स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्र पाणिनीय हैं या नहीं।

घोष जी उपर्युक्त उद्धरण में बड़े बल से कहते हैं, कि इन शिक्षासूत्रों के अस्तित्व का कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं। हम न केवल उनके स्वतन्त्र अस्तित्व का अपितु उनके पाणिनीयत्व का भी प्रमाण उपस्थित करते हैं।

सूत्रात्मक शिक्षा के पाणिनीयत्व में प्रमाण—

(१) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के 'त्रिभाष्यरत्न'[१] नामक व्याख्या के रचयिता सोमयार्य लिखते हैं—

सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति इति पाणिनीयेऽपि।[२]

यहाँ स्पष्ट ही सोमयार्य 'सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति' वचन को पाणिनीय मानकर उद्धृत कर रहे हैं। यह वचन पाणिनीय सूत्रात्मक शिक्षा के षष्ठ प्रकरण में उपलब्ध होता है।

क्या अब भी घोषजी 'कोई स्वतन्त्र प्रमाण उनके अस्तित्व का नहीं' ऐसी घोषणा करने का साहस करेंगे? यदि घोषजी ने तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का उक्त 'त्रिभाष्यरत्न' देखा होता, तो वे इस प्रकार लिखने का दुस्साहस न करते।

प्रकृत विषय में यह कहा जा सकता है कि त्रिभाष्य–रत्नकार सोमयार्य ने उक्त सूत्र आपिशल शिक्षा से लिया होगा और भूल से पाणिनि के नाम से उद्धृत कर दिया, क्योंकि यह सूत्र आपिशलशिक्षा में भी इसी प्रकरण पर उपलब्ध होता है।

यदि इस कल्पना को स्वीकार कर लें तब भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि त्रिभाष्य–रत्नकार सोमयार्य को सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा का भी ज्ञान था।

ऐसी अवस्था में सोमयार्य आपिशल सूत्र को पाणिनि के नाम से कैसे उद्धृत कर सकते थे? हाँ, सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा की प्रसिद्धि होने पर इस प्रकार की भूल होना सम्भव है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि सोमयार्य ने चाहे पाणिनीय शिक्षा–सूत्र को उद्धृत किया हो, चाहे पाणिनि के नाम से आपिशल शिक्षा–सूत्र को, दोनों ही अवस्थाओं में यह मानना पड़ेगा कि सोमयार्य को किसी सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा का ज्ञान था।

---

१. यह ग्रन्थकार न्यूनातिन्यून ४०० वर्ष पुराना है।

२. मैसूर सं०, पृ० ४५०।

आपिशल और पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों का पार्थक्य—यद्यपि आपिशल और पाणिनीय शिक्षा के सूत्रों में अत्यन्त सादृश्य है, कोई भी व्यक्ति इनका गहरा अनुशीलन किये विना इनके विलक्षण सादृश्य से मोहित हो सकता है, तथापि इन दोनों शिक्षा सूत्रों में अनेक स्थानों पर जो सूत्रों की न्यूनाधिकता और पाठभेद उपलब्ध होते हैं वे इन दोनों ग्रन्थों के पृथक्-पृथक् प्रवचन की सिद्धि में पर्याप्त प्रमाण हैं।[१]

पुनरपि, हम यहाँ एक ऐसा अकाट्य और नवीन प्रमाण उपस्थित करते हैं, जो न केवल इन दोनों शिक्षा-सूत्रों की भिन्नता ही व्यक्त करता है, अपितु स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षा-सूत्रों का पाणिनीयत्व भी सिद्ध करता है। यथा—

(२) आपिशल और पाणिनीय शिक्षा के तृतीय प्रकरण के अन्त के सूत्र हैं—

आपिशलपाठ	पाणिनीय पाठ
ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः।	**ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः।**
विवृतकरणाः स्वराः।	**विवृतकरणा वा**
	विवृतकरणाः स्वराः।

इन दोनों पाठों की वर्णानुपूर्वी एक होते हुए भी पाणिनीय शिक्षा में एक सूत्र अधिक है। वह है—**विवृतकरणा वा।** इस सूत्र में पूर्व सूत्र से **ऊष्माणः** पद की अनुवृत्ति है। तदनुसार ऊष्म (श ष स ह) वर्णों का आभ्यन्तर-प्रयत्न विवृत है (आपिशल शिक्षा में यह सूत्र नहीं है)। ऊष्म वर्णों का विवृत प्रयत्न मानने पर ही ऊष्मों की अचों (इ ऋ लृ अ) के साथ स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न का साम्य होने से इनकी परस्पर सवर्ण संज्ञा प्राप्त होती है।[२] सवर्ण संज्ञा होने पर '**दधिशीतम्**', '**दण्डहस्तः**' आदि में क्रमशः सवर्णदीर्घत्व की प्राप्ति होती है।[३] इसीलिए पाणिनि ने अष्टाध्यायी में '**नाज्झलौ**' सूत्र के द्वारा अचों और हलों की सवर्णसंज्ञा का निषेध किया

१. कृपया देखें, मेरे द्वारा सम्पादित 'शिक्षा-सूत्राणि' की भूमिका। [अब इसका जो संस्करण उपलब्ध है उसमें पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों का भी वृद्ध और लघुपाठ छपा है।]

२. तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्। अष्टा० १.१.९॥

३. अकः सवर्णे दीर्घः। अष्टा० ६.१.१०१॥

है। आपिशलशिक्षा में '**विवृतकरणा वा**' सूत्र नहीं है। अतः उसके अनुसार अचों-हलों की परस्पर सवर्ण संज्ञा प्राप्त ही नहीं होती।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित सूत्रात्मक शिक्षा पाणिनीय ही है और वह पाणिनीयशिक्षा आपिशलशिक्षा से भिन्न है।

यह भी ध्यान रहे कि घोष जी जिस श्लोकात्मक शिक्षा के पाणिनीयत्व की प्रतिज्ञा करते हैं, और अपनी दृष्टि के अनुसार उसका जो मूलपाठ सम्पादित किया है, तदनुसार अचों का अस्पृष्ट-प्रयत्न है और ऊष्मों का नेमस्पृष्ट। अतः दोनों के आभ्यन्तर-प्रयत्नों में भेद होने के कारण इस श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा के मत में दोनों की परस्पर सवर्ण संज्ञा प्राप्त ही नहीं, फिर पाणिनि ने सवर्णसंज्ञा के निषेध के लिए '**नाज्झलौ**' सूत्र क्यों रचा?

(३) स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षा-सूत्रों की प्रामाणिकता तथा पाणिनीयत्व में एक नई युक्ति हम उपस्थित करते हैं—

इंडियन रिसर्च इंस्टीट्यूट (कलकत्ता) से सन् १९३९ ई० में श्री अमूल्यचरण विद्याभूषण ने आपिशल शिक्षा के नाम से एक शिक्षा-ग्रन्थ प्रकाशित किया है। यह ग्रन्थ एक त्रुटिबहुल अशुद्धिपूर्ण हस्तलेख से छपा है। मुद्रित पाठ को देखने से स्पष्ट है कि प्रकाशक को जैसा भी हस्तलेख प्राप्त हुआ था उसको उसने वैसा ही छाप दिया। यह शिक्षा-ग्रन्थ वस्तुतः आपिशलि का नहीं है। इसमें निम्न हेतु हैं—

(क) प्रकाशक ने इसकी भूमिका में कहीं भी नहीं लिखा कि इसके हस्तलेख के आद्यन्त में कहीं भी आपिशलि का नाम निर्दिष्ट है।

(ख) यदि इसके हस्तलेख के आद्यन्त में कही आपिशलि का नाम निर्दिष्ट भी हो, तब भी यह हस्तलेख आपिशल-शिक्षा का नहीं हो सकता, क्योंकि इस शिक्षा के अष्टम प्रकरण में एक सूत्र है—

स एवमापिशलेः पञ्चदशभेदाख्या वर्णधर्मा भवन्ति। पृष्ठ ३

अर्थात् इस प्रकार आपिशलि के मत में पन्द्रह भेदवाले वर्णधर्म होते हैं।

इस प्रकार का वचन स्वयं आपिशलि अपने ग्रन्थ में नहीं लिख सकता। यह आर्षशैली के विपरीत है। इससे यह निश्चित है कि यह हस्तलेख आपिशल शिक्षा का नहीं है।

श्री अमूल्यचरण जी द्वारा प्रकाशित शिक्षा के उपर्युक्त सूत्रों में जिस प्रकार से आपिशलि को स्मरण किया गया है, ठीक उसी रूप में पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी के '**वा सुप्यापिशलेः**' (६.१.९२) सूत्र में आपिशलि को स्मरण किया है। अतः स्पष्ट है, श्री अमूल्यचरणजी द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्र पाणिनि के हैं।

सम्भव है, इस हस्तलेख के लेखक अथवा प्रकाशक ने शिक्षा के उक्त सूत्र में आपिशलि का नाम देखकर इसे आपिशलि–कृत मान लिया होगा।

(ग) हम पहले लिख चुके हैं कि आपिशल और पाणिनीय शिक्षा–सूत्रों में अत्यन्त सादृश्य होने पर भी दोनों में पर्याप्त भिन्नता है। जहाँ–जहाँ आपिशल और पाणिनीय शिक्षा–सूत्रों में भिन्नता है वहाँ श्री अमूल्यचरणजी का पाठ प्रायः पाणिनीय शिक्षा के पाठ का अनुसरण करता है।[1] यथा—

	आपिशलपाठ	**पाणिनीय पाठ**	**अमूल्यचरण पाठ**
१.	**जमडणनाः स्वस्थाना नासिकास्थानाश्च।**	**ङञणनमाः स्वस्थान-नासिकास्थानाः**	**ङञणनम[2] नासिका-स्थानाः**
२.	**ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः।**	**ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः। विवृतकरणा वा।**	**ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणो विवृतकरणा वा।**
	विवृतकरणाः स्वराः।	**विवृतकरणाः स्वराः।**	**विवृतकरणाः स्वराः।**

स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ भी त्रुटिबहुल तथा अन्त में खण्डित हस्तलेख के आधार पर छपा है। उसमें अष्टम प्रकरण का प्रथम सूत्र ही अधूरा है, अतः अमूल्यचरण के संस्करण से उद्धृत '**स एवमापिशलेः**' पंक्ति की तुलना हम नहीं कर सकते। स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षा–सूत्र का सप्तम प्रकरण भी बहुत अव्यवस्थित है। इनकी वास्तविक तुलना तो तभी हो सकती है जब इनके अन्य हस्तलेखों के आधार पर पूर्ण प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित हो जायें।

इतना होने पर भी यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि श्री अमूल्यचरण जी द्वारा प्रकाशित शिक्षा का पाठ पाणिनीय शिक्षापाठ से अधिक मिलता है।

(४) श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा में वर्णों की संख्या त्रिषष्टि अथवा

१. पाणिनीय शिक्षा का सप्तम प्रकरण कुछ सन्दिग्ध प्रतीत होता है। उसका पाठ सर्वथा भिन्न है।

२. निश्चय ही यहाँ 'म' से आगे 'ाः स्वस्थान' इतना पाठ त्रुटित हो गया है।

चतुष्षष्टि मानी गई है। श्री अमूल्यचरणजी द्वारा प्रकाशित शिक्षा–पाठ में भी '**स्थानकरणप्रयत्नपरेभ्यो वर्णाः त्रिषष्टिः, चतुष्षष्टिरित्येके**' सूत्र द्वारा वर्णों की संख्या तिरसठ और किन्हीं आचार्यों के मत में चौसठ हैं। दो हस्तलेखों के आधार पर डॉ० रघुवीर ने आपिशल शिक्षा का जो पाठ प्रकाशित किया है, उसमें '**तत्र स्थानकरणप्रयत्नेभ्यो वर्णास्त्रिषष्टिः**' इतना ही पाठ है अर्थात् आपिशलि केवल तिरसठ अक्षर मानता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जो पाणिनीय शिक्षा–सूत्र छापा है, उसमें '**त्रिषष्टिः**' इतना ही पाठ है। पूर्वोक्त दोनों पाठों की तुलना से स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित पाठ में सूत्र के आदि और अन्त दोनों ओर का पाठ टूट गया है।

श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा में वर्णों की तिरसठ और चौसठ दोनों संख्याओं का उल्लेख होने से स्पष्ट है कि श्री अमूल्यचरण जी द्वारा प्रकाशित शिक्षा–सूत्र भी पाणिनीय शिक्षा–सूत्र ही है। उन पर आपिशलि का नाम लेखक अथवा प्रकाशक की भ्रान्ति से लिखा गया है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जो शिक्षा–सूत्र पाणिनि के नाम से प्रकाशित किये थे, वे वस्तुतः पाणिनीय ही हैं। इसकी पुष्टि श्री अमूल्यचरण जी द्वारा प्रकाशित शिक्षा–सूत्रों से भी होती है।

घोष जी डॉ० रघुवीर के लेख की समालोचना करते हुए आगे लिखते हैं—

'डॉ० रघुवीर की मान्यता कि पतञ्जलि और अन्य वैयाकरणों ने इस सूत्रग्रन्थ (दयानन्द शिक्षा–सूत्र) से अंश अथवा भाव लिये, नितान्त अशुद्ध है, क्योंकि यह ग्रहण बिल्कुल उल्टे प्रकार से भी हो सकता था; अर्थात् द०शि०सू० के लेखक ने अपनी सामग्री अनेक स्रोतों से, यथा—महाभाष्य, चन्द्रगोमी के वर्ण–सूत्रों से, ली हो। इस तथ्य के प्रकाश में कि इसका कोई प्राचीन तथा नवीन हस्तलेख अथवा कोई उद्धरण नहीं मिलता, इस प्रकार का विचार (जैसा कि हमारा है) बनाना उचित है।'

समीक्षा—डॉ० रघुवीर के सीधे और स्पष्ट प्रमाण कि 'दयानन्द–प्रकाशित शिक्षा के अनेक सूत्र व्याकरण के महाभाष्य, काशिका, न्यास और पदमञ्जरी आदि अनेक ग्रन्थों में कहीं अक्षरशः, कहीं अंशतः और कहीं भावमात्रतः उद्धृत हैं और चन्द्रगोमी ने जैसे पाणिनि अष्टाध्यायी के आधार पर अपना व्याकरण लिखा[1], उसी प्रकार उसने पाणिनीय शिक्षा–सूत्रों के आधार पर

१. यह विषय दोनों व्याकरणों की तुलना से स्पष्ट है।

अपने वर्ण–सूत्र रचे' जिसे घोष जी ने पलटने की चेष्टा की है। क्या घोषजी स्वामी दयानन्द–प्रकाशित पाणिनीय शिक्षा के समस्त सूत्रों को व्याकरणादि शास्त्रों के प्राचीन अथवा नवीन ग्रन्थों में अंशत: अथवा भावत: उद्धृत बता सकते हैं। यदि नहीं, तो दयानन्द–शिक्षा के लेखक ने उन सूत्रों की रचना, जो न प्राचीन ग्रन्थों में उद्धृत हैं, और न जिनका विषय चान्द्र वर्ण–सूत्रों में विद्यमान है, कहाँ से संगृहीत किये ?

घोष जी के कथन में एक और दोष—व्याकरण के न्यास और पदमञ्जरी आदि ग्रन्थों में शिक्षा के अनेक ऐसे सूत्र उद्धृत हैं, जो दयानन्द–प्रकाशित शिक्षा–सूत्रों में नहीं मिलते। न्यास और हैम बृहद्वृत्ति में अष्टम प्रकरण के २३ सूत्र आनुपूर्वी से उद्धृत[१] हैं। दयानन्द–प्रकाशित शिक्षा–सूत्रों में, उनमें से केवल '**नाभिप्रदेशात्**.....' आदि प्रथम सूत्र और वह भी अधूरा मिलता है, शेष २२ सूत्र हैं ही नहीं। इससे स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अन्य ग्रन्थों से इन सूत्रों का संकलन नहीं किया, अन्यथा अष्टम प्रकरण का '**नाभि–प्रदेशात्**.....' सूत्र खण्डित न रहता और अगले २२ सूत्र भी न छूटते।

सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा के संग्राहक अथवा रचयिता स्वामी दयानन्द ही हैं ऐसा मान भी लें (जैसा घोष जी आगे चलकर स्वयं लिखेंगे), तब भी घोष जी को स्वामी जी का अगाध पाण्डित्य तो स्वीकार करना ही पड़ेगा, उनकी बुद्धि की स्तुति करनी ही पड़ेगी कि उन्होंने किसी प्राचीन सूत्रात्मक शिक्षा के शतश: ग्रन्थों में बिखरे हुए वचनों को संकलित करके और कुछ वचन अपनी ओर से जोड़कर उन्हें ऐसे सुन्दर ढंग से प्रकरणानुसार सुव्यवस्थित कर दिया, जो संकलनमात्र न रहकर स्वतन्त्र ग्रन्थ–रूप में परिणत हो गये और उसके ५० वर्ष पश्चात् उपलब्ध आपिशल शिक्षा से उसकी आनुपूर्वी भी अद्भुत साम्य के साथ मिल गई। इस विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती के विलक्षण पाण्डित्य की स्तुति की जाय अथवा घोष जी की विलक्षण ऊहा की ? पाठक इस पर स्वयं विचार करें।

यदि घोषजी उक्त कल्पना के स्थान पर यह कल्पना करते कि स्वामी दयानन्द–प्रकाशित शिक्षासूत्र पाणिनि के नहीं हैं, अपितु आपिशलि के हैं।

१. देखें मेरा आपिशलि, पाणिनि और चन्द्रगोमी के शिक्षा–सूत्रों का संस्करण—'शिक्षासूत्राणि', पृष्ठ ७–१० तक टिप्पणीस्थ पाठान्तर।

स्वामी दयानन्द ने उन्हें झूठ–मूठ ही पाणिनि के नाम से प्रसिद्ध कर दिया, तब भी उनकी कल्पना कुछ सीमा तक युक्तियुक्त कही जा सकती थी। परन्तु घोषजी जानते थे कि यदि एक बार भी आपिशलि के शिक्षा–सूत्रों को (जो उनके ग्रन्थ–प्रकाशन से पूर्व छप चुके थे) आपिशलि–कृत मान लिया तो दयानन्द–प्रकाशित शिक्षासूत्रों को पाणिनीय–विरचित मानना ही पड़ेगा। इस कारण घोषजी ने आपिशल शिक्षासूत्रों की चर्चा तक नहीं की। घोषजी का कर्त्तव्य था कि दयानन्द–प्रकाशित शिक्षासूत्रों की समालोचना करते हुए उन्हीं जैसे आपिशल शिक्षासूत्रों का निर्देश अवश्य करते। यदि यह माना जाये कि घोषजी को डॉ० रघुवीर द्वारा प्रकाशित आपिशल शिक्षा का ज्ञान ही नहीं था, तो यह भी बड़े आश्चर्य की बात है कि घोषजी शिक्षा पर कार्य करें और उनके ग्रन्थ से कई वर्ष पूर्व प्रकाशित अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आपिशल शिक्षा का उन्हें ज्ञान ही न हो। ऐसे अधूरे ज्ञान रखनेवाले व्यक्ति को ग्रन्थ–लेखन अथवा सम्पादन का क्या अधिकार है ? कलकत्ता विश्वविद्यालय ने भी ऐसे त्रुटिपूर्ण ग्रन्थ को कैसे प्रकाशित कर दिया।

अब रही हस्तलेख की बात। संस्कृत–वाङ्मय में अनेक ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनके पुराकाल में अत्यन्त प्रसिद्ध रहने पर भी चिरकाल तक उनके हस्तलेख प्राप्त नहीं हुए। अत्यन्त प्रयत्न करने पर उनके एक–एक, दो–दो त्रुटित हस्तलेख मिले हैं। आज भी अनेक ऐसे दुर्लभ ग्रन्थों के हस्तलेख मिल रहे हैं। अभी ४–५ वर्ष हुए, एक ऐसा ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाश में आया, वह है 'काशकृत्स्न धातुपाठ'[१]। इसी प्रकार शर्ववर्मकृत[२] कातन्त्र धातुपाठ का मूल संस्कृत अनुपलब्ध था। जर्मन–प्रोफेसर लिबिश ने इसका तिब्बती अनुवाद प्रकाशित किया था। उसका एकमात्र त्रुटिबहुल हस्तलेख अभी–अभी प्राप्त हुआ है।[३] इसी प्रकार पाणिनीय शिक्षा–सूत्र का भी एक त्रुटित हस्तलेख स्वामी दयानन्द को प्राप्त हो सकता था। इसमें आश्चर्य की कौन–सी बात

१. यह धातुपाठ चन्नवीर कविकृत–कन्नड टीकासहित कन्नड–लिपि में सन् १९५२ ई० में प्रकाशित है। इसके विषय में 'संस्कृत–रत्नाकर', फाल्गुन २०१२ वि०सं० के अंक में मेरा 'काशकृत्स्नीयो धातुपाठ:' लेख द्रष्टव्य है।

२. कई शर्ववर्मा को कातन्त्र–वृत्तिकार मानते हैं। देखें मेरा 'संस्कृत–व्याकरणशास्त्र का इतिहास', पृष्ठ ४०४–४०५।

३. इसको उपलब्ध करने का श्रेय हमारे मित्र कपिलदेव जी, एम०ए० को है। उन्हीं के द्वारा मुझे इसकी प्रतिलिपि प्राप्त हुई है।

है ? उसकी दूसरी प्रति के उपलब्ध न होने[१] मात्र से ग्रन्थ कल्पित नहीं कहा जा सकता।

वस्तुत: घोषजी अपनी इस युक्ति से स्वयं असन्तुष्ट थे। अत: वे ससंभ्रम आगे लिखते हैं—

''इस प्रकार हम देखते हैं कि दयानन्द के शिक्षा–सूत्र १९ वीं सदी के प्रारम्भ में प्रकाश में आने के लिए लगभग २५०० वर्ष तक अन्धकार में पड़े रहे। ऐसा अन्वेषण नितान्त असम्भव न भी हो, ऐसे विषयों में बड़ा सावधान रहना चाहिए। कौटिल्य और भास के ग्रन्थों का उदाहरण यहाँ नहीं लिया जा सकता, क्योंकि इनके उद्धरण प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध हो चुके हैं।''

घोषजी यहाँ जिन कौटिल्य अर्थशास्त्र और भास के नाटकों का उल्लेख कर रहे हैं, वे जिस समय प्रकाश में आये उस समय पाश्चात्य विद्वानों ने इन ग्रन्थों को कल्पित और जाली सिद्ध करने के लिए प्रधान युक्ति दी थी, जिसे आज घोषजी पाणिनीय शिक्षासूत्रों के विषय में दे रहे हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने कौटिल्य अर्थशास्त्र और भास के नाटकों को अप्रामाणिक और जाली सिद्ध करने के लिए कोई प्रयत्न उठा नहीं रखा था। यह तो शाम शास्त्री, गणपति शास्त्री का महान् प्रयत्न था कि पाश्चात्य विद्वानों की एक–एक युक्ति का मुँहतोड़ उत्तर मिला, उन्हें चुप होना पड़ा और उन्हें इन ग्रन्थों की प्रामाणिकता स्वीकार करनी पड़ी। इसीलिए, घोषजी भी आज इन्हें प्रामाणिक मानने का साहस कर रहे हैं।

प्राय: सभी पाश्चात्य विद्वान् इस विषय में सचेष्ट रहते हैं कि भारतीय इतिहास किसी प्रकार अधिक प्राचीन सिद्ध न हो जाय। जब कभी ऐसा कोई प्राचीन लेख अथवा ग्रन्थ उपलब्ध हो जाता है जो उनकी अप्रामाणिक स्थापनाओं को समूल नष्ट करता हो तो उनमें खलबली पैदा हो जाती है और वे तत्काल उसे कल्पित और जाली सिद्ध करने के लिए तत्पर हो जाते हैं अथवा उससे प्रकट होनेवाले तथ्य को ऐसे तोड़–मरोड़ कर लिखते हैं, जिससे संसार में सच्चाई प्रकट ही न हो।[२]।

१. हम पहले लिख चुके हैं कि इण्डियन रिसर्च इंस्टीट्यूट (कलकत्ता) से प्रकाशित 'आपिशल शिक्षा' भी वस्तुत: पाणिनीय शिक्षा है। अत: पाणिनीय शिक्षा का द्वितीय हस्तलेख भी प्राप्त हो गया, यह मानना ही पड़ेगा।

२. बोधाज कोई (प्तेरिया=पितर देश) स्थान से संवत् १९६४ में ह्यूगोविलङ्कर को कीलाक्षरों में लिखी कुछ मुद्राएँ प्राप्त हुई थीं। इनका काल पाश्चात्य विद्वानों द्वारा १४०० ईसा–पूर्व माना गया है। इनमें मितन्नीराज मत्तिवज की हित्तितिराज सुब्बी लुल्युम से की गई सन्धि का उल्लेख है। इनमें इन्द्र, मित्र, वरुण और नासत्य देवों का वर्णन है, अन्य मुद्राओं पर एकवर्तन्न और तेरवर्तन्न, पञ्जवर्तन्न तथा शहोतवर्तन्न रथों का वर्णन है। ये देव और रथ निश्चय ही वैदिक हैं। ऋग्वेद में इन्द्र के शतचक्र, नासत्य के त्रिचक्र तथा एकचक्र आदि रथों का स्पष्ट वर्णन है। इन मुद्राओं के प्राप्त होने पर योरोपीय विद्वानों की मान्यता को भारी धक्का पहुँचा, क्योंकि उन्होंने वेद की रचना १००० से १५०० ई० पू० मात्र में स्वीकार की थी। १४०० ई० पू० वैदिक देव और रथ भारत से इतनी दूर कैसे पहुँच सकते थे। अत: उन्होंने झट नया मार्ग निकाला कि आर्य इस देश में ठहरकर भारत की ओर अग्रसर हुए थे और इसी काल में आर्यों को इन देवों का ज्ञान हो गया था। (देखें 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास', पृ० २५०–२५२, संस्क० १)।

इसी प्रकार पाश्चात्य विद्वान् कहा करते थे कि भारतीय आर्यों की सभ्यता के अतिरिक्त प्राचीन अवशेष उपलब्ध नहीं होते। इसलिए, भारत में आर्यों का आगमन १५०० ई० पू० से अधिक प्राचीन नहीं है। जब मोहनजोदड़ों और हड़प्पा की खुदाई से पाश्चात्यमतानुसार ही ५००० सहस्र वर्ष प्राचीन उन्नत सभ्यता के चिह्न उपलब्ध हुए तो पाश्चात्य विद्वानों ने इस सभ्यता को अनार्यों की सिद्ध करने का प्रयत्न किया, परन्तु **आर्यों के बाहर से भारत में आने और यहाँ के अनार्यों पर विजय पाने का उल्लेख किसी भी संस्कृत-ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता।** यदि वस्तुत: आर्यों ने यह महान् विजय प्राप्त की होती, तो वे उसका साभिमान उल्लेख अपने ग्रन्थों में अवश्य करते। इसके विपरीत प्राचीन–संस्कृत–वाङ्मय आर्यों को यहीं का आदिवासी मानता है। इन दृष्टान्तों से पाश्चात्य विद्वानों की मनोवृत्ति का परिचय स्पष्ट लक्षित होता है।

घोषजी कौटिल्य अर्थशास्त्र और भास के नाटकों को इसलिए प्रामाणिक मानने को तैयार हो गये कि उनके उद्धरण प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध हो गये हैं। घोष जी की युक्ति उनके ही विपरीत पड़ती है। यदि अर्थशास्त्र और भास के नाटकों के कतिपय उद्धरणों के अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध हो जाने से वे प्रामाणिक माने जा सकते हैं, तो दयानन्द–प्रकाशित शिक्षासूत्र जिसके आधे से अधिक सूत्र महाभाष्य, काशिका, न्यास और पदमञ्जरी आदि अनेक ग्रन्थों में उद्धृत हैं, प्रमाण क्यों नहीं ? यदि यह कहा जाये कि इन ग्रन्थों में ये सूत्र पाणिनि के नाम से कहीं उद्धृत नहीं, तो इसका भी उत्तर हम पहले लिख चुके हैं कि तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के त्रिभाष्यरत्न के कर्त्ता सोमयार्य इस पाणिनि शिक्षा के छठे प्रकरण के '**सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न**

सन्ति' इस सूत्र को पाणिनि के नाम से ही उद्‌धृत करते हैं।[1]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि घोषजी ने स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रकाशित शिक्षासूत्रों को अप्रामाणिक सिद्ध करने के लिए जो युक्तियाँ उपस्थित की हैं, वे न केवल सारहीन ही है, अपितु उनके पक्ष का व्याघात भी करती हैं।

इसके आगे घोषजी यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि स्वामी दयानन्द प्रकाशित शिक्षा–सूत्र स्वामी दयानन्द का ही रचा है। वे लिखते हैं—

''जिस सामग्री को डॉ० रघुवीर ने बड़ी योग्यता से अपने लेख में संगृहीत किया है उससे यह जाना जा सकता है कि दयानन्द–शिक्षा–सूत्र कोई प्राचीन ग्रन्थ नहीं है। आर्यसमाज के प्रकाशक, वैदिक यन्त्रालय (अजमेर) के साम्प्रतिक सूचीपत्र को देखने से पता चलता है कि दयानन्द–शिक्षा–सूत्र–वेदाङ्ग–प्रकाश के १४ भागों में पहला है, जिन्हें स्वामी दयानन्द ने वैदिक विद्यार्थियों के लिए संगृहीत किया है। संभवत: ध्यान न रहने से डॉ० रघुवीर ने इसका उल्लेख अपने लेख में न किया। ये वेदाङ्ग–प्रकाश के भाग पृथक्–पृथक् भी छपे हैं। इनमें प्रथम भाग पर 'पाणिनि–कृत वर्णोच्चारण–शिक्षा' लिखा है। जैसा कि डॉ० रघुवीर ने बताया है, यह सूत्र–ग्रन्थ चन्द्रगोमी के वर्णसूत्रों में मिलता है, जो ५०० ईसवी का बौद्ध वैयाकरण था।''

यद्यपि घोषजी का यह लेख उत्तर लेख की भूमिका है, इसलिए इस पर विशेष लिखना आवश्यक नहीं, तथापि इस लेख में घोषजी ने जो भूल की है, उसकी ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना समीचीन होगा।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संस्कृत के विद्यार्थियों की सुविधा के लिए 'वेदाङ्ग–प्रकाश' नामक एक ग्रन्थमाला प्रकाशित की थी, जिसमें वे विविध वेदाङ्गों के ग्रन्थों की हिन्दी में व्याख्या का अथवा छात्रोपयोगी मूल ग्रन्थों का प्रकाशन करना चाहते थे। अपने परलोक–गमन तक वे इस ग्रन्थ–माला के १४ भाग ही प्रकाशित कर पाये। इन भागों में वर्णोच्चारण–शिक्षा पाणिनि मुनि–प्रोक्त शिक्षा–ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में व्याख्यात्मक भाग है। धातुपाठ पाणिनि के मूलग्रन्थ का, निघण्टु यास्क–विरचित[2] (अथवा अन्य–विरचित) मूल ग्रन्थ का वर्णानुक्रम–सूची–युक्त छात्रोपयोगी संस्करण है।

१. देखें—मैसूर–संस्करण, पृ० ४५०।

२. भगवद्दत्तजी कृत 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' (वेदों के भाष्यकार) पृष्ठ १९२–१९४।

क्या वेदाङ्ग–प्रकाश के १४ भागों में मुद्रित होने से पाणिनीय मूल धातुपाठ और यास्कीय निघण्टु भी स्वामी दयानन्द–संगृहीत हो जायेंगे? इसी प्रकार उणादिकोश जिसमें प्राचीन पञ्चपादी सूत्रों की व्याख्या है, वे मूल उणादि स्वामी दयानन्द–संगृहीत माने जायेंगे? यदि नहीं, तो वर्णोच्चारण नामक भाग में पाणिनि मुनि–कृत प्राचीन शिक्षा–सूत्रों की व्याख्या होने से शिक्षा–सूत्र दयानन्द संगृहीत कैसे हो गये?

इसी लेख में घोषजी ने चन्द्रगोमी को ५०० ईसवी का माना है, यह भी सर्वथा मिथ्या है। चन्द्रगोमी को उद्‌धृत करनेवाले महाभाष्य के व्याख्याता और वाक्यपदीय के कर्त्ता भर्तृहरि ही ५०० ईसवी से बहुत पूर्व के है[1], इसलिए चन्द्रगोमी तो निश्चय ही उनसे पर्याप्त प्राचीन हैं।[2]

इतनी भूमिका के अनन्तर घोषजी जो कहना चाहते हैं, उसे उनके ही शब्दों में पढ़िए—

This sutra work, as has been shown by Dr. Raghuvira (loc. cit) resembles the Varna-sutra of Candragomin, the Buddist grammarian, who flourished in about 500 A.D. Considering the great influence which Candragomin exercised on the grammarians of Panini's school (the Kasiks and the Vakyapadiya showing traces of such influence) it is quite possible that some late grammarian re-edited and amplified the Varna-sutras of Candragomin and fathered this upon panini, evidently for imparting to it a superior authority. Though there is no sufficient material to prove this, we are inclined to suggest that this late grammarian was Svami Dayananda himself, who among other things was a very close

१. इसी प्रकरण में हमने 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास', पृ० २६१ (प्रथम सं०) पर लिखा है कि अष्टाङ्ग–संग्रहकार वाग्भट्ट चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालिक है, उससे उत्तरवर्त्ती नहीं। पं० श्री गुरुपद हालदार ने वृद्धत्रयी के पृ० २८३, २९१ पर लिखा है कि 'युधिष्ठिर मीमांसक ने चन्द्रगुप्त द्वितीय को वाग्भट्ट–वर्णित शकनृपति माना है' यह ठीक नहीं। सम्भव है, श्री हालदार जी, हिन्दी भाषा का सम्यक् ज्ञान न होने के कारण, मेरे लेख का ठीक अभिप्राय न समझ सके हों।

२. देखें— मेरा 'संस्कृत व्याकरण–शास्त्र का इतिहास'—भर्तृहरि के लिए पृ० ५८–२६४ चन्द्रगोमी के लिए पृ० २४३–२४५। [यह प्रथम संस्करण की पृष्ठ संख्या है]।

student of Sanskrit Grammers as his Vedangaprakasa and the edition of Panini's Astadhyayi show. But whatever may be the actual fact about the authorship of the DPS., it is sure that the work is neither from the hands of Panini nor an old one. (Introduction, 48)

अर्थात् 'चन्द्रगोमी के पाणिनि–सम्प्रदाय पर भारी प्रभाव को देखते हुए (काशिका तथा वाक्यपदीय इस प्रभाव के संकेत रखते हैं) यह सम्भव है कि किसी परवर्त्ती वैयाकरण ने उन्हें श्रेष्ठ प्रमाण देने के लिए उन्हें पुनः सम्पादित तथा परिवर्द्धित किया और उन्हें पाणिनि के मत्थे मढ़ दिया, यद्यपि यह प्रमाणित करने के लिए पूरे प्रमाण नहीं हैं, फिर भी हमें लगता है कि स्वामी दयानन्द ही स्वयं वह परवर्त्ती वैयाकरण थे, जो अन्य बातों के साथ संस्कृत–व्याकरण के बड़े सूक्ष्म अध्येता थे, जैसा कि उनके वेदाङ्ग–प्रकाश तथा पाणिनीय अष्टाध्यायी के संस्करण से स्पष्ट है। दयानन्द–शिक्षा–सूत्र के बारे में वस्तुस्थिति कुछ भी हो, यह निश्चित है कि यह ग्रन्थ पाणिनि या किसी प्राचीन व्यक्ति का नहीं है।'

इतनी लम्बी–चौड़ी भूमिका बांधने के बाद घोषजी ने अपने मन के भाव को कुछ स्पष्ट करने का यत्न किया। इस लेख में घोष जी ने तीन स्थापनाएँ की हैं—

१. दयानन्द–प्रकाशित शिक्षा–सूत्र चन्द्रगोमी के वर्णसूत्रों का ही पुनः सम्पादित तथा परिवर्धित रूप है।

२. इस रूप को देनेवाले स्वयं स्वामी दयानन्द थे।

३. इतना निश्चित है कि यह ग्रन्थ पाणिनि अथवा किसी प्राचीन व्यक्ति का बनाया नहीं है।

अब हम घोषजी की इन तीनों स्थापनाओं की क्रमशः आलोचना करते हैं—

घोषजी ने पहले लिखा है कि द०शि०सूत्र के लेखक ने अपनी सामग्री अनेक स्रोतों से ली है और यहाँ इनका मुख्य आधार चान्द्र वर्णसूत्रों को लिखा है। यह वदतोव्याघात दोष है। हम पहले भी लिख चुके हैं कि यदि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इन शिक्षा–सूत्रों का संकलन महाभाष्य, काशिका, न्यास तथा पदमञ्जरी आदि ग्रन्थों के आधार पर किया होता तो यह ग्रन्थ जिस रूप में स्थान–स्थान पर त्रुटित और अन्त में खण्डित उपलब्ध होता है,

वैसा न होता। हम यहाँ कुछ विस्तार से तुलना करके उक्त कथन को पुष्ट करते हैं—

	द० पाणिनीय शिक्षा	**अन्यत्र उद्धृत शिक्षा–सूत्र**
(क)	**विवृतकरणाः स्वराः। संवृतस्त्वकारः।**	**विवृतकरणाः स्वराः। तेभ्य ए ओ विवृततरौ। ताभ्यामपि ऐ औ। ताभ्यामप्याकारः। संवृतस्त्वकारः। (न्यास, भाग १, पृष्ठ ८, पदमञ्जरी, भाग १, पृ० १८)**
(ख)	**वर्गाणां तृतीय.....घोषवन्तः। यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः।**	**वर्गाणां तृतीय.....घोषवन्तः। वर्ग्ययमानां तृतीया अन्तःस्थाश्चाल्पप्राणाः, इतरे सर्वे महाप्राणाः। यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः। (न्यास, भाग १, पृ० ७५; महाभाष्य १.१.१० में अंशतः)**
(ग)	**नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरित..... प्रयत्नेन विधीयते।**	**नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितः.......... प्रयत्नेन विधार्यते। सविधार्यमाणः स्थानमभि–हन्ति। ततः स्थानाभिघातात् ध्वनिरुत्पद्यते। स वर्णश्रुतिः। स वर्णस्यात्मलाभः। तत्र ध्वनावुत्पद्यमाने..........। (इसके आगे न्यास, भाग १, पृष्ठ ५६, ५७ पर २१ सूत्र और उद्धृत हैं)।**

इस तुलना से स्पष्ट है कि प्रथम स्थान में तीन सूत्र और द्वितीय स्थान में एक सूत्र खण्डित है। तृतीय स्थाल में **'प्रयत्नेन विधीयते (विधार्यते)'** से आगे न केवल प्रकृत सूत्र ही खण्डित है, अपितु उसके आगे लगभग २५ सूत्रात्मक ग्रन्थ त्रुटित हैं।

इस तुलना से यह भी स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस ग्रन्थ को न तो इधर–उधर के ग्रन्थों से संकलित ही किया और न उसने मूल उपलब्ध हस्तलेख के त्रुटित अंश को ही पूरा करने का प्रयत्न किया। उन्हें जैसा हस्तलेख प्राप्त हुआ उसे उसी रूप में हिन्दी–व्याख्या–सहित प्रकाशित कर दिया। यदि स्वामी दयानन्द इस ग्रन्थ के सूत्रों को इधर–उधर से संकलित करते अथवा अपने त्रुटित हस्तलेख की ही न्यासादि ग्रन्थों में उद्धृत सूत्रों

से पूर्त्ति करते तो यह ग्रन्थ इतना त्रुटित न रहता, विशेषकर इसका अष्टम प्रकरण।

यदि कहा जाय कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने चान्द्र वर्ण–सूत्रों का ही पुनः सम्पादन और परिवर्धन किया, तो यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि—

(क) चान्द्र वर्ण–सूत्र पाणिनीय शिक्षा–सूत्रों के समान आठ प्रकरणों में विभक्त नहीं है। उनमें केवल वे ही पाँच–प्रकरण हैं जिनका चान्द्र व्याकरण से साक्षात् सम्बन्ध है। पञ्चम, सप्तम और अष्टम प्रकरण उसमें नहीं हैं। आपिशल और पाणिनीय शिक्षा स्वतन्त्र विद्या–ग्रन्थ हैं, इसलिए इनमें वर्णोच्चारण–शिक्षा–सम्बन्धी उन नियमों का भी वर्णन है, जिनका उनके व्याकरण से साक्षात् सम्बन्ध नहीं है।

(ख) दयानन्द–प्रकाशित शिक्षा में अनेक ऐसे सूत्र हैं जो अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते और न उनके मतों का ही कहीं संकेत है।

(ग) दयानन्द–प्रकाशित शिक्षा–सूत्र का जो चार सूत्रात्मक (द० संस्करण में एक ही सूत्र माना है) पञ्चम प्रकरण है, उनका एक भी सूत्र अभी तक किसी ग्रन्थ में उद्धृत नहीं मिला।

(घ) चान्द्र वर्ण सूत्र के अन्तिम प्रकरण में **'एकमात्रिको ह्रस्वः, द्विमात्रिको दीर्घः, त्रिमात्रिको प्लुतः, उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः, समाहारः स्वरितः, स्वस्थानानुनासिका निरनुनासिकाश्च'** सूत्र पढ़े हैं। यदि स्वामी दयानन्द ने चान्द्र वर्ण–सूत्रों का ही सम्पादन तथा परिवर्धन किया होता, तो जैसे अन्य परिवर्तन–परिवर्धन यथाप्रकरण किये (घोषजी के मतानुसार) उसी प्रकार इन सूत्रों का अथवा इनके समानार्थक वचनों का निवेश भी इसी प्रकरण में किया जाता। परन्तु स्वामी दयानन्द–प्रकाशित शिक्षा में प्रथम तीन सूत्रों के स्थान में अष्टाध्यायी के **'ह्रस्वं लघु, संयोगे गुरु, दीर्घं च'** सूत्र और अगले तीन सूत्रों पर अष्टाध्यायी के पते लिखे हैं और इन सूत्रों को स्थान–प्रकरण से पूर्व स्वयम् उद्धृत वचनों के अन्तर्गत पढ़ा है, न कि पाणिनीय शिक्षा–सूत्रों के अन्तर्गत।[1] चान्द्र का अन्तिम सूत्र दयानन्द–प्रकाशित शिक्षा–सूत्रों में मिलता ही नहीं। इससे यह स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द–प्रकाशित शिक्षा–सूत्र चान्द्र वर्ण–सूत्रों का परिवर्धित संस्करण

१. दयानन्द–प्रकाशित शिक्षा में कौन–से वचन स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा अन्य ग्रन्थों से उद्धृत अथवा संकलित हैं और कौन से वचन पाणिनीय शिक्षा के हैं, इसकी विवेचना अनुपद की जायेगी। —ले०

नहीं है।

इसका उत्तर भी प्रथम स्थापना की समीक्षा के अन्तर्गत ही आ गया, अर्थात् यदि इन शिक्षा–सूत्रों का संकलन स्वामी दयानन्द सरस्वती ने किया होता तो यह ग्रन्थ जिस त्रुटित अवस्था में उपलब्ध होता है, वैसा न होता।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पाणिनीय शिक्षा के हस्तलेखस्थ सूत्रों की व्याख्या करते हुए शिक्षा–शास्त्र से सामान्य सम्बन्ध रखनेवाले अष्टाध्यायी, महाभाष्य आदि के अनेक वचनों की भी व्याख्या की है। ऐसे वचन प्रथम स्थान–प्रकरण से पूर्व भूमिकात्मक पाणिनीय शिक्षा–सूत्रों के साथ उपलब्ध होते हैं। स्वामी दयानन्द द्वारा उद्धृत वचनों और पाणिनि के मूल शिक्षा–सूत्रों में किसी को भ्रम न हो, इसके लिए स्वामी दयानन्द ने स्वप्रकाशित ग्रन्थ में दो संकेत किये थे—

(क) सम्पूर्ण व्याख्यात संस्कृत–वचनों (उद्धृत तथा मूलसूत्र) के आरम्भ में (बाई ओर) एक क्रमिक संख्या देकर अन्त में भी प्रति–प्रकरण एक क्रमिक संख्या दी है। यह अन्त की क्रमिक संख्या केवल पाणिनीय शिक्षा–सूत्रों पर ही दी गई है, अन्य ग्रन्थों से उद्धृत वचनों पर नहीं दी गई। यथा—

१—अक्षरं नक्षरं..... ॥ | **६—श्रोत्रोपलब्धि..... ॥**
२—वर्णज्ञानं..... ॥ | **७—त्रिषष्टिः ॥ ३ ॥**
३—आकाशवायु..... ॥ १ ॥ | **२०—अन्तोऽन्ये व्यञ्जन..... ॥**
४—आत्मा बुद्ध्या..... ॥ | **२१—स्थानमिदं..... ॥ ४ ॥**
५—तमक्षरं..... ॥ २ ॥ | **२२—अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः ॥ ५ ॥**

इनमें आदि की क्रम–संख्या ३, ५, ७, २१, २२ के पाठ के अन्त में जो १, २, ३, ४, ५ क्रमिक संख्या है, वह पाणिनीय शिक्षा–सूत्र के क्रम का बोध कराने के लिए है। प्रारम्भ की क्रमिक संख्या सभी व्याख्यात संस्कृत–पाठों पर है, चाहे वे उद्धृत वचन हों, चाहे मूल शिक्षा–सूत्र।

(ख) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने शिक्षा के मूल सूत्रों को बड़े (मोटे) टाइप में छपवाया था और ग्रन्थों से संगृहीत वचनों को मध्यम टाइप में तथा अपनी हिन्दी व्याख्या को बारीक टाइप में।[1]

१. द्र०—वर्णोच्चारण–शिक्षा का सं० १९३६ का प्रथम संस्करण।

इस बात का संकेत स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वर्णोच्चारण–शिक्षा की भूमिका में स्वयं किया है—

'इस ग्रन्थ में जो–जो बड़े अक्षरों में पाठ है, वह–वह पाणिनि मुनि–कृत (शिक्षा का) और मध्यम अक्षरों में अष्टाध्यायी और महाभाष्य का पाठ और जो–जो छोटे अक्षरों में छपा है वह मेरा बनाया हुआ है। ऐसा सर्वत्र समझना चाहिये।'[१]

पाणिनीय शिक्षा के मूल सूत्रों तथा अन्य ग्रन्थों से संगृहीत वचनों का भेद दिखाने के लिए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जो टाइप–भेद की व्यवस्था की थी वह मुद्रकों के अज्ञानवश उत्तर संस्करणों में स्थिर न रह सकी। अगले संस्करणों में मूल शिक्षा–सूत्र तथा अन्यत: संगृहीत वचन एक ही टाइप में छापे गये। इससे साधारण व्यक्तियों को भ्रम होना स्वाभाविक है। उत्तर संस्करणों के मुद्रक और प्रकाशक इतने असावधान रहे कि कतिपय संस्करणों में स्वामी दयानन्द की लिखी भूमिका भी उड़ गई। यथा सं० १७७० का दशम संस्करण। अत: स्वामी दयानन्द के द्वारा निर्धारित टाइप भेद को मिटाने और भूमिका को उड़ाने से होनेवाले भ्रम के दोषी परोपकारिणी सभा के कार्यकर्त्ता हैं, स्वामी दयानन्द सरस्वती नहीं। उन्होंने अपनी स्थिति सर्वथा स्पष्ट रखी थी।

इसका उत्तर हम विस्तारपूर्वक पहले लिख चुके हैं और सप्रमाण बता चुके हैं कि न केवल स्वामी दयानन्द सरस्वती से कई शती पूर्व के ग्रन्थकार इस सूत्रात्मक शिक्षा से परिचित थे, अपितु तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के सोमयार्य ने तो पाणिनि के नाम से इसका सूत्र भी उद्धृत किया है।

अत: यह निश्चित है कि सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा संकलित नहीं है। दयानन्द से सैंकड़ों वर्ष पूर्वभावी आचार्य इस शिक्षा से परिचित थे। इसलिए यह सूत्रात्मक शिक्षा न केवल दयानन्द से प्राचीन है, अपितु पाणिनीय भी है।

इस सारी विवेचना से स्पष्ट है कि प्रो० मनोमोहन घोषजी ने स्वामी दयानन्द सरस्वती पर इस सूत्रात्मक शिक्षा को संकलित करके पाणिनि के नाम से प्रसिद्ध करने का जो गम्भीर आरोप लगाया है, वह सर्वथा निराधार है।

अब हम घोषजी के पाणिनीय शिक्षा के सम्पादन–कार्य के सम्बन्ध में

१. भूमिका के अन्त में।

दो–चार बातें कह कर इस लेख को समाप्त करते हैं।

छोटी–सी श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा तथा उसकी दो व्याख्याओं के सम्पादन में घोषजी की कितनी ही अक्षम्य न्यूनताएँ हैं। उदाहरण के लिए, कतिपय न्यूनताएँ नीचे निर्दिष्ट हैं—

(१) पाणिनीय शिक्षा की पञ्जिका–व्याख्या में प्राचीन–शिक्षा के दो वचन उद्धृत हैं—

लृकारस्य दीर्घादयो न सन्ति इति स्मरणात्। (पृष्ठ ९, १२)

सन्ध्यक्षराणामपि ह्रस्वा न सन्ति इति स्मरणात्। (पृष्ठ ९)

इनमें से प्रथम वचन प्रकाश–व्याख्या में इस प्रकार उद्धृत है—

लृवर्णो न दीर्घ इति स्मरणात्। (पृष्ठ २५)

इन वचनों के साथ '**इति स्मरणात्**' पदों का निर्देश होने से स्पष्ट है कि व्याख्याकार न इन्हें किसी ग्रन्थविशेष से उद्धृत किया है। ये दोनों वचन सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा तथा आपिशल शिक्षा के षष्ठ प्रकरण में स्वल्प भेद से उपलब्ध होते हैं। घोषजी ने इन वचनों के आकर–स्थान का कुछ भी निर्देश नहीं किया। घोषजी को चाहिए था कि इन सूत्रों के आगे पाणिनीय शिक्षा का न सही (उनके मत में कल्पित होने से), आपिशल शिक्षा का तो तुलनार्थ संकेत करते, क्योंकि आपिशल शिक्षा उनके ग्रन्थ के प्रकाशित होने से कई वर्ष पूर्व मुद्रित हो चुकी थी। प्रतीत होता है, पाणिनीय शिक्षा का सम्पादन करते समय घोषजी को शिक्षा–शास्त्र से सम्बद्ध मुद्रित ग्रन्थों का ही पूरा परिचय नहीं था, अमुद्रित ग्रन्थों के अनुशीलन की तो उनसे आशा करना ही व्यर्थ है। इसीलिए, उक्त वचनों के आगे उन्होंने तुलनारूप में भी आपिशल शिक्षा–सूत्रों का निर्देश नहीं किया।

(२) घोषजी द्वारा सम्पादित शिक्षा की दोनों व्याख्याओं में **औदव्रजि** के नाम से कई शिक्षा–वचन उद्धृत हैं। ये वचन ऋक्तन्त्र–व्याकरणान्तर्गत शिक्षा–प्रकरण के हैं। घोषजी ने न तो इन सूत्रों के आकर–स्थान का निर्देश किया और न इन्हें अनुपलब्ध मूल ही लिखा।

(३) शिक्षा की पञ्जिका–व्याख्या में भाष्यकार के नाम से एक वचन उद्धृत है—

तथा च भाष्यकार:—य एव लौकिकास्त एव वैदिकास्त एव तेषामर्था इति। (पृष्ठ ८)

यही वचन प्रकाश–व्याख्या (पृष्ठ २४) में महाभाष्य के नाम से उद्धृत है।

घोषजी से यह आशा करना कि वे इस वचन के मूल स्थान शाबरभाष्य (१.३) का निर्देश करते, अनुचित है, क्योंकि उन्हें इस शास्त्र का बोध ही नहीं है। हाँ, यदि वे परिश्रम करते तो इतना तो अवश्य लिख सकते थे कि यह वचन पातञ्जल महाभाष्य में कहीं उपलब्ध नहीं होता। महाभाष्य की पदसूची तो उनके ग्रन्थ–प्रकाशन से बहुत वर्ष पूर्व छप चुकी थी।

(४) इसी प्रकार प्रकाश–व्याख्या के प्रारम्भ (पृष्ठ २४) में '**बृहद्देवतायां शौनकः**' लिखकर निम्नमुद्रित वचन उद्धृत है—

स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा विनियोगार्थमेव च।
मन्त्रं जिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे पदे॥

यह श्लोक शौनकीय बृहद्देवता की मुद्रित शाखा में उपलब्ध नहीं होता। घोषजी को चाहिए था कि वह फुटनोट में इस बात की सूचना देते, परन्तु उन्होंने इस पर कुछ नहीं लिखा।

(५) पाणिनीय शिक्षा की दोनों व्याख्याओं में '**शीर्ष्ण्य**' पद की सिद्धि के लिए '**शीर्षंश्छन्दसि**' (अष्टा० ६.१.६०) सूत्र से 'शीर्षन्' भाव का विधान किया है (पञ्जिका, पृष्ठ १३; प्रकाश, पृष्ठ २९)। यह सर्वथा अशुद्ध है। यहाँ '**ये च तद्धिते**' (अष्टा० ६.१.६१) सूत्र से शीर्षन् आदेश का विधान करना चाहिए। घोषजी ने दोनों व्याख्याकारों की इस भयङ्कर भूल की ओर भी कुछ निर्देश नहीं किया।

(६) घोषजी ने ग्रन्थ के अन्त में चान्द्र वर्ण–सूत्र भी छापे हैं। उनका पाठ अत्यन्त भ्रष्ट है। आश्चर्य की बात तो यह है कि घोषजी के ग्रन्थ से २० वर्ष पूर्व सन् १९१८ में डॉ० ब्रूनो लिविच ने चान्द्र व्याकरण के अन्त में चान्द्र वर्ण–सूत्र प्रकाशित किये थे। उनका पाठ अत्यन्त शुद्ध है। शुद्ध पाठ के २० वर्ष पूर्व प्रकाशित हो जाने पर भी घोषजी का अशुद्ध पाठ मुद्रण करना बताता है कि उन्हें डॉ० ब्रूनो के द्वारा प्रकाशित चान्द्र–सूत्र का ज्ञान ही नहीं था। किसी ग्रन्थ का सम्पादन करते हुए उसके २० वर्ष पूर्व प्रकाशित संस्करण से परिचित न होना सम्पादक का अक्षम्य प्रमाद है। इसका सीधा अभिप्राय यह है कि सम्पादक ने इस ग्रन्थ के सम्पादन में कुछ भी श्रम नहीं किया है।

आशा है, घोषजी पाणिनीय शिक्षा के द्वितीय संस्करण में पूर्व–लिखित सभी भूलों का परिमार्जन करेंगे और स्वामी दयानन्द–प्रकाशित शिक्षा–सूत्रों के विषय में उन्होंने जो भ्रम उत्पन्न किया है उसका स्वयं निराकरण करेंगे।

४. सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा के दो पाठ

[यह लेख हमारे द्वारा प्रकाशित शिक्षा–सूत्राणि की भूमिका का पाणिनीय शिक्षा से सम्बद्ध भाग है। इसे यहाँ इसलिये छापा जा रहा है कि पूर्व प्रकाशित 'मूल–पाणिनीय–शिक्षा' लेख इसके विना अधूरा रहता। —यु०मी०]

पाणिनीय शिक्षा के सम्प्रति दो प्रकार के पाठ मिलते हैं—एक सूत्रात्मक और दूसरा श्लोकात्मक। सूत्रात्मक और श्लोकात्मक पाठ के भी लघु और वृद्ध दो प्रकार के पाठ हैं।

आधुनिक पाणिनीय वैयाकरणों में पाणिनीय शिक्षा का श्लोकात्मक पाठ ही प्रसिद्ध है और वैदिक भी वेदाङ्ग अन्तर्गत श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा का ही पाठ करते हैं। श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा के लघुपाठ में ३५ श्लोक और वृद्धपाठ में ६० श्लोक हैं। लघुपाठ याजुष पाठ कहाता है और वृद्धपाठ ऋक्पाठ।

सूत्रात्मक शिक्षा के भी लघु और वृद्ध दो पाठ हैं। श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सं० १९३६ के मध्य में प्रयाग से पाणिनीय शिक्षासूत्रों का जो हस्तलेख प्राप्त किया था वह पाठ लघुपाठ है। स्वामी दयानन्द सरस्वती को प्राप्त शिक्षासूत्र का हस्तलेख अन्त में त्रुटित था। अतः उसमें अष्टम प्रकरण का प्रथम सूत्र भी अपूर्ण ही है। मध्य में भी कहीं–कहीं पर लेखक प्रमाद से कुछ सूत्र छूटे हुए प्रतीत होते हैं। पाणिनीय शिक्षासूत्रों का जो पूर्ण पाठ हम छाप रहे हैं वह वृद्धपाठ है। यह बात दोनों पाठों की तुलना से स्पष्ट हो जाती है।

मूलपाठ—पाणिनीय शिक्षा के श्लोकात्मक और सूत्रात्मक जो दो प्रकार के पाठ मिलते हैं; उनमें पाणिनि–प्रोक्त मूलपाठ कौन–सा है, इसका अति संक्षिप्त विवेचन किया जाता है।

श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा का प्रथम श्लोक है—

अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा।

इस वचन से स्पष्ट है कि श्लोकात्मिका शिक्षा मूलतः पाणिनि–प्रोक्त नहीं है। वह तो किसी अन्य व्यक्ति द्वारा पाणिनीय मत के अनुसार बनाई गई है। श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा के प्रकाशनाम्नी टीका के रचयिता के

मत में इसका प्रवक्ता पाणिनि का अनुज आचार्य पिङ्गल है।[१] इस प्रकार ग्रन्थ की अन्त:साक्ष्य और टीकाकार के साक्ष्य से सर्वथा स्पष्ट है कि श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा चाहे उसका लघु याजुष पाठ हो, चाहे वृद्ध आर्च पाठ, दोनों ही मूलत: पाणिनि प्रोक्त नहीं हैं। श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा का पाणिनि प्रोक्त मूल ग्रन्थ इनसे भिन्न है। हमारा मत है कि पाणिनीय श्लोकात्मिका शिक्षा का मूल पाणिनीय सूत्रात्मिका शिक्षा है।[२]

श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा के पठन–पाठन में अधिक प्रयुक्त होने के कारण सूत्रात्मक पाठ लुप्त हो गया, हस्तलेख भी अप्राप्य हो गए। श्लोकात्मिका शिक्षा मूलत: पाणिनि प्रोक्त नहीं है, इस तथ्य की ओर सबसे पूर्व इस युग में श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती का ध्यान गया। उन्होंने मूलभूत पाणिनीय शिक्षा की प्राप्ति के लिए महान् प्रयत्न किया। अन्तत: वि०सं० १९३६ के मध्य में प्रयाग के एक ब्राह्मण के गृह से पाणिनीय शिक्षासूत्र का एक हस्तलेख मिला। यद्यपि वह हस्तलेख भी अधूरा था, अन्त के एक या दो पत्र नष्ट हो चुके थे, पुनरपि स्वामी दयानन्द की यह उपलब्धि शिक्षाशास्त्र के क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण थी। उन्होंने उपलब्ध शिक्षासूत्रों को आर्यभाषा व्याख्या सहित सं० १९३६ के अन्त में वर्णोच्चारणशिक्षा के नाम से प्रकाशित किया।[३]

श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती को प्राप्त हुए शिक्षासूत्रों का दूसरा हस्तलेख चिरकाल तक विद्वानों को उपलब्ध नहीं हुआ। इस कारण स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्रों के पाणिनीयत्व में विद्वानों को शङ्का बनी ही रही। दैव योग से श्री डॉ० रघुवीर जी को अडियार (मद्रास) के पुस्तकालय से आपिशल शिक्षासूत्रों के दो हस्तलेख उपलब्ध हो गए। उन्होंने उनके साथ स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्रों की तुलना करके स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्रों के पाणिनीयत्व की स्थापना

१. ज्येष्ठभ्रातृभिर्विहितो व्याकरणेऽनुजस्तत्र भवान् पिङ्गलाचार्य:, तन्मतमनुभाव्य शिक्षां वक्तुं प्रतिजानीते—अथ शिक्षामिति।

२. आपिशल शिक्षा का भी एक श्लोकात्मक पाठ है। उसका आरम्भ का वचन है—अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि मतमापिशलेर्मुने:।
इस श्लोकात्मिका शिक्षा के १९ श्लोक उपलब्ध हुए थे। इन्हें भी डॉ० रघुवीर जी ने आपिशल शिक्षा–सूत्रों के पश्चात् छापा था।

३. इस विषय में जो अधिक जानना चाहें वे हमारे 'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' ग्रन्थ में देखें।

की। इस विषय में उन्होंने कुछ लेख लिखे।

इसके पश्चात् सन् १९३८ में कलकत्ता विश्वविद्यालय से मनोमोहन घोष एम०ए० सम्पादित 'पाणिनीय शिक्षा' नाम का एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इस की बृहद्भूमिका में मनोमोहन घोष ने सारा प्रयत्न इस बात की सिद्धि के लिए लगाया कि पाणिनीय शिक्षा का श्लोकात्मक पाठ ही पाणिनि द्वारा प्रोक्त है, स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित सूत्रपाठ पाणिनीय नहीं है। इस प्रसङ्ग में आपने डॉ० रघुवीर के लेख की अलोचना के साथ–साथ सूत्रात्मक पाठ को दयानन्द द्वारा कल्पित पाठ सिद्ध करने की भरपूर चेष्टा की।

मनोमोहन घोष के उक्त भूमिकास्थ लेख की विस्तृत आलोचना हमने मूल पाणिनीय शिक्षा इस शीर्षक से पटना की 'साहित्य' नाम्नी पत्रिका के जनवरी सन् १९५७, वर्ष ७, अंक ४ में प्रकाशित की। उसमें मनोमोहन घोष के सभी हेत्वाभासों का सप्रमाण निराकरण किया है और श्लोकात्मिका शिक्षा को पाणिनीय मानने पर अष्टाध्यायी के साथ जो विरोध होते हैं उनका उल्लेख करके सूत्रात्मक पाठ का पाणिनीयत्व सिद्ध किया है। जो पाठक इस विषय में रुचि रखते हैं, वे हमारा उक्त लेख पढ़ें।[१]

४.१ आपिशल और पाणिनीय शिक्षा

पाणिनीय शिक्षा के सूत्र आपिशल शिक्षा के सूत्रों के साथ बहुत साम्य रखते हैं। अत: आपिशल शिक्षासूत्रों की उपलब्धि पर यह विचार करना अत्यन्त आवश्यक हो गया कि स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्र पाणिनीय हैं अथवा आपिशल। दोनों के सूत्रपाठों की तुलना से इतना तो स्पष्ट है कि दोनों का पाठ प्राय: समान है, परन्तु जहाँ परस्पर वैषम्य है वह प्रवक्तृभेद के कारण है अथवा पाठान्तरमूलक है। यद्यपि कुछ वैषम्य पाठान्तरमूलक कहे जा सकते हैं, पुनरपि कुछ पाठ ऐसे अवश्य हैं जो प्रवक्तृभेद के कारण ही हैं। यथा—

आपिशलपाठ	**पाणिनीयपाठ**
ईषद्विवृतकरणा ऊष्माण:।	**ईषद्विवृतकरणा ऊष्माण:।**
विवृतकरणा: स्वरा:।	**विवृतकरणा वा।**
	विवृतकरणा: स्वरा:।

पाणिनीय पाठ में ऊष्म वर्णों का पक्षान्तर में विवृतकरण प्रयत्न कहा है, वह आपिशल पाठ में नहीं है। पाणिनीय अष्टाध्यायी में एक सूत्र है

१. यह लेख प्रकृत लेख से पूर्व छापा गया है।

नाञ्झलौ (१.१.१०)। इस सूत्र द्वारा **तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्** (१.१.९) सूत्र से प्राप्त अचों और हलों की (अ इ ऋ लृ की क्रमशः ह श ष स के साथ) सवर्ण संज्ञा का निषेध किया है। उक्त हलों और अचों की सवर्ण संज्ञा तभी हो सकती है जब स्वरों के और ऊष्मों के आभ्यन्तर प्रयत्न समान हों। दोनों के आभ्यन्तर प्रयत्न की समानता **विवृतकरणा वा** इस पाणिनीय सूत्र से ही सिद्ध है। आपिशल शिक्षा में उक्त सूत्र न होने से अज्झलों की सवर्ण संज्ञा ही प्राप्त नहीं होती।

इसके अतिरिक्त दोनों शिक्षा सूत्रों के निम्न पाठ भी द्रष्टव्य है—

आपिशलपाठ	**पाणिनीयपाठ**
ञमङणनाः स्वस्थाना—	**ङञणनमाः स्वस्थाननासिका–**
नासिकास्थानाः। (१.१९)	**स्थानाः**।(१.२१)
स्पर्शयमवर्णकारो.....। (५.१)	**स्पर्शयमवर्णकरो**.....।
अन्तस्थवर्णकारो.....। (५.२)	**अन्तस्थवर्णकरो**.....।
ऊष्मस्वरवर्णकारो.....। (५.३)	**ऊष्मस्वरवर्णकरो**.....।

इनमें से प्रथम उद्धरण में '**ञमङणनाः**' निर्देश उणादि **ञमन्ताड्डः** (१.११४) सूत्र में प्रयुक्त ञम् प्रत्याहार के अनुरूप **ञमङणनम्** प्रत्याहार–सूत्रानुसारी है। हमने अपने 'संस्कृत–व्याकरणशास्त्र के इतिहास' में सप्रमाण दर्शाया है कि पञ्चपादी उणादि आपिशल प्रोक्त है और उसमें प्रयुक्त 'ञम्' प्रत्याहार की दृष्टि से प्रत्याहार–सूत्र में निर्दिष्ट ञमङणन क्रम आपिशल द्वारा उपज्ञात है और यही क्रम उसके शिक्षासूत्र में भी है। पाणिनीय सूत्र में वर्गक्रम से पाठ है।

अगले उद्धरणों में कार और कर का भेद है।[1] पाणिनीय कर पाठ पाणिनि के **कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु** (३.२.३०) सूत्र के अनुसार है और कार पाठ में औत्सर्गिक अण् की कल्पना करनी पड़ती है।

इन भेदों के अतिरिक्त पाणिनीय शिक्षा में आपिशल शिक्षा की अपेक्षा निम्न सूत्र अधिक हैं—

कण्ठ्यान् आस्यमात्रान् इत्येके। १.७॥
दन्तमूलस्तु तवर्गः। १.११॥
विवृतकरणा वा। ३.८॥

१. पाणिनि के शिक्षासूत्र के वृद्धपाठ में 'कार' पाठ मिलता है।

तीन सूत्रों का आधिक्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित लघुपाठ से दर्शाया है। हम पूर्व कह चुके हैं कि उक्त हस्तलेख में मध्य–मध्य में लेखकप्रमाद से कुछ सूत्र नष्ट हुए हैं। इनके अतिरिक्त सप्तम प्रकरण में चार सूत्र ऐसे हैं जो आपिशलीय शिक्षा में नहीं है (हमारे द्वारा प्रकाशित पाणिनीय शिक्षा के वृद्ध पाठ में भी नहीं हैं)। वृद्धपाठ में तो ऊपर उद्धृत तीन सूत्रों के अतिरिक्त ७–८ सूत्र और ऐसे हैं जो आपिशल शिक्षा में नहीं हैं।

इस संक्षिप्त विवेचना से स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्र पाणिनीय ही है।

अब हम एक ऐसा प्रमाण भी उपस्थित करते हैं जिससे स्पष्ट हो जाएगा कि ये सूत्र प्राचीन ग्रन्थकारों द्वारा पाणिनि के नाम से स्मृत भी हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के 'त्रिभाष्यरत्न' नामक व्याख्या का रचयिता सोमयार्य लिखता है—**सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति इति पाणिनीयेऽपि**। मैसूर सं० पृष्ठ ४५०।

इस प्रमाण की उपस्थिति में पाणिनीय शिक्षासूत्रों के सम्बन्ध में कोई विवाद उठ ही नहीं सकता। अब हम उसके वृद्धपाठ के विषय में लिखते हैं।

४.२ पाणिनीय शिक्षासूत्र का वृद्धपाठ—पाणिनीय शिक्षा–सूत्रों का जो वृद्धपाठ हमने '**शिक्षा–सूत्राणि**' में प्रकाशित किया है, उसकी उपलब्धि की कथा भी विचित्र है। वह इस प्रकार है—

सन् १९३९ में 'दि इण्डियन रिसर्च इन्स्टीट्यूट' कलकत्ता से आपिशली शिक्षा के नाम से एक शिक्षा प्रकाशित हुई। पुस्तक के मुख पृष्ठ पर 'अध्यापक अमूल्यचरण विद्याभूषण कर्तृक सम्पादित और अनूदित' शब्द छपे हुए हैं। इसमें बंगला अनुवाद तो अवश्य है परन्तु सम्पादन के नाम पर किया जानेवाला कोई भी प्रयत्न इसमें नहीं है। हाँ, तीन स्थानों पर (?) इस प्रकार कोष्ठक में प्रश्नचिह्न अवश्य उपलब्ध होते हैं। अस्तु, हमारे लिए तो यह प्रयत्नाभाव भी वरदानरूप सिद्ध हुआ। उक्त ग्रन्थ को देखने से विदित होता है कि मुद्रित ग्रन्थ उपलब्ध हस्तलेख की अक्षरशः प्रतिलिपि मात्र है और वह लेखकप्रमाद से बहुत भ्रष्ट हो गया है, पाठ स्थान–स्थान पर खण्डित और आगे पीछे हो रहा है।

हमारी दृष्टि में यह ग्रन्थ सन् १९५३ में आया। इस पर 'आपिशली शिक्षा' नाम छपा होने से चिरकाल तक हमने इस पर ध्यान नहीं दिया। एक दिन विचार उत्पन्न हुआ कि इसको आपिशल शिक्षासूत्र से मिलाया जाय। तब हमने सन् १९४९ में स्वयं मुद्रापित आपिशल शिक्षासूत्रों से मिलान

करना आरम्भ किया। उस तुलना में **ङञणनमा नासिकास्थानाः** पाठ ने हमारा ध्यान विशेषरूप से आकृष्ट किया, क्योंकि यह वर्णानुक्रम पाणिनीय शिक्षासूत्र में है। आपिशल शिक्षा में **ञमङणनाः** पाठ है। इसके पश्चात् तृतीय प्रकरण के **विवृतकरणा वा** सूत्र ने यह बोध कराया कि सम्भव है यह शिक्षा पाणिनीय शिक्षा ही हो, आपिशल शिक्षा न हो। इस दृष्टि से सम्पूर्ण सूत्रों की तुलना स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्रों के साथ की, तब यह निश्चय हो गया कि जहाँ–जहाँ भी अमूल्यचरणविद्याभूषण द्वारा प्रकाशित शिक्षा का पाठ **आपिशल शिक्षा से भिन्न है वहाँ सर्वत्र स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्रों से मिलता है।** इस तुलना से इतना निश्चय हो गया कि यह पाठ पाणिनीय शिक्षा का ही है, आपिशल शिक्षा का नहीं।

इस पर विचार उत्पन्न हुआ कि श्री अमूल्यचरण जी ने इस ग्रन्थ के ऊपर 'आपिशली शिक्षा' शीर्षक किस आधार पर छापा। इसके लिए हमने उनकी भूमिका पढ़ी। उसमें उन्होंने इस हस्तलेख के सम्बन्ध में कहीं पर भी नहीं लिखा कि कोश के आदि वा अन्त में 'आपिशली शिक्षा' नाम का उल्लेख है। प्रतीत होता है अमूल्यचरण जी ने अष्टम प्रकरण के—

स एवमापिशलेः पञ्चदशभेदाख्या वर्णधर्मा भवन्ति॥ ८॥

सूत्र में आपिशलि नाम देखकर ही ग्रन्थ के आद्यन्त में आपिशली शिक्षा नाम जोड़ दिया।

अमूल्यचरण जी द्वारा प्रकाशित पाठ अत्यन्त भ्रष्ट है। केवल उसी के आधार पर उस ग्रन्थ का सम्पादन कठिन है। सम्भवतः इसी कारण अमूल्यचरण जी ने हस्तलेख के अनुरूप ही उसे यथातथरूप में छाप दिया। इससे यह भी प्रतीत होता है कि उन्हें डॉ० रघुवीर जी द्वारा प्रकाशित आपिशल शिक्षा और स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित पाणिनीय शिक्षा का ज्ञान नहीं था, अन्यथा वे उनकी सहायता से ग्रन्थ का सम्पादन कर सकते थे।

हमने उक्त दोनों शिक्षा सूत्रों के आधार पर तथा विविध ग्रन्थों में उद्धृत सूत्रों के साहाय्य से अमूल्य निधि का सम्पादन किया है। जब इस ग्रन्थ के पाठ का सम्पादन कर लिया, तब इस पाठ और स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित पाठ की तुलना से विदित हुआ कि हमारे द्वारा सम्पादित पाठ वृद्धपाठ है और स्वामी दयानन्द द्वारा प्रकाशित पाठ लघुपाठ है। अनेक प्राचीन ग्रन्थों के वृद्धपाठ और लघुपाठ उपलब्ध होते हैं। पाणिनि के सूत्रपाठ

धातुपाठ गणपाठ उणादिपाठ सभी के लघु और वृद्धपाठ हैं।[१] इसी प्रकार उसकी सूत्रात्मिका शिक्षा के भी वृद्ध लघु पाठ हों तो आश्चर्य ही क्या है। प्राचीन परम्परा के अनुसार वृद्ध और लघु दोनों प्रकार के पाठ एक ही आचार्य द्वारा विभिन्न प्रकार के प्रवचन[२] के कारण उत्पन्न हुए हैं।

अब हम पाणिनि शिक्षा के दोनों पाठों की कुछ तुलना उपस्थित करते हैं—

लघुपाठ	वृद्धपाठ
[वर्णास्] त्रिषष्टिः	**स्थानकरणप्रयत्नेभ्यो वर्णास्त्रिषष्टिः। ४॥**
	चतुःषष्टिरित्येके। ५॥
	[इति] संयुक्ता वर्णाः। १.२४॥
आभ्यन्तरस्तावत्	**स्वस्थान आभ्यन्तरस्तावत्। ३.४॥**
	तेभ्य ए ओ विवृततरौ। ३.९॥
	ताभ्यामै औ। ३.१०॥
	ताभ्यामाकारः॥ ३.११॥
	कादयो मावसानाः स्पर्शाः। ४.८॥
	यादयोऽन्तस्थाः॥ ४.९॥
अवर्णो ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च	**एवं व्याख्याने वृत्तिकाराः पठन्ति—**
त्रैस्वर्योपनयेन चानुनासिक्य-	**अष्टादशप्रभेदमवर्णकुलमिति।**
भेदाच्च संख्यातोष्टादशात्मकः।	**तत्कथमुक्तम्—ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च**
	त्रैस्वर्योपनयेन च। आनुनासिक्यभेदाच्च
	संख्यातोऽष्टादशात्मकः। ६.१२॥
	उत्साहः प्रयत्नः। ७.६॥
	स्पृष्टतादिर्वर्णगुणः। ७.७॥

इन उद्धरणों के विपरीत लघुपाठ में ऐसे पाठ भी है, जो वृद्धपाठ में लघुरूप में हैं अथवा नहीं हैं। यथा—

---

१. इन पाठों के विषय में हमारे 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' के तत्तत् प्रकरण देखिए।

२. प्राचीन आचार्य शास्त्रीय ग्रन्थ लिखा नहीं करते थे, अपितु पढ़ाया करते थे, अतः वे प्रोक्त कहाते थे।

लघुपाठ	वृद्धपाठ
द्वे द्वे वर्णे सन्ध्यक्षराणामारम्भके भवत इति।	**द्विवर्णानि सन्ध्यक्षराणि।**

सप्तम प्रकरण के निम्न २-५ सूत्र वृद्धपाठ में नहीं हैं—

तत्रैते कौशिकीयाः श्लोकाः—

सर्वान्तेऽयोगवाहत्वाद् विसर्गादिरिहाष्टकः।
अकार उच्चारणार्थो व्यञ्जनेष्वनुबध्यते॥
ᳵक ᳶपयोः कपकारौ च तद्वर्गीयाश्रयत्वतः।
पलक्क्नी चक्ख्नतुर्जग्ग्मिर्जग्घ्नुरित्यत्र यद् वपुः॥
नासिक्येनोक्तं कादीनां त इमे यमाः।
तेषामुकारः सस्थानवर्गीयलक्षकः॥

लघुपाठ में यह सर्वत्र आवश्यक नहीं कि उस पाठ में वृद्धपाठ की अपेक्षा लघुत्व ही हो। समूहावलम्बन से लघुत्व और वृद्धत्व देखा जाता है। लघुपाठ के सप्तम प्रकरण के जो सूत्र उद्धृत किए हैं, उनमें यह भी सम्भावना हो सकती है कि लघुपाठ के किसी हस्तलेख में ये श्लोक किसी पाठक ने ग्रन्थान्तर से ग्रन्थ के प्रान्त (हाशिये) पर लिखे हों और उत्तरकाल के प्रति-लिपि-कर्त्ता ने उन्हें छूटा हुआ पाठ मानकर मूल में सन्निविष्ट कर दिया हो।

५ यमानां स्वरूपम्, संख्या, लेखन-प्रकारश्च

वैदिकेषु पलक्क्नी, चक्ख्नतुः जग्ग्मिः, जग्घ्नुः इत्यादिषु अनुनासिके पञ्चमे वर्णे परतः सवर्गीयादुत्तरस्य मध्यस्थस्य नासिक्यत्वेनोच्चारितस्य वर्णस्य यमत्वं प्रसिद्धम्। तथा चोक्तं कौशिकशिक्षायाम्—

पलक्क्नी चक्ख्नतुर्जग्ग्मिर्जग्घ्नुरित्यत्र यद् वपुः।
नासिक्येनोक्तं कादीनां त इमे यमाः।
तेषामुकारः सस्थानवर्गीयलक्षकः॥[१] इति।

औदव्रजिराचार्योऽप्याह—**अनन्त्यान्त्यसंयोगे मध्ये यमः पूर्वगुणः** इति (ऋक्तन्त्रव्याकरण प्रपा० १)।

१. उद्धृतं वर्णोच्चारणशिक्षायाम् अजमेरमुद्रितायां सप्तमप्रकरणे। तत्र 'चखख्नतुः जघ्घ्नुः' इत्यपपाठौ। एवमेव 'त इमेऽयमाः' इत्येवम् अयमाः छेदोऽपि वैदिकमतविरुद्धो ज्ञेयः।

नारदीयशिक्षायां (२.२.८) यमलक्षणम्—

अनन्त्यश्च भवेत् पूर्वोऽन्त्यश्च परतो यदि।
तत्र मध्ये यमस्तिष्ठेत् सवर्णः पूर्ववर्णयोः॥ इति।

एवमेवान्यासु शिक्षासु यमस्वरूपत्वमुपलभ्यते। ऋक्प्रातिशाख्ये-(६.२९)-ऽप्युक्तम्—

स्पर्शा यमाननुनासिकाः स्वान् परेषु स्पर्शेष्वनुनासिकेषु इति।

व्याख्यातं चोव्वटेन—**अननुनासिकाः स्पर्शा स्वान् यमानापद्यन्तेऽनु-नासिकेषु स्पर्शेषु परेषु इति।**

तैत्तिरीयप्रातिशाख्ये (२१.१२) ऽपि—**स्पर्शादनुत्तमादुत्तमपरादानु-पूर्व्यान् नासिक्याः॥** इति।

शुक्लयजुःप्रातिशाख्येऽपि—**कुँ खुँ गुँ घुँ इति यमाः** (८.२४) इत्येवं यमा निर्दिष्टाः।

यमसंज्ञका वर्णा अनुनासिका इत्यापिशलिः पाणिनिश्चापि स्वकीय-लोकवेदसाधारण्योः शिक्षयोः प्रतिजानते। तथाहि—**अनुस्वारयमा नसिक्याः**[१]॥ इति॥

तत्र कति यमा इत्यत्र विवदन्ते व्याख्यातारः। चत्वारो यमा इत्येके संगिरन्ते, विंशतिर्यमा इत्यपरे। तथाहि—चत्वारो यमाः **कुँ खुँ गुँ घुँ** इति याज्ञवल्क्यशिक्षायाम् (२१२, काशीमुद्रिते शिक्षासंग्रहे) उच्यते।

उवटस्तु शुक्लयजुःप्रातिशाख्यस्य **कुँ खुँ गुँ घुँ इति यमाः** सूत्रस्य व्याख्याने सूत्रोक्तान् कुँ खुँ गुँ घुँ इत्येतानुपलक्षणं मन्यमानः **यमसंज्ञका वर्णा विंशतिसंख्याका** भवन्ति इत्येवं विंशतिसंख्याकान् यमान् आह।

याज्ञवल्क्यशिक्षायां चतुष्ट्वमुल्लिख्यापि यथोत्तरश्लोके तन्निदर्शनान्यु-क्तानि तथा विंशतिरेव यमास्तन्मतेऽपीति ज्ञायते। तथाहि तन्निदर्शकः श्लोकः—

रुक्क्मेति प्रथमो ज्ञेयः सक्त्थ्ना इत्यपरो भवेत्।
विद्द्मा ते तु तृतीयश्च जम्भे दद्ध्मश्चतुर्थकः॥[२] इति।

अस्मिन् श्लोके स्पष्टमेव **सक्त्थ्ना** पदे चतुर्थवर्गस्य द्वितीयो वर्णस्थकारः,

१. आपिशलशिक्षा १.१४॥ पाणिनीयशिक्षा १.१६॥ द्र०—अस्मत्सम्पादितानि शिक्षासूत्राणि (द्वि० संस्क०)।

२. मुद्रितपाठे पूर्वयोरुदाहरणयोर्मुद्रणे द्वित्त्वाभावरूपा या अशुद्धिः तां परिमृज्यात्र पाठो निर्दिष्टः।

विद्द्मा पदे चतुर्थवर्गस्य तृतीयो वर्णः, **दद्ध्मः** पदे तस्यैव वर्गस्य चतुर्थो वर्णो यमत्वेनोदाहृतः। एतेन ज्ञायते यत् पूर्वत्रोक्ते **(चत्वारो यमाः)** पाठे चतुष्ट्वसंख्या प्रथमवर्गस्थानामेव चतुर्णां वर्णानां द्योतिका नास्ति, अपितु प्रतिवर्गं प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थवर्णानां सस्थानत्वेन पिण्डीकृत्योक्ताः। तेन वर्गभेदेन विंशतिः सन्तोऽपि यमाः सस्थानत्वेन पिण्डीकृत्य चतुर्धा एव।

अत एव याज्ञवल्क्यशिक्षाया व्याख्यात्राऽमरनाथशास्त्रिणाऽप्युक्तम्— **चत्वार इति। उकारः सादृश्यार्थः** इति।

अयमेवार्थः पूर्वोद्धृतकौशिकशिक्षासूत्रेषु **तेषामुकारः सस्थानवर्गीय-लक्षकः** इत्येवं स्पष्टमुक्तः।

एतेन चत्वार एव यमा इति मतं प्रयुक्तं वेदितव्यम्।

अथेदानीं विचार्यते द्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमवर्गस्थानां यमानां निर्देशः लिप्यां कथं कर्तव्य इति। कुतः संदेह इति चेत्? माध्यन्दिनसंहिताया आधुनिकेषु मुद्रितग्रन्थेषु क्वचिल्लिखितग्रन्थेषु च **'पत्त्नी'** इत्येवमादिषु केषुचित् पदेषु **'पत्क्नी'** इत्येवं पाठदर्शनात्। आश्चर्यकरं त्वेतद् यत्तेष्वेव ग्रन्थेषु **आत्त्मा विद्द्मः दद्ध्मः गृब्भ्णामि** इत्यादिषु न प्रथमवर्गीयाः क ग घ वर्णा निर्दिश्यन्ते। एतेन ज्ञायते पत्त्न्यावहोरात्रे (३१.२२) मन्त्रे **पत्क्ना-वहोरात्रे** लेखनमाहोपुरुषिकामात्रम्। अमरनाथशास्त्रिणा याज्ञवल्क्यशिक्षा-व्याख्यायाष्टिप्पण्यां (पृष्ठ ११५ टि० ३) **'ननु तकारस्य द्विर्भावे द्वितीय-तकारस्यैव** (शु० य० प्रा० १.१६१) **यमत्वे ककारलेखनमसंगतमिति चेत् इत्येवमाशङ्क्य न, नासामूलेन करणेन यमोच्चारणे प्रवृत्तो यत्नः जिह्वामूलीयसदृशीं श्रुतिमुत्पादयेत् इति तथैव संभवाभिप्रायेण लेखनात्'** इत्येवं ककारलेखनस्य समुत्पत्तिर्दर्शिता, सा **गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः** इत्याभणकमनुसरति। अपि च वर्गीयप्रथमस्य यमस्य जिह्वामूलीयसदृशी ध्वनिरभिप्रेता, तर्हि वर्गीयतृतीयचतुर्थयोर्यमयोः कीदृशी ध्वनिरुत्पादनीयेति न तेन महानुभावेन स्पष्टीकृतम्। एतेन 'पत्क्नी' इत्येवं ककारलेखनं तादृशोच्चारणं च शास्त्रविरुद्धमिति स्पष्टम्।

६. ꣲ ꣳ चिह्नयोः स्वरूपं तदुच्चारणञ्च

वैदिकासु कासुचित् संहितासु ꣲ इत्येवं ꣳ इत्येवं वैकप्रकारकं चिह्नमुपलभ्यते। माध्यन्दिनसंहितायां तु ꣲ ꣳ इत्युभौ चिह्नौ स्थितिभेदेन व्यवस्थितावुपलभ्येते। ꣲ ꣳ इत्येतौ कस्य वर्णस्य द्विविधव्यवस्थितोच्चारणस्य

चिह्नाविति विचार्यते।

इमौ चिह्नौ सदा तत्रैवोपलभ्येते यत्र रशषसहेषु परतोऽनुस्वारस्य परसवर्णो न भवति। माध्यन्दिनसंहितायाम् अनुस्वारस्य रशषसहवर्णान् विहाय सर्वत्रैव नित्यं परसवर्णत्वं भवति। रशषसहानां सवर्णो सानुस्वारं वर्णान्तरं नास्ति इति वैयाकरणा वैदिकाश्च मन्वते। तेन रशषसहेषु परतोऽनुस्वारस्य परसवर्णत्वं न भवति, अनुस्वारः स्वेनैव रूपेणावतिष्ठते। माध्यन्दिना यथा यवयोर्गुरुलघुतर-भेदेन त्रिविधं विशिष्टमुच्चारणं विदधते, तथैवानुस्वारस्यापि ह्रस्वदीर्घभेदेन द्विविधं विशिष्टमुच्चारणं कुर्वते।

पुरा कालेऽनुस्वारस्य यवयोरिव त्रिविधमुच्चारणमभूदिति प्रातिशाख्य-परिशिष्टभूतात् प्रतिज्ञापरिशिष्टाज्ज्ञायते। तथाहि तत्सूत्रम्—

तस्य त्रैविध्यमाख्यातं ह्रस्वदीर्घगुरुभेदैः।
दीर्घात् परो ह्रस्वो ह्रस्वात् परो दीर्घो गुरौ परे गुरुः॥ ३.२॥

एषु प्राचीनाचार्यैरुक्तस्तृतीयो भेद इदानीं लुप्तः। तथा चोक्तमस्य सूत्रस्य व्याख्यानेऽनन्तभट्टेन—

वस्तुतस्तु गुरुदीर्घयोर्भेदो नास्ति तथाप्युपाधिभेदाद् भेदो मन्तव्यः। अस्ति चात्रोपाधिः—संज्ञाभेदो लिपिभेदश्च। तृतीयस्त्विदानीं प्रायशः परिभ्रष्टः, तथापि प्राचीनसंप्रदायानुरोधाज्ज्ञायते।

नायं वर्णविशेषः—यथा चास्माभिः पूर्वमुपपादितं तथा ꣲ ꣳ इत्येताभ्यां चिह्नाभ्यां निर्दिष्टं नानुस्वाराद् वर्णान्तरं किञ्चित्। अत एव प्रातिशाख्ये वर्णप्रकरणेऽस्य निर्देशो नोपलभ्यते। यदि चास्य वर्णान्तरत्वं स्वीक्रियेत तर्हि प्रातिशाख्येन विरोध उत्पद्यते। प्रातिशाख्ये **अं इत्यनुस्वारः** (८.२१) सूत्रेण अनुस्वारस्य सद्भावः सूचितः। माध्यन्दिनसंहितायाम् अनुस्वारस्य नित्यं परसवर्णत्वं भवतीत्युक्तं पुरस्तात्, अत एव क्वचिदपि वैदिकपाठे[१]ऽनुस्वारो नोपलभ्यते। सति चानुस्वाराभावे तथा प्रातिशाख्यप्रवक्त्रा माध्यन्दिन-पाठेऽदृश्यमाणानां वर्णान्तराणां **तस्मिन् ळहळोजिह्वामूलीयोपध्मानीय-नासिक्या[२] न सन्ति माध्यन्दिनानाम्, लृकारो दीर्घः प्लुतश्चोक्तवर्जम्**

१. माध्यन्दिनसंहिताया येषु मुद्रितग्रन्थेषु अनुस्वार उपलभ्यते ते सर्वे वैबरमुद्रित-ग्रन्थानुसारमेव मुद्रिताः सन्ति। न तादृशो वैदिकानां पाठः, अतस्तान् दृष्ट्वा न भ्रमितव्यम्।

२. नासिक्यः=अनुनासिकस्वरः। सत्यपि नासिक्यस्य निषेधे 'संस्कृत' इत्येवमादिषु क्वचिद् नासिक्यः स्वरः कथं दृश्यते इति विचारार्हम्।

(८.३५) इति सूत्रेण प्रतिषेध उक्तस्तथाऽनुस्वारस्यापि प्रतिषेधो व्यधास्यत्। न च तेनानुस्वारस्य प्रतिषेधो विहितः। तेन ज्ञायतेऽस्त्यनुस्वारस्य माध्यन्दिन–संहितायां सद्भावः। स च रशषसहपर एव सम्भवति यत्रानुस्वारस्य परसवर्णत्वं न प्राप्नोति। एतेन ज्ञायते यन्माध्यन्दिनसंहिताया ँ ꣳ इत्येवं भूतौ यौ द्वौ लिपिचिह्नावुपलभ्येते तावनुस्वारस्यैव द्विविधोच्चारणाय कल्पितौ, न वर्णान्तरस्य कस्यचिद् द्विविधस्य। एतेनान्यसंहितास्वपि यत्र ँ ꣳ इत्येवं वैकविधिमेव चिह्नमुपलभ्यते तदप्यनुस्वारस्यैव ज्ञेयः।

यत्तु प्रतिज्ञासूत्रे—**अथानुस्वारस्य ꣳ इत्यादेशः शषसहरेफेषु** इत्यत्रा–देशरूपेण निर्देशः कृतः, सोऽपि लिपिचिह्नरूपादेशपर एव व्याख्यातव्यः, न तु वर्णान्तरादेशरूपः। अन्यथा पूर्वमुक्तः प्रातिशाख्यविरोध आपद्येत।

अनुस्वारस्य लिपिचिह्नभेदे कारणम्—यदि ँ ꣳ चिह्नाभ्यां निर्दिष्टोऽनुस्वार एव तर्हि वर्णान्तरवल्लिपिभेदः कुत इति चेद्, उच्यते—माध्यन्दिनसंहितायाम् अनुस्वारस्य द्विविधोच्चारणस्य (प्राचीनमते त्रिविधस्य) विहितत्वाद् द्विविधोच्चारणभेदनिदर्शनाय लिप्यां द्विविधं चिह्नमावश्यकम्, तच्च द्विविधं चिह्नं यथानुस्वारचिह्नं वर्णोपरि निर्दिश्यते तथोपरि सुकरतया न संभवति, अतस्तस्य द्विविधं चिह्नं वर्णानन्तरं ँ ꣳ रूपेण निर्दिश्यते।

ँ ꣳ **निर्दिष्टयोरुच्चारणप्रकारः**—साम्प्रतिका वैदिका आभ्यां चिह्नाभ्यां निर्दिष्टस्यानुस्वारस्य **ग्वङ् गुङ्** इत्येवमुच्चारणं विदधति। एतादृश–मुच्चारणं प्रत्यक्षमेव दोषग्रस्तम्, नह्यर्धमात्रिकस्य वर्णस्य सार्धद्विमात्रिकं ग्वङ् द्विमात्रिकं गुङ् इत्येवं वोच्चारणं साधु शक्यते वक्तुम्।

याज्ञवल्क्यशिक्षाव्याख्यात्राऽमरनाथशास्त्रिणा ग्वङ् इत्येवमुच्चारणस्य स्पष्टमशास्त्रीयत्वमुक्तम्—**ये च 'गणपतिग्वङ्हवामहे' इत्येवमुच्चारयन्ति तेऽनधीतविद्याः प्रातिशाख्याद्यनभिज्ञाश्च।** पृष्ठ १०६।

ह्रस्वदीर्घसंज्ञयोरभिप्रायः—न च दीर्घात् परस्य ह्रस्वसंज्ञायाः ह्रस्वात् परस्य च दीर्घसंज्ञाया विधानात् मात्रिकद्विमात्रिककालिकेन भवितव्यम्। नह्यत्र ह्रस्वदीर्घशब्दौ अचां ह्रस्वदीर्घसंज्ञावत् द्विमात्रैकमात्राकालविधायकौ, अपितु द्विविधस्यानुस्वारस्योच्चारणे प्रयत्नस्य गुरुलघुभावस्यैव द्योतकौ।[1]

एतेन ँ ꣳ चिह्नाभ्यां संकेतितस्य द्विविधस्यानुस्वारस्य गुरुलघुप्रयत्ना–भ्यामेवोच्चारणं कर्तव्यम्, न तु ग्वङ् गुङ् इत्येवं रूपेण इति सम्यक्

१. अमरनाथशास्त्रिणाऽपि पूर्वोद्धृतप्रतिज्ञापरिशिष्टसूत्रस्य आदेशशब्द एवं व्याख्यातः—तत्रादेशश्च द्विमात्रिकाद्युपलक्षितवर्णविशेषोच्चारणस्वरूप एव।

व्यवस्थापितम्।

७. यकारषकारयोर्जकारखकारोच्चारणयोर्विवेचनम्

साम्प्रतिका माध्यन्दिना यथालक्षणं गुरुसंज्ञकस्य[1] यकारस्य जकारोच्चारणं षकारस्य टवर्गसंयोगं ककारादिसंयोगं च विहाय खकारोच्चारणं कुर्वन्ति। तद्विषये विचार्यते—किमनयोर्जकारखकारोच्चारणं शास्त्रसम्मतमुताशास्त्रीयम्। तत्र तावत् यथाक्रममनयोर्जकारखकारोच्चारणविधायकानि वचनानि प्रस्तूयन्ते संक्षेपेण—

जकारोच्चारणविधायकानि वचनानि याज्ञवल्क्यशिक्षायामेवं विधीयन्ते—

पादादौ च पदादौ च संयोगावग्रहेषु च।
जशब्द इति विज्ञेयो योऽन्यः स य इति स्मृतः॥ १५०॥

प्रातिशाखीय–प्रतिज्ञा–परिशिष्टेऽपि—

अथान्तस्थानामाद्यस्य पदादिस्थस्यान्यहलसंयुक्तस्य, संयुक्त–स्यापि रेफोष्मान्त्यामृकारेण चाविशेषेणादिमध्यावसानेषूच्चारणे जकारोच्चारणम्। २.१॥

एवमेव माध्यन्दिनशिक्षायां लघुमाध्यन्दिनशिक्षायां च विहितम्।

तत्र जकारोच्चारणं किम्मूलकमिति तावत् प्रस्तूयते—माध्यन्दिना यकार–वकारयोस्त्रैविध्यं प्रतिजानते गुरुलघुलघुतरभेदेन। तदुक्तं याज्ञवल्क्य–शिक्षायाम्—

वकारस्त्रिविधः प्रोक्तो गुरुर्लघुर्लघूतरः।
आदौ गुरुर्लघुर्मध्ये पदान्ते च लघूतरः॥
यवर्णस्त्रिविधः प्रोक्तो गुरुर्लघुर्लघूतरः।
.... ॥१५५–१६१॥

अत्र स्मृतयोर्गुरुसंज्ञकयोर्यकारवकारयोरुच्चारणं केन प्रयत्नेन भवतीति तावद् विवेचनीयम्। अन्तस्थानां वर्णानां शिक्षाकारैः **ईषत्स्पृष्टः** प्रयत्न ऐकमत्येन प्रतिपाद्यते। तेन यदा ईषत्स्पृष्टप्रयत्नजौ यकारवकारौ ईषत्स्पृष्टप्रयत्नात् किंचिदधिकेन प्रयत्नेनोच्चार्येते तदेमौ गुरू भवतः। एतच्च पदान्तयोर्यकारव–

१. क्व यकारो गुरुसंज्ञो भवतीत्यस्य निदर्शनं याज्ञवल्क्यशिक्षायां विस्तरेणोक्तम्। तदनुसृत्यास्माभिः सोदाहरणनिर्देशो माध्यन्दिनसंहितायाः पदपाठे यकारवकारयो–र्विशिष्टा लेखनपद्धतिः इत्यस्मिन् प्रकरणे (पृष्ठ ३५–३६) यथाशास्त्रं विहितस्तत्र द्रष्टव्यः।

कारयोर्विधायके **व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य** (अ० ८.३.१८) इति पाणिनीये सूत्रे प्रयत्नशब्दनिर्देशेन विज्ञातुं शक्यते। अयमेवार्थः **सुस्पृष्टं तं विजानीयात्** (१६१) इति याज्ञवल्क्यशिक्षावचनेनोच्यते। अत्र सुस्पृष्टमित्यस्य न स्पृष्टप्रयत्नेनोच्चारणे विवक्षा। तेन यथा पदान्तीयौ यकारवकारावीषत्प्रयत्नौ सन्तावपि लघुप्रयत्नेनोच्चार्येते, तथैव गुरुसंज्ञकौ यकारवकारावपि ईषत्प्रयत्नावेव गुरुप्रयत्नेनोच्चारणीयौ इत्याचार्याणामभिप्रायो ज्ञेयः। यथा पदान्तीयौ लघुतरौ यकारवकारौ लघुप्रयत्नेनाविस्पष्टरूपेणोच्चार्येते, तथैव गुरू यकारवकारौ गुरुप्रयत्नेन सुस्पष्टमुच्चारणीयौ। तेन गुरू यकारवकारौ सुस्पष्टौ, लघू यकारवकारौ स्पष्टौ लघुतरौ यकारवकारावीषत्स्पष्टावुच्चारणीयाविति भावो विस्पष्ट एव।

एतेन विवेचनेनेदं सुव्यक्तं भवति यथा लघुतरौ यकारवकारौ ईषत्स्पृष्ट-लघुतरप्रयत्नेनोच्चार्यमाणौ न वर्णान्तररूपेण विक्रियेते, तथैव ईषत्स्पृष्ट-गुरुप्रयत्नजावपि नोच्चारणे वर्णान्तरं भजेते इति। अत एव गुरुवकारो सर्वकोशेषु **व्व** इत्येवं लिख्यते, वकाररूपेणैव चोच्चार्यतेऽद्ययावत्। तथैव गुरुयकारस्यापि प्राचीनकाले **य्य** इत्येव प्रचार आसीत् (द्र०—अस्मदीयो १४७१ वैक्रमाब्दे लिखितः 'क' कोशः)। इयमेव च यकारद्वित्वलेखनपद्धतिरुत्तरकाले य इत्येवं लेखने मध्येबिन्दुनिर्देशने च परिवर्त्तिता।

उत्तरकाले यदा शास्त्रतात्पर्यानभिज्ञैरीषत्स्पृष्टप्रयत्नजस्य यकारस्य स्पृष्ट-प्रयत्नेनोच्चारणमारब्धं, तदाऽयं यकारः समानस्थानीये स्पृष्टप्रयत्नजे जकारे परिवर्तितः। यदाऽयं दोषो देशविशेषजेन करणदोषेण वैदिकपाठेऽप्युत्पन्नः। यथा बाङ्गाः स्वकरणदोषेणान्तस्थं वकारं बहोः कालात् बकाररूपेणैवोच्चरन्ति। तेषां बवयोः समोच्चारणदोषेण लेखनेऽपि दोषोऽयमुपलभ्यते। बाङ्गा महान्तो वैयाकरणा अप्यनेन दोषेण ग्रस्ता अन्तस्थवकारवता धातुना व्युत्पद्यमानान् शब्दान् बकारवता धातुना निष्पादयन्ति[1]। बाङ्गेषु यकारस्य जकारोच्चारणे-ऽप्ययमेव हेतुः।

वाजसनेयिसंहितायाः प्रवक्तुरपि मिथिलादेशे स्थितिरितिहासग्रन्थै-र्विज्ञायते। मैथिलेष्वपि बाङ्गानामिव बकारवकारयोर्जकारयकारयोः समानो-च्चारणदोष उपलभ्यते।

१. अत एव पुरुषोत्तमदेवो भाषावृत्तेरादौ जबगडदश् सूत्रे 'वश्' प्रत्याहारं निदर्श्य 'पुनर्बश्' इत्युक्तवान्। पुनः पदप्रयोगोऽत्र अन्तस्थपवर्गीययोः समानोच्चारणनि-मित्तज एव।

ईषत्स्पृष्टस्य स्पृष्टप्रयत्नेनोच्चारणं शिक्षाशास्त्रे परिगणितेषूच्चारणदोषेषु पीडनं ध्मातः निर्हतम् इत्यादिभिरभिधीयते। अनेनैव दोषेण यदाऽन्तस्थो यकारो दुष्टः सन् स्पृष्टप्रयत्नेनोच्चार्यते, तदा सस्थानीये स्पृष्टप्रयत्नजे जकारे विपरिणमते। यदा च स्पृष्टप्रयत्नजो जकारो लेशेन (शिथिलेन) अर्धकेन वा दोषेण ग्रस्तो भवति, तदा स समानस्थानीये ईषत्स्पृष्टप्रयत्नजे यकारे विपरिणमते। अतः एवापभ्रंशासु पालिप्राकृतादिभाषासु यमुनाया जमुनारूपे, जानाति इत्यस्य याणादि इत्येवं यकारजकारयोः परस्परं व्यापत्तिरुपलभ्यते।

यद्येव तर्हि जकारोच्चारणनिदर्शकवचनानां कोभिप्राय इति चेत्? उच्यते—न तेषां चवर्गीयजकारोच्चारणे तात्पर्यम्, अपितु तत्सदृशसुस्पष्टोच्चारण एव तात्पर्य व्याख्येयम्। अत एव प्रतिज्ञा-परिशिष्टव्याख्यात्रा स्पष्टमुक्तम्—**'अत एव सम्प्रदायविद एवंविधे यकारे स्पृष्टप्रयत्नज्ञापनाय मध्ये बिन्दुं प्रक्षिपन्ति। स्पृष्टप्रयत्नं स्थानैक्याच्चवर्गतृतीयसदृशं यकारं पठन्ति'।** २.२॥

अत्र सदृशशब्दप्रयोगात् सुस्पष्टं भवति, यत्स जकारपाठं न शास्त्रानुमतं मन्यते। अन्यथा स चवर्गतृतीयं जकारं पठन्ति इत्येवावक्ष्यत् सुस्पष्टतायै। एतेन याज्ञवल्कीयशिक्षाया 'जशब्दः' इत्यस्यापि 'जसदृशः' शब्द इत्येवाभिप्रायो व्याख्येयः। अयमेवाभिप्रायः उत्तरे १६१ तमे श्लोके सुस्पृष्टशब्दस्यापि ज्ञेयः। व्याख्यातं चामरनाथशास्त्रिणा—**सुस्पृष्टम्=कालविलम्बेन गुरुभूतम्।** (पृष्ठ १११)

इदं चात्रावधेयम्—अनन्तव्याख्यानं 'स्पृष्टप्रयत्नज्ञापनाय' इति यदुक्तं तन्न साधु। यतो हि लघुयकारो यथा लघुतरप्रयत्नेनोच्चार्यमाणो न स्वमीषत्स्पृष्ट-प्रयत्नं विजहाति, तथा गुरुयकारोऽपि न गुरुप्रयत्नेनोच्चार्यमाणः स्वमीषत्स्पृष्ट-प्रयत्नं विहाय स्पृष्टप्रयत्नं भजितुं समर्थः। एतेन याज्ञवल्क्यशिक्षायां **सुस्पृष्टं तं विजानीयात्** इत्यत्र सुस्पष्टस्थाने सुस्पृष्टपाठः प्रामादिक इति विज्ञायते। स्पृष्टप्रयत्नविवक्षायां—**स्पृष्टं च तं विजानीयात्** इत्येव वचनं साधीयः स्यात्। तदा सुस्पृष्टस्य सुस्पष्टमित्येवाभिप्रायो मन्तव्यः। अमरनाथशास्त्रिव्याख्याने **कालविलम्बेन गुरुभूतम्** इत्यत्र कालविलम्बेनेति वचनं प्रामादिकम्। नह्यत्र यकारवकारोच्चारणयोर्गुरुलघुलघुतरशब्दैः कालभेदो विवक्षितोऽपि तु प्रयत्नभेदः, एतच्च **व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य** (अ० ८.३.१८) इति पाणिनीये सूत्रे प्रयत्नपदनिक्षेपेण ज्ञायते, इत्युपपादितमस्माभिः प्राक्।

षकारस्य खकारोच्चारणम्—याज्ञवल्क्यशिक्षायां षकारस्य खकारो-

च्चारणविधायकं वचनं नोपलभ्यते। तथापि प्रतिज्ञापरिशिष्टे माध्यन्दिनलघु-माध्यन्दिनशिक्षयो: खकारोच्चारणविधि: श्रूयते। तथाहि—

अथो मूर्धन्योष्मणोऽसंयुक्तस्य टुमृते संयुक्तस्य च खकारोच्चारणम्। २.७॥[1]

अत्र लघुमाध्यन्दिनशिक्षायामयं विशेष उपलभ्यते—**षकारस्य खकार: स्याट्टुकयोगे तु नो भवेत्।**

अत्र कयोगे खकारोच्चारणनिषेधस्य ककारस्यादौ संयोगे तात्पर्यम्, न कान्त संयोगे। तेन '**क्ष**' इत्येवं संयोगे षकार एवोच्चार्यते, **शुष्क्याय** इत्यत्र च खकार:।

अत्रापि न षकारस्य खकारोच्चारणे तात्पर्यमपि तु खकारसदृशकण्ठ-मूर्धान्तरालस्थानेन (मूर्ध्न उपरितनभागेन) खकारवत् सुस्पष्टरूपेणोच्चारणे तात्पर्यम्। अत एवानन्तभट्टोऽप्यस्य सूत्रस्य व्याख्यान आह—'**षटौ मूर्धनीति सूत्रात् षकारो मूर्धन्य: स्थानकरणपरित्यागेनार्धस्पृष्टषकारस्थाने कवर्गीयप्रतिरूपकं खकारोच्चारणं कर्तव्यम्।**

अत्र प्रतिरूपकशब्द: स्पष्टमेव द्योतयति यन्न षकारस्य खकारोच्चारणे तात्पर्यम्, अन्यथा **कवर्गीयखकारोच्चारणं कर्तव्यम्** इत्येवावक्ष्यत्। अनन्तस्य षकारस्यार्धस्पृष्टप्रयत्नलेखनं शिक्षान्तरानुरोधेन स्यात्।

वकारस्य बकारोच्चारणम्—केचन वैदिका गुरुवकारस्य बकारोच्चारणं विदधति। तादृशोच्चारणस्य क्वचिदप्यविधानाद् बकारोच्चारणं दोष एव ज्ञेय:।

एतेन शास्त्रतात्पर्यपर्यालोचनेन स्पष्टं प्रतीयते—यद् यकारस्य जकारोच्चारणं षकारस्य खकारोच्चारणं च न केवलं शिक्षाशास्त्रविरुद्धमपि तु माध्यन्दिनसम्मतयोर्याज्ञवल्क्यशिक्षाप्रतिज्ञापरिशिष्टयोरपि तत्तात्पर्याज्ञानमूलकमेव।

वाणी की महिमा

प्रवदासि वल्गु (अथर्व० २.३.१८)

रम्य वाणी बोल।

१. मुद्रिते ग्रन्थे सूत्रसंख्या १२ निर्दिश्यते, स मुद्रणप्रमादो ज्ञेय:, पूर्वत्र ६ संख्या दर्शनात्।

परिशिष्ट –६

पारिभाषिक शब्द

(Technicals Terms)

अक्षर—Syllable
अघोष—Viceless, surd
अनुदात्त—Grave
अनुनासिक—Nasal
अनुप्रदान—Emitted material
अनुस्वार—Pure nasal
अन्तस्थ—Semi vowels
अल्पप्राण—Unaspirates
अस्पृष्ट—Non-Contact
ईषत्स्पृष्ट—Slight Contact
ईषद्विवृत्—Slight opening
उदात्त—Acute
उपध्मानीय—The aspirate Visarga before the letters प् and फ्
ऊष्म—Sibilant, Breath Sounds
ओष्ठ्य—Labials
कण्ठ्य—Gutturals
करण—Instrument of orticulation
करण—Mode of articulation (आभ्यन्तर प्रयत्न)
कवर्ग—Gutturals
घोष, घोषवत्—Voiced, sonant
चवर्ग—Palatals
जिह्वामूलीय—Sounds produced at the root of the tongue
टवर्ग—Cerebrals
तवर्ग—Dentals
तालव्य—Palatals
दन्तमूलीय—Sounds produced at the root of teeth
दन्तोष्ठ्य—Labiodentals
दन्त्य—Dentals
दीर्घ—Long
नाद—Voice
नासिक्य—Nasals
पवर्ग—Labials
प्लुत—Prolated
बर्स्व्य—Sounds produced at the socket of the teeth
महाप्राण—Aspirates
मात्रा—Mara
मूर्धन्य—Cerebrals

यम—Twin
वर्ग—Class
वर्णमाला, वर्णसमाम्नाय—Alphabet
वर्त्स्य (बर्स्व्य)—Alveolar
विवार—Expansion of the throat in the orticulation of latters.
विवृत—Complete opening
विसर्जनीय, विसर्ग—Representing a distinct hard aspiration and marked by two perpendicular dots (:)
व्यञ्जन—Consonants
श्वास—Breath
संवार—Contraction of the throat in the pronunciation of letters, obtuse articulation.
संघर्षी—Fricatives
सघोष—द्र० घोष, घोषवत्
सन्ध्यक्षर—Diphthongs
स्थान—Places of articulation
स्पर्श—Contact Consonants, stopped, Mute
स्पृष्ट—Complete Contact
स्वर—Vowels (अ, आ आदि)
स्वर—Accent (उदात्तादि)
स्वरित—Circumflex
ह्रस्व—Shart

वाणी की महिमा

वाचा वदामि मधुमत् (अथर्व० १.३४.३)
वाणी से मधुर भाषण करूँ।

••●••

यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि (अथर्व० १२.१.५८)
जो कुछ बोलूँ मीठा बोलूँ।

••●••

ऊर्जा मधुमती वाक् (अथर्व० १६.२.१)
मेरी वाणी बलवती और मिठासभरी हो।

••●••

मधुमतीं वाचमुदेयम् (अथर्व० १६.२.२)
मीठी वाणी बोलूँ।

••●••

वाचं वदत भद्रया (अथर्व० ३.३०.३)
भद्र वाणी बोलो।

परिशिष्ट –७

पारिभाषिक शब्दों का वर्णानुक्रम

वाणी की महिमा

चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् (ऋ० १०.१२५.३)
वाग्देवी ज्ञानयुक्ता है और पूज्यों में सर्वश्रेष्ठ है।

••●••

अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते (वाक्यपदीय १.११४)
सम्पूर्ण ज्ञान शब्द से ही होता है, अर्थात् विना शब्द के कोई ज्ञान नहीं होता।

परिशिष्ट –८

प्रश्नावली—प्रथम

(लघुप्रश्न)

१. वेदाङ्ग किसे कहते हैं ? और वे कितने हैं ? उनका नाम लिखें। (९)[१]
२. शिक्षा किसे कहते हैं ? (१८, २५२)
३. लिपि किसे कहते हैं ? (१६.१)
४. संस्कृत के सम्पूर्ण वर्ण कितने हैं ? (१६, ८८–८९)
५. वर्ण किसे कहते हैं ? और उनके निर्देश करने का विधान क्या है ? (१७)
६. व्यक्तध्वनि एवं अव्यक्तध्वनि किसे कहते हैं ? (१७.१)
७. 'समाम्नाय' शब्द का अर्थ क्या है ? (१८)
८. निम्न लिखित शब्दों का निर्वचनपुरस्सर विवरण लिखें—
स्थान (१८–१९), करण (१९), अन्तस्थ (२४), अनुस्वार (२७–२८), अक्षर (२९), स्वरित (३८), संवृत (४३), संवार (४४), अनुप्रदान (४५), घोष (४५), नाद (४५), विसर्जनीय (२५), मात्रा (३२), अनुनासिक (२३)
९. करण कितने हैं और वे कौन–कौन से हैं, लिखें ? (१९)
१०. आभ्यन्तरप्रयत्न के अर्थ में 'करण' शब्द कहाँ–कहाँ प्रयुक्त हुआ ? (१९, १२५)
११. उदात्तादि धर्म स्वरों पर ही आश्रित क्यों रहते हैं, व्यञ्जनों पर क्यों नहीं ? (२१)
१२. व्यञ्जन स्वरों का अनुगमन किस रूप में करते हैं ? (२१)
१३. दो स्वरों के मध्य में स्थित व्यञ्जन किस स्वर का अनुगमन करेगा ? पूर्व स्वर का या पर स्वर का ? (२१)
१४. वर्ग का निर्देश कैसे किया जाता है ? (२२)

१. यह वह पृष्ठ संख्या है, जहाँ इन प्रश्नों का समाधान है। जहाँ समाधान टिप्पणियों में है, वहाँ पृष्ठ संख्या के साथ टिप्पणी की संख्या भी दी गई है। जैसे प्रश्न ६ पर (१७.१) का एवं प्रश्न १५ पर (२२.३) का निर्देश किया गया है।

१५. 'कवर्गः' इस का विग्रह क्या होगा ? (२२.३)
१६. 'संघर्षी' नाम किन वर्णों का है ? (२४)
१७. अर्धविसर्ग या अर्धविसर्जनीय किसे कहते हैं ? (२६.२)
१८. अनुस्वार के कितने भेद हैं और उनका स्वरूप क्या है ? सोदाहरण लिखें। (२८)
१९. यम एवं अयोगवाहों के अपर नाम लिखें ? (२९)
२०. 'क्षरणमन्याङ्गतया चलनम्' की सप्रसङ्ग व्याख्या करें। (३०)
२१. केवल व्यञ्जनों की 'अक्षर' संज्ञा है वा नहीं ? नहीं तो क्यों ? (३०)
२२. मुक्ताक्षर एवं बद्धाक्षर किसे कहते हैं ? (२९.३,४)
२३. 'सन्ध्यक्षर' शब्द में विद्यमान 'अक्षर' शब्द का क्या अर्थ है ? (३०.४)
२४. 'समानाक्षर' संज्ञा किन वर्णों की है ? (३०.४)
२५. 'सन्ध्यक्षर' के अन्य नाम क्या हैं ? (३१)
२६. 'ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः' (अष्टा० १.२.२७) इस सूत्र में कालज्ञापन के लिये आचार्य पाणिनि ने 'ऊकालः' ही क्यों कहा है ? 'आकालः', 'ईकालः' क्यों नहीं कहा ? (३४)
२७. 'दीर्घ' संज्ञा का लक्षण क्या है ? (३५)
२८. वर्णों के परिमापक कालांशों में सब से छोटी इकाई की संज्ञा क्या है और उसकी मात्रा कितनी है ? (३६)
२९. निम्न मात्राओं (कालांशों) की संज्ञायें बतावें (३६)—
१/४, १/२, ३/४, ७/८, २१/२
३०. 'प्लुत' तीन मात्रा का ही होता है या उससे अधिक मात्रा का भी ? यदि अधिक मात्रा का भी होता है तो कितनी मात्रा का होता ? सप्रमाण लिखें। (३६)
३१. 'उच्चैरुदात्तः', 'नीचैरनुदात्तः' सूत्रस्थ 'उच्चैः', 'नीचैः' शब्दों का यथाव्याख्यान विवरण लिखें ? (३७, ३८, २२९–२३०)
३२. 'आयामो दारुण्यम्०', 'अन्ववसर्गो मार्दवम्०' वचनों की व्याख्या करें। (३७, ३८)
३३. 'आयामः' शब्द का अर्थ 'उवट' ने क्या किया है ? (३७.३)
३४. 'स्वरितकर' प्रयत्न कौन–कौन से हैं ? (३९)
३५. 'आक्षिप्तः स्वरितः' वचन की सप्रसङ्ग व्याख्या करें। (३९–४०)
३६. स्वरितोच्चारण में कितने काल तक उदात्त का तथा अनुदात्त का उच्चारण

करना चाहिये ? सोदाहरण लिखें। (४०)
३७. 'विवृत्ति' किसे कहते हैं ? (४०)
३८. 'अवग्रह' नाम किस का है ? (४१)
३९. 'संवृत-संवार', 'विवृत-विवार' इनमें क्या भेद है ? (४३-४४)
४०. 'अनुप्रदान' यह संज्ञा किनकी है ? (४५, १६६)
४१. घोष के पर्याय शब्द लिखें। (४६)
४२. शिक्षासूत्रों में 'अनुस्वार' (२८), अयोगवाह (२९), वर्ण (१८), स्थान (१९) इन संज्ञाओं का प्रयोग कहाँ-कहाँ किया गया है ?
४३. वर्णों को कौन बोल सकता है ? (४७)
४४. वर्णों का प्रयोग कैसे करें ? (४७)
४५. पदों का उच्चारण कैसे करें ? (४८)
४६. पाठकों के गुण कितने हैं और वे कौन-कौन हैं ? (४८)
४७. 'अविकृष्टान्' सूत्र की व्याख्या सोदाहरण लिखें। (५३)
४८. श्, ष्, स् इन वर्णों के उच्चारणदोष से अर्थपरिवर्तन कैसे होता है सोदाहरण लिखें। (५६-५७)
४९. शब्द की उत्पत्ति कैसे होती है ? (६०)
५०. स्वरतन्त्रियों की घोषाघोषावस्था का वर्णन करें। (६५)
५१. काकल्य स्पर्श वर्ण कब, कैसे उच्चरित होते हैं ? (७४)
५२. काकल के कितने नाम हैं और कौन-कौन से हैं ? (७४)
५३. उपालिजिह्वा किसे कहते हैं ? (७५)
५४. 'मानस्वर' किसे कहते हैं ? सप्रयोजन लिखें (७९)
५५. 'शब्द और अर्थ' इन दोनों में कारण कौन है और कार्य कौन है ? (८५)
५६. 'तमक्षरं ब्रह्म परं पवित्रं०' यहाँ शब्द को 'ब्रह्म' एवं 'परं पवित्रम्' क्यों कहा गया है ? (८८)
५७. वर्णों की भिन्नता का कारण क्या है ? (८८-८९, १८१)
५८. 'तत्र स्थानं तावत्' सूत्र में 'तावत्' का क्या अर्थ है ? सोदाहरण लिखें। (९१)
५९. 'जिह्वामूलीयो जिह्व्यः' सूत्र पाणिनि का सैद्धान्तिक सूत्र है, इसे सप्रमाण सिद्ध करें। (९५)
६०. 'आस्यम्' किसे कहते हैं ? (९६, ९७)

६१. 'लुतुलसा दन्त्याः' यहाँ 'दन्त्याः' का क्या अर्थ है ? सहेतु लिखें। (१०४)
६२. 'सक्किणी' किसे कहते हैं ? (१०७)
६३. सन्ध्यक्षरों के स्थान का विवेचन करें। (११०)
६४. सन्ध्यक्षरों एवं यमों का करण बतावें। (११९-१२०)
६५. 'शेषाः स्वस्थानकरणाः' सूत्र में 'शेषाः' से किन-किन वर्णों का ग्रहण होता है ? (११९)
६६. आभ्यन्तरप्रयत्न के पर्यायवाची शब्द लिखें। (१२३)
६७. आभ्यन्तर एवं बाह्य यत्न किसे कहते हैं ? (१२३, १३५, १६४)
६८. यत्न एवं प्रयत्न शब्दों का विवेचन करें (१२४)
६९. 'काकलक' नाम किस का ? (१२३.२)
७०. अन्तःप्रयत्न कितने हैं ? वे कौन-कौन से हैं ? (१२५)
७१. 'ईषत्स्पृष्टकरणाः' का सविवरण अर्थ लिखें ? (१२५-१२६)
७२. 'विवृतकरणाः स्वराः' में 'स्वराः' से किन-किन स्वरों का ग्रहण होता है ? (१२७-१२८)
७३. 'ए-ऐ', 'ओ-औ' इन वर्णों की परस्पर सवर्णसंज्ञा क्यों नहीं होती ? (१२८)
७४. अयोगवाहों का अन्तःयत्न लिखें। (१२८)
७५. बाह्ययत्न कितने हैं और उनका नाम लिखें ? (१३०)
७६. 'विवृतकण्ठाः', 'संवृतकण्ठाः' इनका सविवरण अर्थ लिखें। (१३१-१३३)
७७. 'आनुनासिक्यमेषामधिको गुणः' सूत्र में 'आनुनासिक्यम्' शब्द का कौन सा अर्थ उचित है ? सहेतु लिखें। (१३५)
७८. 'आसन्नं सन्देहे' वाक्य की सप्रसंग व्याख्या करें। (१४०)
७९. स्थानपीडनप्रकरण अन्तःप्रयत्नविषयक है, इसका सप्रमाण प्रतिपादन करें। (१४०) (अथवा)
'उक्ताः स्थानकरणप्रयत्नाः' सूत्र पाणिनीय लघुपाठ में पञ्चम प्रकरण के अन्त में उपलब्ध होता है। स्थानप्रपीडनप्रकरण में इस सूत्रपाठ का औचित्य सप्रमाण निरूपित करें। (१४०)
८०. अशक्तिजानुकरण किसे कहते हैं ? सोदाहरण लिखें। (१४६-१४७)
८१. 'यदृच्छाशब्देऽशक्तिजानुकरणे·····क्लृपक इति' सूत्र में अशक्तिज-

क्लृपकशब्द को छोड़कर अशक्तिज–अनुकरण (क्लृपक) शब्द का ग्रहण क्यों किया गया है ? सहेतु समाधान प्रस्तुत करें। (१४७)

८२. सामवेद की सम्प्रति कितनी शाखाएँ उपलब्ध होती हैं ? उनका नाम लिखें। (१४८)
८३. चरण एवं शाखा किसे कहते हैं और इनमें क्या भेद है ? (१४९.२)
८४. वर्ण से विहित कार–प्रत्यय 'कपकारौ' में वर्ण समुदाय से कैसे हो गया है ? (१५३.२)
८५. 'प्रयत्न' की निरुक्ति बताकर उसकी प्रकृष्टता ज्ञापित करें। (१२४, १५७–१५८)
८६. 'प्रयतनं प्रयत्नः' 'उत्साहः प्रयत्नः' इन दोनों निर्वचनों के भेद को सप्रमाण लिखें। (१५७–१५८)
८७. सम्पूर्ण वर्णधर्म कितने हैं ? उनका नाम लिखें ? (१७०)
८८. सम्पूर्ण स्थान कितने हैं ? और वे कौन–कौन से हैं ? (१७१)
८९. काल के बाह्ययत्नत्व का सहेतु विवरण लिखें। (१७२)
९०. 'वर्ण' शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ क्या है ?? (१८१)
९१. स्वर एवं व्यञ्जनरूप विभाजन के कारण क्या–क्या हैं ? (१८३)
९२. व्याकरणशास्त्र में वर्णों का उपदेश कितने प्रकार से किया गया है ? (१९४)
९३. अयोगवाह कितने हैं ? और वे कौन–कौन हैं ? (१९६–१९७)
९४. यम किसे कहते हैं ? (१९७)
९५. ऋक्प्रातिशाख्यकार का यमविषयक लक्षण लिखें। (२८, १९७)
९६. यमों को किसके सदृश लिखा जाता है ? (२००)
९७. 'अशरीर' का तात्पर्य क्या है ? (१९९)
९८. यम वर्णों से कार प्रत्यय क्यों नहीं होता है ? (२०१)
९९. यम की उत्पत्ति कहाँ–कहाँ नहीं होती है ? सप्रमाण लिखें। (२०५, २०६)
१००. यमों की लेखन–विधि क्या है ? (२०५)
१०१. 'यमः प्रकृत्यैव सदृक्' सूत्र से यमों का वर्णान्तरत्व ज्ञापित करें। (२०८)
१०२. यम के परे रहते द्वित्व के निषेध से क्या–क्या ज्ञापित होता है ? (२१६)
१०३. यमोच्चारण में आभ्यान्तरयत्न क्यों नहीं होते ? (१२९, २२२–२२३)
१०४. निरुक्तकार यास्क के उदात्त और अनुदात्त विषयक लक्षण लिखें (२२८)
१०५. उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित के पर्यायववाची शब्दों को लिखें (२२८)
१०६. "आयामो नाम वायुनिमित्तमूर्ध्वगमनं गात्राणाम्" यहाँ 'गात्र' शब्द का क्या अर्थ है ? सहेतु लिखें (२३३)
१०७. "उच्चैःकराणि शब्दस्य" यहाँ पर 'शब्दस्य' का क्या अर्थ है ? (२३४)
१०८. उदात्तादि स्वरों को हस्तसञ्चालन द्वारा प्रदर्शित करने की विधि लिखें (२३७)
२०९. हस्तसञ्चालन द्वारा उदात्तादियों का प्रदर्शन क्यों किया जाता है ? (२३५–२३८)
२१०. "सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्" इस वचन में 'इदं शास्त्रम्' शब्दों से ग्राह्य अर्थ क्या है ? (२४४)
२११. "हृद्देशेनोच्चार्यमाणोऽजनुदात्तः" आदि लक्षण पाणिनीय परम्परा में मान्य क्यों नहीं हो सकते ? (२४६)

प्रश्नावली—द्वितीय

(दीर्घप्रश्न)

१. व्याकरण और निरुक्त में क्या भेद है ? (१०)
२. शिक्षाशास्त्र का परिचय और महत्त्व लिखें। (१२–१५, १५०–१५७)
३. स्वरित के कितने भेद हैं ? उनका नाम और सोदाहरण विवरण लिखें। (४०–४३)
४. 'ग्रस्तं निरस्तं०' इस पूरे श्लोक की विस्तृत व्याख्या करें। (५०)
५. 'कम्प' या 'विकम्पित' किसे कहते हैं ? उसके निर्देशन की विधि क्या है ? और कम्प (कम्पित, विकम्पित) दोष क्या होता है ? इसका विस्तृत विवेचन सोदाहरण लिखें। (५३–५५)
६. अलिजिह्वा की प्रमुख तीन अवस्थाओं का वर्णन करें। (७५–७६)
७. 'स्वर–सीमा' किसे कहते हैं ? इसके चार विभागों का नामोल्लेख के साथ विवरण लिखें। (७८–७९)
८. परापश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणियों का स्वरूप लिखें ? (८४)
९. 'अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः' के सूत्रभाष्य में प्रतिपादित विसर्जनीय

का स्थानत्व एवं स्वाश्रयस्थान भागित्व का निरूपण यथाभाष्य करें। (९२–९३)

१०. ‘अकुहविसर्जनीया:०’ ‘हविसर्जनीयावुरस्या०’ सूत्रों में ‘ह’ से किस प्रकार के हवर्ण का ग्रहण है ? सहेतु लिखें। (९२, ९४)

११. जिह्व्य वा जिह्वामूल शब्दों का अर्थ तत्त्वालोकदृष्ट्या निरूपण करें। (९४–९६, ११६, ११७, ११९)

१२. ‘वकारो दन्तोष्ठ्य:’ सूत्रस्थ ‘दन्तोष्ठ्य:’ शब्द की व्याख्या यथाग्रन्थ करें। (अथवा)
‘वकारो दन्तोष्ठ्य:’ यहाँ स्थान प्रकरण में करण ओष्ठ के उल्लेख का औचित्य प्रतिपादित करें। (१०५–१०७)

१३. स्थानप्रकरणस्थ पाणिनीय सैद्धान्तिक सभी सूत्र सार्थ लिखें।

१४. ‘यदृच्छा’ शब्दार्थ का समास के साथ यथाव्याख्यान विवरण लिखें। (१४५–१४७)

१५. कौशिकीय श्लोकों को लिखकर, उनका यथाभाष्य अर्थ लिखें। (१५३–१५५)

१६. आभ्यन्तर एवं बाह्ययत्नों में कौन प्राग्भावी हैं और कौन पश्चाद्भावी हैं ? प्रमाणपुरस्सर विवेचना करें। (अथवा)
स एवेदानीं प्राणो नाम.....मूर्ध्नि प्रतिहते निवृत्तो भवति०; तत्र पूर्वं स्पृष्टतादयश्चत्वार:, पश्चान्मूर्धनि प्रतिहते निवृत्ते प्राणाख्ये वायौ० इत्यादि वचनों में प्रयुक्त मूर्धा, निवृत्त और पूर्व, पश्चाद् शब्दों का प्रसंगानुकूल अर्थ सप्रमाण प्रतिपादित करें। (१६२–१६५)

१७. एक ही नाद से भिन्न–भिन्न ध्वनियाँ वा वर्ण कैसे उत्पन्न होते हैं ?
अथवा
वर्णभेद के मूलभूत सिद्धान्त क्या हैं ? सप्रमाण लिखें (१८०–१८२)

१८. स्थान, करण, अन्त:यत्न, बाह्ययत्न और काल के भेदों से किये गये वर्णविभाजन का वर्णन करें (१८३–१८६)

१९. काल वर्णों का भेदक है, इसे प्रमाण एवं युक्तियों से सिद्ध करें (१८८–१९२)

२०. सानुनासिकत्व, संवृतत्व एवं उदात्तादि गुण वर्णों के भेदक क्यों नहीं हो सकते ? सहेतु लिखें (१८९–१९१)

२१. अयोगवाह किसे कहते हैं ? इसकी द्विविध निरुक्ति बताकर दोनों का

समन्वय करें। (१९४–१९६)

२२. यम–स्वरूप का विवेचन करें। (अथवा)
यमों को कुँ, खुँ आदि के रूप में लिखा जाता है, पर यम कादि नहीं हैं, अपितु तद्भिन्न शुद्ध नासिक्यध्वनि मात्र है, इसकी युक्तियुक्त उपपत्ति करें। (१९९–२०४)

२३. यम–संख्या विषयक संशय के मूलकारण क्या हैं ? उनका सप्रमाण विस्तृत समाधान प्रस्तुत करें ? (२०६–२११)

२४. यमों का वर्णान्तरत्व प्रमाणों एवं युक्तियों से सिद्ध करें। (२१४–२१८)

२५. यमों की उपयोगिता का वर्णन करें। (२२४–२२५)

२६. ‘‘उच्चैरुदात्त:, नीचैरनुदात्त:’’ ये लक्षण गुणबोधक हैं या गुणीबोधक ? सहेतु लिखें और विवेचनपूर्वक इन सूत्रों का निष्कृष्ट अर्थ लिखें (२२९–२३१)

२७. ‘‘उच्चैरुदात्त:’’ एवं ‘‘तत्र यदा सर्वाङ्गानुसारी प्रयत्नस्तीव्रो भवति... तमुदात्तमाचक्षते’’ इन उभयविध लक्षणों का समन्वयन (विरोधाभास का समाधान) करें (२३१–२३२)

२८. ‘‘क: पुन: प्रक्रम: ? उर: कण्ठ: शिर इति’’ महाभाष्य के इस वचन का प्रसंगपूर्वक शिक्षातत्त्वालोकभाष्यानुसार शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करें। (२३४–२३८)

२९. महाभाष्य में वर्णित ‘प्रक्रम’ शब्द की व्याख्या ‘‘वर्णस्वरूपसम्पत्तये नाभ्युत्थितो वायु: प्रथमं यदाहत्य, यत्र वाऽऽत्मानं निपात्य पुन: क्रममाणो वर्णान् जनयति स प्रक्रम:। स त्रिविध:, उर: कण्ठ: शिर इति’’ के रूप में क्यों नहीं हो सकती ? प्रमाण एवं युक्तियों से सिद्ध करें (२३८–२४७)।

३०. निम्न वर्णों का स्थान, करण एवं उभयविध प्रयत्न बतावें, अन्त:प्रयत्नों के साथ स्थानप्रपीडन–प्रयत्न का भी उल्लेख करें—
अ, ओ, ऐ, ख्, ञ्, न्, र्, व्, स्, ह्, अ:, कुँ

३१. निम्न सूत्रों का यथाभाष्य व्याख्यान करें—
१. लृतुलसा दन्त्या:। (१०४)
२. कण्ठनासिक्यमनुस्वारमेके। (१०९)
३. ए ऐ कण्ठतालव्यौ। (१०९–११०)
४. ङञणनमा: स्वस्थाननासिकास्थाना:। (१११)

५. ईषत्स्पृष्टकरणा अन्तस्थाः। (१२५–१२६)

६. सस्थानेन द्वितीयाः। (१३६–१३८)

७. अन्तस्था द्विप्रभेदाः रेफवर्जिताः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च। (१५०)

८. तत्र यदा स्थानाभिघातजध्वनौ नादोऽनुप्रदीयते तदा नादध्वनिसंसर्गाद् घोषो जायते। (१६६)

❑❑❑

परिशिष्ट –९

संस्कृतवर्णानां वर्गीकरणप्रस्तारः

		संज्ञाः	स्वराः				व्यञ्जनानि											
							स्पर्शाः					अन्तस्थाः	ऊष्माणः		अयोगवाहाः			
		बाह्यप्रयत्नाः	उदात्तः/अनुदात्तः/स्वरितः				विवारः श्वासः अघोषः		संवारः नादः घोषः		संवार नादः घोषः	संवारः नादः घोषः	विवारः श्वासः अघोषः	संवारः नादः घोषः	विवारः श्वासः अघोषः		संवारः नादः घोषः	
			ह्रस्वः		दीर्घः	प्लुतः	अल्पप्राणः	महाप्राणः	अल्पप्राणः	महाप्राणः	अल्पप्राणः	अल्पप्राणः	महाप्राणः	महाप्राणः	अल्पप्राणः	महाप्राणः	अल्पप्राणः	महाप्राणः
		अन्तःप्रयत्नाः	संवृतः	विवृतः	विवृतः	विवृतः	स्पृष्टः					ईषत्स्पृष्टः	ईषद्विवृतः	ईषद्विवृतः				
बाह्यकरणम्	अन्तःकरणम्	स्थानम्																
उरः, कण्ठः	जिह्वामूलम्	कण्ठः	अ		आ	आ३	क	ख	ग	घ	ङ			ह		अः		
	जिह्वामध्यः	तालु		इ	ई	ई३	च	छ	ज	झ	ञ	य	श					
	जिह्वोपाग्रः/ जिह्वाग्राधः	मूर्धा		ऋ	ॠ	ऋ३	ट	ठ	ड	ढ	ण	र	ष					
	जिह्वाग्र	दन्ताः		लृ	—	लृ३	त	थ	द	ध	न	ल	स					
	अधरोष्ठः	उत्तरोष्ठः		उ	ऊ	ऊ ३	प	फ	ब	भ	म					ᳶप		
	जिह्वामध्यः	कण्ठतालु		—	ए,ऐ	ए३,ऐ३												
	अधरोष्ठः	कण्ठोष्ठम्		—	ओ,औ	ओ३,औ३												
	नासामूलम	नासिका													कुँ	खुँ	गुँ	घुँ, अं, हुँ
	अधरोष्ठः	दन्तः (दन्तोष्ठः)										व						
	जिह्वामूलम्	जिह्वामूलम् (कण्ठः)														ᳵक		
			२२				२५					४	४		९			
															सर्वेषां वर्णानां संख्या = ६४			

संस्कृतवर्णानां स्थानप्रयत्नप्रस्तारः

वर्णाः	स्थानम्	अन्तःप्रयत्नः	ब्राह्यप्रयत्नः	स्थाननाम्		विशेषनाम					
अ	कण्ठः	ईषद्विवृतः	ह्रस्वदीर्घप्लुतोदात्तानुदात्तस्वरिताः	कण्ठ्यः						अचः, स्वराः, जीवाक्षराणि	
इ	तालुः	ईषद्विवृतः	ह्रस्वदीर्घप्लुतोदात्तानुदात्तस्वरिताः	तालव्यः							
उ	उत्तरोष्ठः	ईषद्विवृतः	ह्रस्वदीर्घप्लुतोदात्तानुदात्तस्वरिताः	ओष्ठ्यः							
ऋ	मूर्धा	ईषद्विवृतः	ह्रस्वदीर्घप्लुतोदात्तानुदात्तस्वरिताः	मूर्धन्यः							
लृ	दन्ताः	ईषद्विवृतः	ह्रस्वप्लुतोदात्तानुदात्तस्वरिताः	दन्त्यः							
ए	कण्ठतालु	ईषद्विवृतः	दीर्घप्लुतोदात्तानुदात्तस्वरिताः	कण्ठतालव्यः							
ऐ	कण्ठतालु	ईषद्विवृतः	दीर्घप्लुतोदात्तानुदात्तस्वरिताः	कण्ठतालव्यः							
ओ	कण्ठोष्ठम्	ईषद्विवृतः	दीर्घप्लुतोदात्तानुदात्तस्वरिताः	कण्ठोष्ठ्यः							
औ	कण्ठोष्ठम्	ईषद्विवृतः	दीर्घप्लुतोदात्तानुदात्तस्वरिताः	कण्ठोष्ठ्यः							
क	कण्ठः	स्पृष्टप्रयत्नः	विवारश्वासाघोषाल्पप्राणाः	कण्ठ्यः	कवर्ग्यः		कवर्गः	स्पर्शा वर्ग्याश्च	योगवाहाः	निर्जीवाक्षराणि	वर्णाः, अक्षराणि
ख	कण्ठः	स्पृष्टप्रयत्नः	विवारश्वासाघोषमहाप्राणाः	कण्ठ्यः	कवर्ग्यः						
ग	कण्ठः	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषाल्पप्राणाः	कण्ठ्यः	कवर्ग्यः						
घ	कण्ठः	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषमहाप्राणाः	कण्ठ्यः	कवर्ग्यः						
ङ	कण्ठनासिकम्	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषाल्यप्राणाः	कण्ठनासिक्यः	कवर्ग्यः	अनुनासिकः					
च	तालु	स्पृष्टप्रयत्नः	विवारश्वासाघोषाल्प्राणाः	तालव्यः	चवर्ग्यः		चवर्गः				
छ	तालु	स्पृष्टप्रयत्नः	विवारश्वासाघोषमहाप्राणाः	तालव्यः	चवर्ग्यः						
ज	तालु	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषाल्प्राणाः	तालव्यः	चवर्ग्यः						
झ	तालु	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषमहाप्राणाः	तालव्यः	चवर्ग्यः						
ञ	तालु	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषाल्प्राणाः	तालुनासिक्यः	चवर्ग्यः	अनुनासिकः					
ट	मूर्धा	स्पृष्टप्रयत्नः	विवारश्वासाघोषाल्पप्राणाः	मूर्धन्यः	टवर्ग्यः		टवर्गः				
ठ	मूर्धा	स्पृष्टप्रयत्नः	विवारश्वासाघोषमहाप्राणाः	मूर्धन्यः	टवर्ग्यः						
ड	मूर्धा	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषाल्पप्राणाः	मूर्धन्यः	टवर्ग्यः						
ढ	मूर्धा	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषमहाप्राणाः	मूर्धन्यः	टवर्ग्यः						
ण	मूर्धनासिकम्	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषाल्पप्राणाः	मूर्धनासिक्यः	टवर्ग्यः	अनुनासिकः					
त	दन्ताः	स्पृष्टप्रयत्नः	विवारश्वासाघोषाल्प्राणाः	दन्त्यः	तवर्ग्यः		तवर्गः				
थ	दन्ताः	स्पृष्टप्रयत्नः	विवारश्वासाघोषमहाप्राणाः	दन्त्यः	तवर्ग्यः						
द	दन्ताः	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषाल्प्राणाः	दन्त्यः	तवर्ग्यः						
ध	दन्ताः	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषमहाप्राणाः	दन्त्यः	तवर्ग्यः						
न	दन्तनासिकम्	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषाल्प्राणाः	दन्तनासिक्यः	तवर्ग्यः	अनुनासिकः					

प	उत्तरोष्ठः	स्पृष्टप्रयत्नः	विवारश्वासाघोषाल्प्राणाः	ओष्ठ्यः	पवर्ग्यः		पवर्गः	अवर्ग्याः		हलः, व्यञ्जनानि,	अलः,
फ	उत्तरोष्ठः	स्पृष्टप्रयत्नः	विवारश्वासाघोषमहाप्राणाः	ओष्ठ्यः	पवर्ग्यः						
ब	उत्तरोष्ठः	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषाल्पप्राणाः	ओष्ठ्यः	पवर्ग्यः						
भ	उत्तरोष्ठः	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषमहाप्राणाः	ओष्ठ्यः	पवर्ग्यः						
म	उत्तरोष्ठनासिकम्	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषाल्पप्राणाः	ओष्ठ्नासिक्यः	पवर्ग्यः	अनुनासिकः					
य	तालुः	ईषत्स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषाल्पप्राणाः	तालव्यः			अन्तस्थाः				
र	मूर्धा	ईषत्स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषाल्पप्राणाः	मूर्धन्यः							
ल	दन्ताः	ईषत्स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषाल्पप्राणाः	दन्त्यः							
व	दन्ताः	ईषत्स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषाल्पप्राणाः	दन्त्यः							
श	तालु	विवृतप्रयत्नः	विवारश्वासाघोषमहाप्राणाः	तालव्यः			ऊष्माणः				
ष	दन्ताः	विवृतप्रयत्नः	विवारश्वासाघोषमहाप्राणाः	मूर्धन्यः							
स	दन्ताः	विवृतप्रयत्नः	विवारश्वासाघोषमहाप्राणाः	दन्त्यः							
ह	कण्ठः	विवृतप्रयत्नः	विवारश्वासाघोषमहाप्राणाः	कण्ठ्यः							
अः	कण्ठः	अस्पृष्टं स्थितम्	विवारश्वासाघोषमहाप्राणाः	कण्ठ्यः					अयोगवाहाः		
˘क	जिह्वामूलम्	अस्पृष्टं स्थितम्	विवारश्वासाघोषमहाप्राणाः	जिह्वामूलीयः							
˘प	उत्तरोष्ठः	अस्पृष्टं स्थितम्	विवारश्वासाघोषमहाप्राणाः	ओष्ठ्यः							
अं	नासिका	अस्पृष्टं स्थितम्	संवारनादघोषमहाप्राणाः	नासिक्यः							
हुँ	नासिका		संवारनादघोषमहाप्राणाः	नासिक्यः							
कुँ	नासिका		विवारश्वासाघोषमहाप्राणाः	नासिक्यः							
खुँ	नासिका		विवारश्वासाघोषमहाप्राणाः	नासिक्यः							
गुँ	नासिका		संवारनादघोषाल्पप्राणाः	नासिक्यः							
घुँ	नासिका		संवारनादघोषमहाप्राणाः	नासिक्यः							

परिशिष्ट –१० संस्कृतवर्णानां स्थानप्रयत्नप्रस्तारः

वर्णाः	स्थानम्	अन्तःप्रयत्नः	बाह्यप्रयत्नः	स्थाननाम	विशेषनाम						
अ	कण्ठः	संवृतः	ह्रस्वदीर्घप्लुतोदात्तानुदात्तस्वरिताः	कण्ठ्यः							
इ	तालु	विवृतः	ह्रस्वदीर्घप्लुतोदात्तानुदात्तस्वरिताः	तालव्यः							
उ	उत्तरोष्ठः	विवृतः	ह्रस्वदीर्घप्लुतोदात्तानुदात्तस्वरिताः	ओष्ठ्यः							
ऋ	मूर्धा	विवृतः	ह्रस्वदीर्घप्लुतोदात्तानुदात्तस्वरिताः	मूर्धन्यः							
लृ	दन्ताः	विवृतः	ह्रस्वप्लुतोदात्तानुदात्तस्वरिताः	दन्त्यः						अचः, स्वराः, जीवाक्षराणि	
ए	कण्ठतालु	विवृतः	दीर्घप्लुतोदात्तानुदात्तस्वरिताः	कण्ठतालव्यः							
ऐ	कण्ठतालु	विवृतः	दीर्घप्लुतोदात्तानुदात्तस्वरिताः	कण्ठतालव्यः							
ओ	कण्ठोष्ठम्	विवृतः	दीर्घप्लुतोदात्तानुदात्तस्वरिताः	कण्ठोष्ठ्यः							
औ	कण्ठोष्ठम्	विवृतः	दीर्घप्लुतोदात्तानुदात्तस्वरिताः	कण्ठोष्ठ्यः							
क	कण्ठः	स्पृष्टप्रयत्नः	विवारश्वासाघोषाल्पप्राणाः	कण्ठ्यः	कवर्ग्यः						
ख	कण्ठः	स्पृष्टप्रयत्नः	विवारश्वासाघोषमहाप्राणाः	कण्ठ्यः	कवर्ग्यः						
ग	कण्ठः	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषाल्पप्राणाः	कण्ठ्यः	कवर्ग्यः		कवर्गः				
घ	कण्ठः	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषमहाप्राणाः	कण्ठ्यः	कवर्ग्यः						
ङ	कण्ठनासिकम्	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषाल्पप्राणाः	कण्ठनासिक्यः	कवर्ग्यः	अनुनासिकः					
च	तालु	स्पृष्टप्रयत्नः	विवारश्वासाघोषाल्पप्राणाः	तालव्यः	चवर्ग्यः						
छ	तालु	स्पृष्टप्रयत्नः	विवारश्वासाघोषमहाप्राणाः	तालव्यः	चवर्ग्यः						
ज	तालु	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषाल्पप्राणाः	तालव्यः	चवर्ग्यः		चवर्गः				
झ	तालु	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषमहाप्राणाः	तालव्यः	चवर्ग्यः						
ञ	तालुनासिकम्	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषाल्पप्राणाः	तालुनासिक्यः	चवर्ग्यः	अनुनासिकः					
ट	मूर्धा	स्पृष्टप्रयत्नः	विवारश्वासाघोषाल्पप्राणाः	मूर्धन्यः	टवर्ग्यः						
ठ	मूर्धा	स्पृष्टप्रयत्नः	विवारश्वासाघोषमहाप्राणाः	मूर्धन्यः	टवर्ग्यः						
ड	मूर्धा	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषाल्पप्राणाः	मूर्धन्यः	टवर्ग्यः		टवर्गः	स्पर्शाः	योगवाहाः		
ढ	मूर्धा	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषमहाप्राणाः	मूर्धन्यः	टवर्ग्यः						
ण	मूर्धनासिकम्	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषाल्पप्राणाः	मूर्धनासिक्यः	टवर्ग्यः	अनुनासिकः					
त	दन्ताः	स्पृष्टप्रयत्नः	विवारश्वासाघोषाल्पप्राणाः	दन्त्यः	तवर्ग्यः						
थ	दन्ताः	स्पृष्टप्रयत्नः	विवारश्वासाघोषमहाप्राणाः	दन्त्यः	तवर्ग्यः						
द	दन्ताः	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषाल्पप्राणाः	दन्त्यः	तवर्ग्यः		तवर्गः				
ध	दन्ताः	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषमहाप्राणाः	दन्त्यः	तवर्ग्यः						
न	दन्तनासिकम्	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषाल्पप्राणाः	दन्तनासिक्यः	तवर्ग्यः	अनुनासिकः					
प	उत्तरोष्ठः	स्पृष्टप्रयत्नः	विवारश्वासाघोषाल्पप्राणाः	ओष्ठ्यः	पवर्ग्यः					हलः, व्यञ्जनानि, निर्जीवाक्षराणि	
फ	उत्तरोष्ठः	स्पृष्टप्रयत्नः	विवारश्वासाघोषमहाप्राणाः	ओष्ठ्यः	पवर्ग्यः				वर्ग्याश्च		वर्णाः, अक्षराणि
ब	उत्तरोष्ठः	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषाल्पप्राणाः	ओष्ठ्यः	पवर्ग्यः		पवर्गः				
भ	उत्तरोष्ठः	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषमहाप्राणाः	ओष्ठ्यः	पवर्ग्यः						
म	उत्तरोष्ठनासिकम्	स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषाल्पप्राणाः	ओष्ठ्नासिक्यः	पवर्ग्यः	अनुनासिकः					
य	तालु	ईषत्स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषाल्पप्राणाः	तालव्यः							
र	मूर्धा	ईषत्स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषाल्पप्राणाः	मूर्धन्यः			अन्तस्थाः				
ल	दन्ताः	ईषत्स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषाल्पप्राणाः	दन्त्यः							
व	दन्ताः	ईषत्स्पृष्टप्रयत्नः	संवारनादघोषाल्पप्राणाः	दन्त्यः							
श	तालु	विवृतप्रयत्नः	विवारश्वासाघोषमहाप्राणाः	तालव्यः				अवर्ग्याः			
ष	मूर्धा	विवृतप्रयत्नः	विवारश्वासाघोषमहाप्राणाः	मूर्धन्यः			ऊष्माणः				
स	दन्ताः	विवृतप्रयत्नः	विवारश्वासाघोषमहाप्राणाः	दन्त्यः							
ह	कण्ठः	विवृतप्रयत्नः	विवारश्वासाघोषमहाप्राणाः	कण्ठ्यः							
अः	कण्ठः	अस्पृष्टं स्थितम्	विवारश्वासाघोषमहाप्राणाः	कण्ठ्यः							
ᳵक	जिह्वामूलम्	अस्पृष्टं स्थितम्	विवारश्वासाघोषमहाप्राणाः	जिह्वामूलीयः							
ᳶप	उत्तरोष्ठः	अस्पृष्टं स्थितम्	विवारश्वासाघोषमहाप्राणाः	ओष्ठ्यः							
अं	नासिका	अस्पृष्टं स्थितम्	संवारनादघोषमहाप्राणाः	नासिक्यः							
हुँ	नासिका		संवारनादघोषमहाप्राणाः	नासिक्यः					अयोगवाहाः		
कुँ	नासिका		विवारश्वासाघोषाल्पप्राणाः	नासिक्यः							
खुँ	नासिका		विवारश्वासाघोषमहाप्राणाः	नासिक्यः							
गुँ	नासिका		संवारनादघोषाल्पप्राणाः	नासिक्यः							
घुँ	नासिका		संवारनादघोषमहाप्राणाः	नासिक्यः							

उदयनाचार्य

(संस्थापक एवं अध्यक्ष : निगम-नीडम्)
फोन : ०९४४०७२१९५८

जन्मस्थान : भार्गवपुरम् (हुस्नाबाद)
करिनगर, तेलंगाणा

जन्मतिथि : १६-०७-१९७०

माता : श्रीमती स्वराज्यलक्ष्मी जी

पिता : श्री लक्ष्मीनारायण जी

प्रेरक - श्री आचार्य वेदव्रत मीमांसक जी (स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती)

शास्त्रीयाध्ययन - श्री आचार्य स्वदेश जी (मथुरा) से व्याकरण का शुभारम्भ। श्री आचार्य वेदपाल सुनीथ जी (तिलोरा, अजमेर) से काशिका पर्यन्त अध्ययन। श्री आचार्य विजयपाल विद्यावारिधि जी (पाणिनिमहाविद्यालय, रेवली, सोनीपत) से शिक्षा, व्याकरण आदि सभी वेदाङ्गों एवं वेदोपाङ्गों (दर्शनों) के साथ सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का अध्ययन। श्री आचार्य वासुदेव रामचन्द्र पराञ्जपे जी (मैसूर) से शाबर भाष्यसहित पूर्वमीमांसा दर्शन, श्री पण्डितरत्न म.म.के.एस्. वरदाचार्य जी (मैसूर) से नव्यन्याय (तर्कसंग्रह, न्यायसिद्धान्त मुक्ता-वली) का अध्ययन किया।

अध्यापन - आन्ध्रप्रदेश में निगम-नीडम् (साङ्गोपाङ्वेदमहाविद्यालय) की स्थापना कर सन् २००४ से सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का अध्यापन कार्य कर रहें हैं।

लेखन कार्य - शिक्षा-शास्त्रम्, पाणिनीय-शिक्षा, हितोपदेशः, गोदानविधिः, वैदिक पर्वपद्धति-नववर्षेष्टि, नया वर्ष कब? एवं अनेकों शोधलेख। इसी प्रकार तेलुगुभाषा में भी अभीतक सात पुस्तकें प्रकाशित हैं और अन्य प्रकाशनाधीन हैं।